वैदिकसूक्तसङ्कलन



डॉ० विजय शङ्कर पाण्डेय

वैदिकसूक्तसङ्कलन

व्याख्याकार

डॉ॰ विजय शङ्कर पाण्डेय
रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
जी. एस. एस. पी. जी. कालेज
कोयलसा, आजमगढ़
(पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय)
जौनपुर

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली : वाराणसी : पटना : चेन्नई
कलकत्ता : बंगलोर : पुणे : मुम्बई

प्रथम संस्करण : १९९६
द्वितीय संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण : २००१

मोतीलाल बनारसीदास
४१ यू० ए० बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ११० ००७
२३६ नाइंथ मेन III ब्लाक, जयनगर, बंगलौर ५६० ०११
सनास प्लाजा, १३०२ बाजीराव रोड, पुणे ४११ ००२
८ महालक्ष्मी चैम्बर, वार्डेन रोड, मुम्बई ४०० ०२६
१२० रायपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, चेन्नई ६०० ००४
८ केमेक स्ट्रीट, कलकत्ता ७०० ०१७
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
चौक, वाराणसी २२१ ००१

मूल्य : रु. ७०.००

नरेन्द्रप्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, दिल्ली - ११०००७
द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस,
ए-४५ नारायणा, फेज-१, नई दिल्ली ११००२८ द्वारा मुद्रित

अनुक्रम

आमुख

वेद विश्वज्ञान कोश है। हर भारतवासी को वेदों से परिचित होना परमावश्यक है। वेदों के कारण ही हमारा देश विश्व का आध्यात्मिक गुरु कहलाने का श्रेय प्राप्त कर सका है। विश्व-क्षितिज पर ज्ञानालोक की प्रथम किरण इसी वेद के रूप में अवतरित होकर अपनी अनुपम छटा से सम्पूर्ण मानवता को चकाचौंध कर रही है।

आधुनिक युग तो अर्थप्रधान हो गया है। इस आपाधापी में वैदिक ज्ञान-विज्ञान धूल धूसरित हो गया है। किसी को भी इसकी गरिमा को पुनर्जीवित करने का अवकाश नहीं है। यद्यपि वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन दोनों ही कार्य दुरूह तथा पवित्र माना जाता है। इससे श्रेयस् और प्रेयस् दोनों तत्त्व प्राप्त होते हैं, परन्तु कठोपनिषद् की "न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्" वाली उक्ति साम्प्रतिक समाज में पूर्णतः चरितार्थ होती हुई दिखलाई पड़ रही है। वास्तव में आध्यात्मिक मार्ग पर चलना अनन्त जन्मों के पुण्यों का फल है। जो लोग इस पथ पर अग्रसर हैं, वे सचमुच बड़भागी हैं।

प्रस्तुत संकलन इसी उद्देश्य की पूर्ति की दिशा में एक लघु प्रयास है। भारतवर्ष के सभी विश्वविद्यालयों के संस्कृत-विभाग के मनीषियों ने स्नातक कक्षा में वेदों के कतिपय सूक्तों को पाठ्यक्रम के अन्तर्गत स्थान दिया है, जिससे विद्यार्थी वेदों के सामान्य स्वरूप से परिचय प्राप्त कर सकें। यद्यपि आज संस्कृत भाषा पढ़ने वाले विद्यार्थी अल्पसंख्यक हो गये हैं। फिर भी जो लोग संस्कृत के अध्ययन में सतत प्रयत्नशील हैं, उन पर ईश्वरीय कृपा की वर्षा अवश्य हो रही है।

इस संकलन में पूर्वाञ्चल, गोरखपुर, इलाहाबाद, अवध तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आदि विश्वविद्यालयों का पाठ्यक्रम समाहित किया गया है। पुस्तकों में विद्यार्थियों के हितों का पूर्णतः ध्यान रखा गया है। वेदों के स्वरूप से परिचित होने के इच्छुक विद्वज्जन भी इससे लाभान्वित हो सकते हैं, ऐसी आशा है।

अन्त में मैं अपने विद्यार्थियों को ही यह पुस्तक समर्पित कर रहा हूँ, साथ ही अध्यापकों तथा संस्कृतानुरागियों से भी निवेदन करते हुए यह आशा करता हूँ कि संशोधन सम्बन्धी अपने अमूल्य सुझावों से मुझे अवगत कराने की कृपा करेंगे, जिससे आगामी संस्करण और श्रेयस्कर बन सके।

विनयावनत
विजय शङ्कर पाण्डेय

नागपञ्चमी
संवत् २०५७

भूमिका

वेद शब्द का अर्थ

वेद शब्द के अर्थ के विषय में अनेक विचार प्राप्त होते हैं। असुन् प्रत्ययान्त वेद शब्द का अर्थ 'धन' है। यह शब्द ऋग्वेद संहिता में अनेक बार आया हुआ है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति की प्रस्तावना में आचार्य विष्णुमित्र ने वेद शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है- 'विद्यते ज्ञायते लभ्यते वैभिर्धमादिपुरुषार्थ इति वेदः' अर्थात् जिसके द्वारा धर्मादि चारो पुरुषार्थ प्राप्त किये जाते हैं, वह ज्ञान ही वेदशब्दवाच्य है। आचार्य सायण ने तैत्तिरीय भाष्यभूमिका में वेद के विषय में स्पष्ट कहा है-'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकम् उपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।' अर्थात् जो ग्रन्थ इष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा अनिष्ट वस्तु के परिहार के कारणभूत अलौकिक उपाय को बतलाता है वह वेद है। मनुस्मृतिकार धर्म के ज्ञान के परम प्रमाण के रूप में वेद की सत्ता को ही स्वीकारते हैं–

"धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।।"

वेद शब्द को स्पष्ट करते हुए तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है–

"वेदेन वै देवाः असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दन्त तद् वेदस्य वेदत्वम्" वेद के द्वारा ही देवताओं ने असुरों की सम्पत्ति को प्राप्त कर लिया, यही वेद का वेदत्व है।

अन्तोदात्त वेद शब्द का अर्थ 'दर्भमुष्टि' तथा आद्युदात्त वेद शब्द का अर्थ 'ज्ञान' है। परन्तु वेद शब्द ज्ञान का पर्याय होते हुए भी आध्यात्मिक या पारलौकिक ज्ञान का साधन माना गया है। इहलौकिक ज्ञान को ज्ञान ही कहा जाना चाहिए। सायणाचार्य के अनुसार जो ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों से नहीं प्राप्त हो सकता वह वेद से सहज ही प्राप्त हो जाता है–

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विन्दन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता।।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ज्ञान, सत्ता, लाभ तथा विचार इन चारों अर्थों के वाचक 'विद्' धातु से वेद शब्द की व्युत्पत्ति स्वीकार की है। 'विद् धातु से करण तथा अधिकरण दोनों ही अर्थों में धञ् प्रत्यय लगने पर वेद शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार वेद शब्द का अर्थ है-जिस ज्ञान से सभी मनुष्य सभी सत्य विद्याओं को जानते हैं; जिससे सम्पूर्ण चराचर जगत् स्थित है; जिससे लौकिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त होते हैं तथा जिससे ग्राह्य एवं त्याज्य का विचार किया जाता है, वह वेद है।

इस प्रकार भारतीय आस्तिक परम्परा के आधार पर यह निर्विवाद सत्य है कि वेद शब्द का अभिधेयार्थ 'ज्ञान' है, तथा सम्पूर्ण-विश्व को ज्ञानालोक से आलोकित करने का प्रथम श्रेय

वैदिक वाङ्मय को ही है। श्रीमद्भागवतमहापुराण तो वेद को साक्षात् नारायण का स्वरूप मानता है–

वेदप्रणिहितो धर्मः ह्यधर्मस्तद्विपर्ययेः।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुमः।।

वेदवाची शब्द

वेद के पर्यायवाची शब्दों में श्रुति, आम्नाय, त्रयी, छन्दस्, स्वाध्याय, आगम और निगम मुख्य हैं, यहाँ इन शब्दों के अर्थ के विषय में विवेचन करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

'श्रुति' शब्द का अर्थ है श्रवण किया हुआ। यह शब्द 'श्रु' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगकर बना हुआ है। वेदों को प्राचीन काल में गुरुपरम्परा से शिष्यगण सुनकर याद करते थे, इसीलिए 'वेद' को 'श्रुति' कहा गया है। निरुक्त में मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के लिए 'श्रुति' शब्द का प्रयोग मिलता है। वेद के लिए 'अनुश्रव' शब्द भी श्रुति का समानार्थी है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार वेद को श्रुति इसीलिए कहा जाता है कि लोग इससे सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान को सुनते हैं। इनके अनुसार केवल मन्त्रभाग ही 'श्रुति' है।

वेद को 'आम्नाय' भी कहा गया है। 'आम्नाय' पद आ उपसर्ग पूर्वक 'म्ना' अभ्यासे धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ है– जो ग्रन्थ अभ्यास के द्वारा कथित हो, वह आम्नाय कहलाता है। गुरुमुख द्वारा बार-बार अभ्यास कराये जाने के कारण वेदों को आम्नाय कहा जाता है। यास्क ने मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के लिए आम्नाय शब्द का प्रयोग किया है। 'त्रयी' शब्द भी वेद का समानार्थक है। वास्तव में 'ऋक्', 'यजुष्' और 'साम' को ही त्रयी कहते हैं, परन्तु इससे ऐसा समझना भ्रमपूर्ण होगा कि अथर्ववेद त्रयी नहीं है। क्योंकि अथर्ववेद में भी ऋक् और यजुष् हैं। ऋक्, यजुष् और साम का अर्थ ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ही नहीं समझना चाहिए। ऋक् तो ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी हैं। इसी प्रकार यजुष् अथर्ववेद में भी हैं। जिन मन्त्रों में 'पाद-व्यवस्था' हो वे ऋक् हैं तथा गद्यमय मन्त्र ही यजुष् हैं। षड्गुरुशिष्य ने सर्वानुक्रमणी की वृत्ति में वेद की चारों संहिताओं को त्रयी माना हैं। वेद के पर्याय के रूप में 'छन्दस् या छन्द' शब्द का भी अनेक ग्रन्थों में प्रयोग प्राप्त होता है। अष्टाध्यायी में 'बहुलं छन्दसि' सूत्र अनेक बार आया है। जिसमें छन्दसि शब्द का 'अर्थ वेद में' है। निरुक्त के रचयिता यास्काचार्य ने 'छन्द् आच्छादने' धातु से इस शब्द को निष्पन्न माना है। यास्क के निर्वचन का आधार मैत्राणयी संहिता, तैत्तिरीय संहिता, छान्दोग्य ब्राह्मण एवं 'जैमिनि ब्राह्मण', आदि वैदिक ग्रन्थ ही हैं। शतपथ ब्राह्मण में छन्दस् शब्द का निर्वचन 'छन्द प्रीणने' धातु से किया गया है। छन्द का अर्थ है बन्धन। निश्चित नियम में बँधे हुए शब्द-समूह को छन्दस् कहते हैं। कुछ विद्वान् पूजा अर्थ में पठित 'छन्द' या 'छद्' धातु से छन्दस् शब्द को निष्पन्न मानते हैं। इनके अनुसार वेद-मन्त्रों को 'छन्दस्' इसलिए कहा जाता है कि इन्हीं के द्वारा देवताओं की पूजा होती है, अथवा हमारे द्वारा पूजनीय होने के कारण भी वेद छन्दस् हैं। वेद के स्वरूप के विषय में जब से "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" की धारणा प्रबल हुई तब से छन्दस् के द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों का भी ग्रहण किया जाने लगा। पाणिनि ने मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लिए छन्दस् शब्द का प्रयोग किया है। परवर्ती आचार्यों ने कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों में भी छन्दत्व स्वीकार किया है।

'स्वाध्याय' शब्द का अर्थ भी वेद ही है। **"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** (तैत्तिरीय आरण्यक २/१५), **'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'** (तै. उ. १/११/१) आदि वेद वाक्यों में स्वाध्याय शब्द का अर्थ वेद ही है। मनुस्मृति में स्पष्टतः कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन द्विजातियों के लिए वेद का स्वाध्याय अपरिहार्य है, अतः स्वाध्याय का अर्थ भी वेद हो गया। उस समय वेदातिरिक्त कोई विषय स्वाध्याय के लिए स्वीकृत नहीं था। 'पस्पशाह्निक' में "रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्" इस वाक्य में आगम शब्द वेद के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुआ है। सांख्य-कारिका की छठीं कारिका में ईश्वर कृष्ण ने "तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तामगात्" के द्वारा भी मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के लिए आगम शब्द का प्रयोग किया है। स्मर्तव्य है कि कालान्तर में 'तन्त्र' के लिए एवं एक विशेष प्रकार के धार्मिक सम्प्रदाय के साहित्य के लिए भी 'आगम' शब्द का प्रयोग होने लगा, जैसे शैव आगम, वैष्णव आगम, जैन आगम एवं बौद्ध आगम आदि। वेद के लिए 'निगम' शब्द का प्रयोग भी प्रायः किया जाता है। यास्क ने निरुक्त में जितने उदाहरण वेदों से दिये हैं, उनमें प्रायः सर्वत्र निगम शब्द का प्रयोग किया है 'निगम' शब्द उन स्थलों पर वेद का ही वाचक है। आगम एवं निगम दोनों ही पद-रचना एवं अर्थ की दृष्टि से लगभग समान ही हैं। अन्तर मात्र 'आ' और 'नि' उपसर्गों का है। 'आ' का अर्थ है 'मर्यादा', 'सीमा' और 'नि' का अर्थ है निश्चित रूप से। इस प्रकार जो ग्रन्थ सब ओर से ऐहिक तथा आमुष्मिक सुख को प्राप्त करावे वह आगम तथा जो ग्रन्थ निश्चित रूप से ऐहिक तथा आमुष्मिक सुख की प्राप्ति के साधनभूत उपायों का ज्ञान करावे उसे निगम कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वेद के वाचक अनेक शब्द कालान्तर में प्रयुक्त होने लगे थे।

वेद का महत्त्व

वैदिक संहिताओं में वेद शब्द दो प्रकार के पाये जाते हैं-अन्तोदात्त एवं आद्युदात्त। अन्तोदात्त 'वेद' शब्द 'विद्लृ' लाभे धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ 'धन' है। आद्युदात्त वेद शब्द 'विद्' जाने धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ ज्ञान है। विश्व-वाङ्मय के इतिहास में प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में वेदों की प्रतिष्ठा विश्वविदित है। यही वेद सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत है। इसे ही आधार बनाकर परवर्ती काल में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई, जो सम्पूर्ण विश्व में ज्ञानालोक प्रसारित करके विश्व के प्रत्येक देश को ज्ञान से आलोकित कर रहा है। वेदों के गम्भीर अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व के सभी प्रकार के ज्ञान का मूलस्रोत वेदों में निहित है।

भारतीय परम्परानुसार 'वेद' शब्द किसी एक ग्रन्थ का वाचक न होकर सम्पूर्ण अलौकिक ज्ञान का वाचक है। आनन्दतीर्थ ने अपने 'विष्णुतत्त्वनिर्णय' में 'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति प्रदर्शित करने वाला अधोलिखित सन्दर्भ उद्धृत किया है-

नेन्द्रियाणि नानुमानं वेदा ह्येवैनं वेदयन्ति।
तस्मादाहुर्वेदा इति पिप्पलादश्रुतिः।।

अर्थात् जिस तथ्य को इन्द्रियों से तथा अनुमान प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, उसे वेद ही बतला सकते हैं। इसीलिए इसे वेद कहते हैं, ऐसा पिप्पलादश्रुति कहती है। क्षीरस्वामी ने

अमरकोश की टीका में कहा है-**'विदन्त्यनेन धर्मं वेदः'** अर्थात् जिसके द्वारा धर्म को जानते हैं, वह वेद है। 'सत्याषाढ श्रौतसूत्र' तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र' में लिखा है-'शब्दार्थारम्भमाणानां तु कर्मणां समाम्नायसमाप्तौ वेदशब्दः'। अर्थात् शब्दार्थ (शब्दप्रमाण) के द्वारा प्रारम्भ किये जाने वाले कर्मों का तथा उनकी समाप्ति का जिसके द्वारा उपदेश होता है, उसके लिए वेद शब्द प्रयुक्त किया जाता है।

वेद की प्रशंसा करते हुए मनु ने कहा है कि-

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

-मनु. १२/१०२

अर्थात् वेद एवं शास्त्रों के तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति जिस किसी भी आश्रम में निवास करता हुआ अपने धर्म का पालन करता है, वह इसी लोक में रहता हुआ भी ब्रह्मसाक्षात्कार का भागी बनता है। वेदों के अध्ययन को जब हमारे महर्षियों ने इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया है, तब वेदाध्ययन ब्राह्मण का आवश्यक एवम् अनिवार्य कर्म होना चाहिए। इसीलिए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मो षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' लिखकर ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन की अनिवार्यता प्रतिपादित की है। मनु ने तो स्पष्ट शब्दों में उद्घोषणा की है कि जो द्विज वेदों का अध्ययन न करके अन्यत्र श्रम करता है, वह जीवित रहता हुआ भी अपने सम्पूर्ण वंशजों सहित शूद्र हो जाता है-

योऽनधीत्य द्विजो वेदान् अन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।।

-मनु. २/१६८

धार्मिकता की दृष्टि से वेदों का सर्वाधिक महत्त्व है। वेदों के अध्ययन से ही हम अपने पूर्वजों की जीवनप्रणाली के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। हमारे पूर्वज किन देवताओं की उपासना करते थे, किस प्रकार परमसत्ता को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ-यागादि किया करते थे, इन सभी तथ्यों का सम्यक् ज्ञान वेदों के अनुशीलन से ही हो सकता है। सभी भारतीय दर्शनों का मूलस्रोत वेदों में उपनिबद्ध है। उपनिषद्-साहित्य वैदिक-साहित्य का प्राण है; जो सदैव परब्रह्म के विवेचन को ही अपना विवेच्य बनाकर संसार का उपकार कर रहा है। शंकर का अद्वैत, रामानुज का विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क का द्वैताद्वैत, मध्वाचार्य का द्वैत, बल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत एवं चैतन्य महाप्रभु का अचिन्त्यभेदाभेद आदि मतमतान्तरों का मूलस्रोत हमारे उपनिषद् ग्रन्थ ही हैं।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वेदों का अध्ययन अपना अप्रतिम महत्त्व रखता है। उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल में भाषा-विज्ञान की प्रतिष्ठा के मूल में वैदिकभाषा ही विशेष योगदान करती रही। उसके पूर्व यूरोपीय भाषाशास्त्रियों ने ग्रीक एवं लैटिन भाषा को मूलभाषा के रूप में स्वीकार करने के कारण आपसी मतभेद को जन्म दे दिया था। ईसाईयों ने तो हिब्रू (यहूदी) भाषा को ही मूलभाषा के रूप में स्वीकार किया था। किन्तु जब यूरोपीय विद्वानों का परिचय भारत से, विशेषकर संस्कृत भाषा से हुआ, तब उन सबका आपसी मतभेद समाप्त हो गया। सभी विद्वानों

ने एकमत से संस्कृत (वैदिक) को सभी भारोपीय भाषाओं के मूलरूप में स्वीकार किया। इस प्रकार भाषा-विज्ञान के सफल एवं क्रमबद्ध अध्ययन के लिए वैदिक साहित्य का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि वेद विश्वज्ञान का भण्डार है, मानव सभ्यता का दर्पण है एवं भारतीयों का परमपूज्य ग्रन्थरत्न है। इसीलिए इसे 'वेद भगवान्' की संज्ञा प्राप्त हुई है। इसके महत्त्व का जितना वर्णन किया जाय सब थोड़ा ही है।

वेद के विभाग

सभी वेदों के मुख्य चार विभाग हैं- (१) संहिता (२) ब्राह्मण (३) आरण्यक (४) उपनिषद्। यहाँ संहिता का अर्थ है-वह ग्रन्थ जिसमें वेदमन्त्र संकलित किये गये हैं। ऋक्, यजुष्, साम तथा अथर्व (अथर्वन्) रूपात्मक मन्त्रों के चारो संकलन ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद ही संहिता के नाम से कहे जाते हैं।

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के अनुसार 'पद है प्रकृति जिसकी वह संहिता है', अथवा 'पदों की प्रकृति संहिता है' इन दोनों व्याख्याओं के अनुसार इतना तो निश्चित कहा जा सकता है कि पदों की 'संहिति' को ही संहिता कहते हैं। 'वाजसनेयि-प्रातिशाख्य' के अनुसार वर्णों का एक श्वास में उच्चारण ही संहिता कहलाता है। पाणिनि के अनुसार वर्णों की आत्यन्तिक सन्निकटता की संज्ञा संहिता है। संहिता-ग्रन्थों की संख्या चार है। जिस ग्रन्थ में विभिन्न ऋषियों द्वारा दृष्ट-ऋक् मन्त्रों का संकलन किया गया है उसे ऋग्वेद-संहिता; जिस ग्रन्थ में यज्ञ-यागादि में प्रयुक्त होने वाले यजुष् मन्त्रों का संकलन किया गया उसे यजुर्वेद-संहिता, जिस ग्रन्थ में यज्ञ-यागादि में गाये जाने वाले साममन्त्रों का संकलन हुआ है, उसे सामवेद-संहिता एवं शान्तिक तथा पौष्टिक कार्यों से सम्बन्धित मन्त्रों का जो संकलन तैयार किया गया, उसे अथर्ववेद-संहिता कहा गया। यहाँ एक बात विशेष रूप से स्मरण करने योग्य है कि यद्यपि ऋक्-लक्षण पद्यात्मक मन्त्र चारों संहिताओं में प्राप्त होते हैं, फिर भी जिस संकलन में केवल ऋक्मन्त्रों (ऋचाओं) का ही संकलन हो, उसे ऋग्वेद-संहिता कहते हैं। जिस संकलन में यजुष् मन्त्रों की अधिकता हो साथ ही कतिपय ऋक्-लक्षणयुक्त मन्त्र भी गद्य रूप में पढ़े जाते हों, वह संकलन यजुर्वेद-संहिता कहलाता है। इसी प्रकार स्तोम एवं गान के आधारभूत कतिपय ऋचाओं एवं स्तोम-लक्षण कतिपय मन्त्रों के साथ ही जिसमें 'साम' का ही संकलन प्राधान्य प्राप्त कर चुका हो उसे, सामवेद-संहिता कहते हैं। इस प्रकार पद्य, गद्य एवं साम के आधार पर जो संहितायें संकलित की गईं उनका नामकरण तो हो गया, परन्तु चतुर्थ संकलन का नामकरण क्या हो, इस समस्या का समाधान उन मन्त्रों के द्रष्टा अथर्वा और अंगिरा ऋषियों के नाम से 'अथर्वांगिरस् संहिता' अथवा अथर्ववेद-संहिता नाम रखकर कर लिया गया है। प्रत्येक वेद की अनेक शाखायें थीं। इस प्रकार यह सम्भावना की जाती है कि प्रत्येक वेद की जितनी शाखायें थीं उतनी ही संहितायें भी रही होंगी। महाभाष्यकार के अनुसार ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० एवं अथर्ववेद की ९ शाखायें थीं। अतः कुल मिलाकर संहिताओं की संख्या भी ११३१ रही होंगी, परन्तु आजकल ऋग्वेद की एक शाकल शाखा की संहिता, कृष्णयजुर्वेद की ४, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक एवं कठ कपिष्ठल

शाखा की संहितायें, शुक्लयजुर्वेद की २ माध्यन्दिन एवं काण्व शाखा की संहितायें सामवेद की केवल ३, कौथुम, राणायनीय एवं जैमिनीय शाखाओं तथा अथर्ववेद की संहितायें ही प्राप्त होती हैं।

संहितागत मन्त्रों के व्याख्यापरक ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाते हैं। इन ग्रन्थों में संहितागत मन्त्रों की व्याख्या के साथ ही उनका विविध याज्ञिक कर्मों में विनियोग भी बतलाया गया है। 'ब्रह्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं, जिनमें 'मन्त्र' और 'यज्ञ' अर्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में मन्त्रों की व्याख्या के साथ ही साथ यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्याख्या तथा उनका सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना मुख्य उद्देय समझा गया है। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत की गई है। विश्व-साहित्य में गद्य का आविर्भाव तो यजुर्वेद से ही हो गया था परन्तु उसे परिष्कार मिला है ब्राह्मणग्रन्थों में। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विविध प्रकार की ललित कथाओं के माध्यम से यज्ञ में होने वाले विविध कर्मकाण्डों का औचित्य समझाने का सफल प्रयास किया गया है। सभी ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्यमय हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ का विधान कब किया जाय, कैसे किया जाय, उनमें कौन-कौन से साधन आवश्यक हैं, उन यज्ञों के अधिकारी कौन हैं इत्यादि विषयों को सुलझाने का प्रयास भी किया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान विवेच्य विषय है– विधि। स्थान-स्थान पर अनेक आख्यान प्रस्तुत करके यजमानों के अन्तःकरण में यज्ञ के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना भी ब्राह्मण-ग्रन्थों का एक प्रयोजन है। यत्र-तत्र कतिपय शब्दों का निर्वचन करके ये ब्राह्मण ग्रन्थ अपने उद्देश्य-सिद्धि में सफल हुए हैं। सभी संहिताओं के अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

जिन ग्रन्थों का प्रणयन विशेष रूप से अरण्य में पढ़ने के लिए किया गया था वे आरण्यक कहलाये। आरण्यक ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ न होकर उनके अन्तर्गत विद्यमान आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा है। प्राणविद्या की भी महत्ता इन आरण्यक ग्रन्थों में प्रतिपादित की गई है। आरण्यक एवं उपनिषद् ग्रन्थों को ब्राह्मणग्रन्थों का परिशिष्ट भी कह सकते हैं।

भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान-धारा को सरल प्रवाही रूप में प्रस्फुटित करने का गौरव उपनिषद् साहित्य को ही प्राप्त हुआ है। वेद का अन्तिम भाग होने से एवं संहिता-ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के सारभूत तत्त्वज्ञान को प्रतिपादन करने के कारण ही उपनिषदों को वेदान्त भी कहते हैं। उपनिषदों की गणना प्रस्थानत्रयी में की जाती है। गीता तथा ब्रह्मसूत्र के उपजीव्य ग्रन्थ उपनिषद् ही हैं। उपनिषद् वाङ्मय भारतीय-संस्कृति के आध्यात्मिक चिन्तन का चरम निदर्शन है। दाराशिकोह जैसे इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने भी उपनिषदों को अपने अध्ययन का प्रधान विषय बनाया है। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में भी उपनिषद् विश्व के अध्यात्म-गुरु का स्थान प्राप्त कर चुके हैं।

'उपनिषद्' शब्द 'उप' एवं 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'नाश होना', 'जाना', या 'जानना' तथा शिथिल होना अर्थों वाली 'षद्लृ' धातु से निष्पन्न है। इस प्रकार उपनिषद् वह विद्या है जिसके अनुशीलन से मोक्षार्थिजनों के सांसारिक आवागमन के कारण भूत अविद्या का नाश हो जाता है, मुमुक्षुजन ब्रह्म के समीप पहुँच जाते हैं तथा उनके जन्ममरण के बन्धन सदा-सदा के लिए शिथिल हो जाते हैं। इस शब्द की एक प्रकार की व्युत्पत्ति और की जाती है। उसके अनुसार 'उप' का

अर्थ समीप, 'नि' का अर्थ निःशेष भाव एवं 'सद्' धातु का अर्थ बैठना है। इस प्रकार उपनिषद् का अर्थ हुआ– 'वह ज्ञान जो गुरु के समीप बैठकर निःशेष रूप से अर्थात् साकल्येन प्राप्त किया जाता है।' वस्तुतः प्राचीनकाल में जिज्ञासुजन ऋषियों के पास श्रद्धावनत होकर मानसिक कलुषता का त्याग करके निर्विकार चित्त होकर बैठते थे, और गुरुमुख से उपनिषदों का प्रवचन सुनकर अपने जीवन को कृतकार्य करते थे।

उपनिषदों की भाषा में गद्य तथा पद्य दोनों ही हैं। इनमें ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाँति स्वरों **(Accents)** के चिह्न भी दृष्टिगोचर होते हैं।

वेदों के उपर्युक्त चतुर्धा विभाग का एक विशेष कारण भी है। भारतीय संस्कृति के अनुसार हमारा सम्पूर्ण जीवन चार आश्रमों में विभाजित था- (१) ब्रह्मचर्य (२) गृहस्थ (३) वानप्रस्थ एवं (४) संन्यास। इन आश्रमों का वर्ष-विभाजन भी किया गया था। सामान्यतः प्रारम्भ से २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम, उसके बाद ५० वर्ष की अवस्था तक गृहस्थाश्रम तत्पश्चात् ७५ वर्ष की अवस्था तक वानप्रस्थ आश्रम और शेष आयु संन्यास आश्रम में व्यतीत करने का विधान था। ब्रह्मचर्य आश्रम में संहिता-ग्रन्थों का पढ़ना एवं कण्ठाग्र करना विहित था। गृहस्थाश्रम में ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए यज्ञ-यागादि करने का विधान था। वानप्रस्थाश्रम में पति-पत्नी को पुत्रों पर परिवार का भार सौंपकर जङ्गल में जाकर आरण्यक-ग्रन्थों का अध्ययन एवं तदनुरूप कार्य करना पड़ता था। जीवन की अन्तिम अवस्था में संन्यास ग्रहण करके केवल आध्यात्मिक सुधा-धारा का पान करने के लिए उपनिषदों का अध्ययन, मनन एवं प्रवचन करते हुए लोकोपकार करने का विधान था।

वेदों का द्रष्टा ऋषि- वेदों की रचना किसने की, इस विषय में अत्यन्त विवाद होता आया है। भारतीय आस्तिक परम्परा वेद को अपौरुपेय अर्थात् ईश्वर-कृत मानती है। इसके अनुसार वेदों की रचना किसी मनुष्य ने नहीं की। वेद ईश्वर द्वारा रचे गये हैं। वेदों के अपौरुषेयत्व को सामान्य रूप में नहीं स्वीकार किया जाना चाहिए, क्योंकि प्राकृतिक पदार्थों के अतिरिक्त अन्य जितने भी पदार्थ हैं, वे मानवकृत ही हैं। वेद भी प्राकृतिक पदार्थ नहीं हैं, अतः ये भी मानवकृत कहें जा सकते हैं। वेदों के अपौरुषेयत्व को लाक्षणिक अर्थ में ग्रहण करने से समस्या का कुछ हद तक समाधान हो जाता है। 'पुरुषसूक्त' की ऋचाओं में 'सर्वहुत्' यज्ञ रूप पुरुष से ऋचाओं, सामों, यजुषों एवं छन्दों के उत्पन्न होने की जो बात कहीं गई है उस तथ्य से यही संकेतित है कि 'ऋक्', 'साम', 'यजुष्' आदि मन्त्रों की उत्पत्ति परमेश्वर से होती है। मन्त्र तो ध्वनि का ही रूप है। ध्वनि आकाश का गुण है। आकाश नित्य है। अतः उसका गुण शब्द भी नित्य ही हुआ। उच्चारण के पूर्व शब्द अव्यक्तावस्था में रहता है। उच्चारण-प्रक्रिया से वह व्यक्त हो जाता है। यदि हम शब्दात्मक ज्ञान को नित्य मानते हैं, तो वेद भी शब्दात्मक होने से नित्य हुआ।

परन्तु आधुनिक तर्क प्रधान युग में कोई भी तथ्य तार्किक ढंग से प्रमाणित होने पर ही विश्वास-योग्य माना जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त तर्क के प्रत्युत्तर में यह भी कहा जा सकता है कि वेदों की भाँति अन्य लौकिक काव्य आदि को भी अपौरुषेय अथवा ईश्वरकृत मानना चाहिए। अतः उपर्युक्त तर्क में अतिव्याप्ति दोष है। दूसरी बात यह है कि वेदों में ही इस बात के प्रमाण भी अनेकत्र प्राप्त हो जाते हैं कि वेदों की रचना ऋषियों ने ही की–

ये च पूर्व ऋषयो ये च नूत्नाः इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः।

-ऋ. ७/२२/९

हे इन्द्र! जिन प्राचीन एवं अर्वाचीन मेधावी ऋषियों ने मन्त्रों को उत्पन्न किया था।

इसी प्रकार के अन्य अनेकों उदाहरण संहिता-ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वेदों की रचना किसी एक ऋषि ने नहीं की है। अतः एक ऋषि से सम्बन्धित न होने के कारण इसे अपौरुषेय कहा जाता है। पञ्च तो परमेश्वर होता है अर्थात् समष्टि को परमेश्वर का रूप माना जाता है, वेदों की रचना व्यक्ति द्वारा न होकर समष्टि द्वारा हुई है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि वेदों के उद्भवकाल से ही मानव सभ्यता का भी उद्भव हुआ है, अतः उस आदिम युग में इतना परिष्कृत विचार अवश्य ही ईश्वर की प्रेरणा से उद्भुत हुआ होगा। इसलिए भी वेद अपौरुषेय कहे जा सकते हैं। लौकिक काव्य तो किसी-न-किसी पुरुष को आधार बनाकर रचे गये हैं, परन्तु वेद प्राकृतिक शक्तियों को आधार बनाकर रचे गये हैं, प्राकृतिक शक्तियाँ मानवकृत न होकर शुद्ध ईश्वरकृत हैं, इसलिए भी वेद अपौरुषेय कहे जा सकते हैं।

वास्तव में तपस्यारत ऋषियों ने प्रकृति के सुरम्य वातावरण में कुछ अलौकिक घटनाओं का अनुभव किया। उन सभी घटनाओं के पीछे किसी-न-किसी शक्ति का आभास पाकर उन्हीं शक्तियों को विविध नाम देकर उनसे अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए एवं अनिष्ट के निवारण के लिए प्रार्थनायें कीं। ये प्रार्थनायें ही मन्त्र हैं। ऋषियों के मन में उन प्रार्थनाओं की स्फुरणा किसी-न-किसी दैवी शक्ति के माध्यम से हुई, अतः वेद ऋषिदृष्ट हुए। उन दैवी शक्तियों की प्रेरणा से ऋषियों के अन्तःकरण में भावोद्गम हुआ, जिसे, ऋषिजन शब्दों के माध्यम से प्रकट किये। अतः "ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः, न तु कर्तारः" कहा जाता है।

वैदिक देवता- पहले कहा जा चुका है कि वेदों के द्रष्टा ऋषि हैं। ऋषि ही वेदों के रचयिता भी कहलाते हैं। रचयिता का तात्पर्य रचनाकार न होकर ईश्वरीय प्रेरणा से मन्त्रों को ग्रहण करने वाला है। प्राचीनकाल में ये ऋषिगण प्रकृति की सुरम्य गोद में रहकर तपस्या किया करते थे। प्रकृति की विचित्र लीलाओं का साक्षात्कार भी उन्हें निरन्तर होता रहता था। उदाहरणार्थ-प्रातः काल पूर्व दिशा में स्वर्णमयी किरणों से युक्त लाल आभा-मण्डल से समन्वित सूर्य का उदय होना, सायंकाल रजतरश्मियों को प्रसारित करके जगत् को शीतलता का अनुभव कराने वाले चन्द्रमा का अमृत वर्षण किस व्यक्ति के अन्तःकरण को विस्मित नहीं करता है? इसी प्रकार वर्षा का होना, आँधी-तूफानों का आना, बादलों का गगनभेदी गर्जन, बिजली की कड़कड़ाहट आदि प्राकृतिक कार्य भी मानवमन में विस्मय पैदा कर देते हैं। वैदिक ऋषियों ने इन सारी वैचित्र्यपूर्ण घटनाओं के पीछे किसी-न-किसी दैवी शक्ति की कल्पना करके उनसे अपनी अभीष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के निवारणार्थ विविध प्रकार की प्रार्थनायें किया करते थे। वैदिक ऋषियों की धारणा थी कि संसार के समस्त कार्य और भिन्न-भिन्न प्राकृतिक घटनायें बिना देवानुग्रह के नहीं घटतीं। इस प्रकार अनेक घटनाओं के प्रेरक रूप में अनेक देवताओं की सत्ता प्रस्फुटित हुई। पाश्चात्य वैदिक विद्वानों की धारणा है कि देवता प्राकृतिक दृश्यों के नियामक हैं। वैदिक सूक्तों का अनुशीलन करने से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि ऋषि जिस देवता की स्तुति

करने लगता है, उस समय जितने भी दैवी गुण उसकी समझ में आते हैं, सबको वह ऋषि अपने आराध्य देव में आरोपित कर देता है। इन्द्र की स्तुति करते समय उसी को सर्वश्रेष्ठ मानकर अन्य देवताओं को उसी से उत्पन्न बतलाया गया है। इसी प्रकार वरुण के लिए रचे गये सूक्तों में वरुण को ही सबसे श्रेष्ठ तथा महत्त्वशाली कहा गया है। अन्य देवगण वरुण के शासन में रहकर अपने-अपने कार्यों का सम्पादन करते हैं। मैक्समूलर के अनुसार इस प्रकार के धर्मों की संज्ञा हीनोथीज्म अथवा केनोथीज्म है।

निरुक्तकार यास्क के अनुसार इस जगत् का नियमन अतिशय ऐश्वर्य से सम्पन्न एक महान् शक्ति द्वारा हो रहा है। यही शक्ति ईश्वर कहलाती है। वह एक है, अद्वैत है-

'माहाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति'।। -निरुक्त ४/७/८/९

यास्क के मतानुसार समस्त देवता एक ही परमदेव की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। बृहद्देवता भी इसी तथ्य को स्वीकार करती है। 'ऐतरेय आरण्यक' में कहा गया है कि एक ही महत् शक्ति की उपासना 'ऋग्वेदी' लोग उक्थ के रूप में, यजुर्वेदी लोग याज्ञिक अग्नि के रूप में तथा 'सामवेदी' लोग महाव्रत नामक याग के रूप में किया करते हैं-

'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः।'- ऐ० आ० ३/२/३/१२

ऋग्वैदिक युग में बहुदेववाद का प्रचार जोरों पर था। उस समय बहुत देवताओं की सत्ता में विश्वास किया जाता था। कालान्तर में वैदिक आर्यों का मानसिक विकास होने पर बहुत देवताओं के अधिष्ठान स्वरूप एक देव-विशेष की कल्पना की गई। जंगल में तपस्यारत ऋषि प्रकृति में दृश्यमाण जिस पदार्थ को अपने लिए अधिक उपयोगी समझता था, उनकी स्तुति में स्वयं को तल्लीन कर देता था। इसीलिए अग्नि को अति महत्त्वशाली देव मानकर सर्वप्रथम अग्नि की ही स्तुति सर्वाधिक मन्त्रों द्वारा की गई है। ऋग्वेद का लगभग चतुर्थांश अग्नि देवता की स्तुति से भरा पड़ा है। इतना ही नहीं अपितु ऋग्वेद का सर्वप्रथम शब्द भी 'अग्नि' ही है। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में सूर्य का महत्त्व भी अग्नि से न्यून नहीं है। इसका प्रबलतम प्रमाण यही है कि वेद का सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न एवं भारतीय-मनीषा का परम श्रद्धाभाजन 'सवितृ' (गायत्री) मन्त्र सूर्य देव के ही रूप-विशेष की स्तुति से समन्वित है। इस मन्त्र में ऋषि सवितृ देव से सद्बुद्धि की याचना करके अपने जीवन नौका को इस अथाह संसार-सागर से पार ले जाना चाहता है।

संहिता-ग्रन्थ

१. ऋग्वेद-संहिता- 'ऋग्वेद' सूक्तों का वेद है। सूक्त का अर्थ है-सुभाषित या उत्तम वचन। अर्थात् जिन मंत्रों में उत्तम वचन होते हैं, उनके समूह को सूक्त कहा गया है। वैदिक साहित्य की समस्त रचनाओं में ऋग्वेद संहिता सर्वाधिक प्राचीन, महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक है। इसमें किसी भी विद्वान् को किञ्चितमात्र भी विप्रतिपत्ति नहीं है। क्योंकि लगभग सम्पूर्ण सामवेद (७५ मन्त्रों को छोड़कर) और यजुर्वेद का पद्यात्मक अंश तथा अथर्ववेद के कतिपय अंश ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। ऋग्वेद संहिता को संक्षेप में 'ऋग्वेद' भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ छन्दोबद्ध है। छन्दोबद्ध या पद्यात्मक मन्त्रों को 'ऋक्' या 'ऋचा' कहते हैं-'ऋक्पादबद्धो भवतीह मन्त्रः' ऋचाओं का विशाल संग्रह ही ऋग्वेद संहिता है।

महाभाष्य में पतंजलि ने इस वेद की इक्कीस शाखाओं का निर्देश किया है-"एकविंशतिधा वाह्वर्च्यम्"। किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में केवल ५ शाखाओं का ही उल्लेख प्राप्त होता है। ये शाखायें हैं-शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, सांख्यायन और माण्डूकायन। किन्तु सम्प्रति एवं प्रचलित शाखा 'शाकल' है। इस शाखा की संहिता में कुल मिलाकर १०१७+११ (बालखिल्य)=१०२८ सूक्त हैं। इस ग्रन्थ में लगभग १०६०० ऋचायें हैं। शाकल-संहिता का विभाजन दो प्रकार से किया गया है।

(१) मण्डल क्रम- मण्डल, अनुवाक और सूक्त। जिसके अनुसार १० मण्डल, ८५ अनुवाक और १०२८ सूक्त हैं।

(२) अष्टक क्रम- अष्टक, अध्याय तथा वर्ग। इसके अनुसार ८ अष्टक, ६४ अध्याय तथा २००६ वर्ग हैं। वाष्कल शाखा भी जीर्ण-शीर्ण रूप में प्राप्त हुई है। परन्तु वह भी शाकल शाखा के समान ही है। स्मर्तव्य है कि शाखा शब्द का अर्थ सम्पूर्ण ग्रन्थ का अङ्ग नहीं है, अपितु एक प्रकार का पाठ एवं क्रम है। विभिन्न ब्राह्मणवंशों में संहिता ग्रन्थों का पाठ किञ्चिद् भिन्न रूप में होता था तथा मन्त्रों का क्रम भी कुछ भिन्न होता था। यही विभिन्नता शाखा नाम से अभिहित हुई।

ऋग्वेद की भाषा तथा विषय के गम्भीर विवेचन के उपरान्त विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ऋग्वेद के दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक के सूक्त अपेक्षाकृत प्राचीन हैं। पाश्चात्य विद्वान् इस अंश को 'वंश-मण्डल' के नाम से अभिहित करते हैं। इनमें प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध एक-एक ऋषि के साथ है। द्वितीय मण्डल के ऋषि गृत्समद, तृतीय के विश्वामित्र, चतुर्थ के वामदेव, पञ्चम के अत्रि, षष्ठ के भारद्वाज और सप्तम मण्डल के ऋषि वशिष्ठ हैं। नवम मण्डल के ऋषि इन्हीं ऋषियों में से हैं। प्रथम एवं अष्टम मण्डल समकालीन प्रतीत होता है। दशम मण्डल सर्वाधिक अर्वाचीन है। क्योंकि इस मण्डल के सूक्तों में स्थान-स्थान पर पूर्ववर्ती मण्डलों के सूक्तों का उल्लेख प्राप्त होता है। भाषा की दृष्टि से भी इस मण्डल को अन्य मण्डलों से अर्वाचीन सिद्ध किया जाता है।

अष्टम मण्डल के अन्त में प्राप्त ११ बालखिल्य सूक्तों को आधुनिक विद्वान् प्राचीनतम मानते हैं, परन्तु ये सूक्त संहिताओं में क्यों संकलित नहीं किये गये, यह विचारणीय है। डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने ऋग्वेद-संहिता के सूक्तों एवं मन्त्रों की मण्डलानुसार संख्या इस प्रकार निर्दिष्ट की है-

मण्डल	सूक्तसंख्या	ऋक्संख्या
प्रथम	१९१	२००६
द्वितीय	४३	४२९
तृतीय	६२	६१७
चतुर्थ	५८	५८९
पंचम	८७	७२७
षष्ठ	७५	७६५
सप्तम	१०४	८४१
अष्टम	९२	१६३६
नवम	११४	११०८
दशम	१९१	१७५४
	१०१७	१०४७२

११. बालखिल्य सूक्तों को मिला देने पर इनकी सूक्त-संख्या १०२८ तथा मंत्रसंख्या लगभग १०६०० हो जाती है।

ऋग्वेद की विषयवस्तु- ऋग्वेद का अर्थ है-ऋचाओं का वेद। छन्दोबद्ध मन्त्रों का ही नाम ऋक् या ऋचा है। वेद का अर्थ ज्ञान है। अतः ऋग्वेद का शाब्दिक अर्थ हुआ-ऋचाओं का ज्ञान। यद्यपि अन्य वेदों में भी ऋचाओं का संकलन हुआ है परन्तु ऋग्वेद में केवल ऋचाओं का ही संकलन है। ऋचाओं से देवताओं की स्तुति की जाती है। इस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रों को पढ़कर देवताओं की स्तुति करना ही इस वेद का मुख्य प्रयोजन है। किन्तु ऋग्वेद में देवस्तुति के साथ ही साथ ब्रह्मविद्या, धार्मिक विचार, व्यवहार एवं मान्यताओं के उद्घाटन भी प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश ऋग्वेद के अध्ययन से पड़ता है। ऋग्वेद में सृष्टि रचना, दार्शनिक विचार, वैवाहिक रीति-रिवाज, पशु-पक्षी तथा वृक्षों आदि से सम्बद्ध कुछ मन्त्र भी मिलते हैं। ऋग्वेद में कुछ संवाद सूक्त भी उपलब्ध होते हैं।

परन्तु सम्पूर्ण ऋग्वेद में मात्र ४० सूक्त इस प्रकार के उपलब्ध होते हैं, जिनमें उपरिकथित विषय अनुस्यूत हैं, अन्यथा ऋग्वेद देवताओं की स्तुतियों से सम्बन्धित मन्त्रों से पूरिपूर्ण ग्रन्थ है। प्रसिद्ध विद्वान् ओल्डेन वर्ग का कथन है कि यज्ञशाला में मन्त्रों के द्वारा पुरोहित अपने देवताओं का आह्वान करते थे। ये देवगण आकाश मार्ग से अश्वों एवं रथों पर आरुढ़ होकर घृत, मांस आदि हव्य ग्रहण करने के लिए और सोमपान करने के लिए आते थे। इसीलिए ओल्डेन वर्ग ने वेद को "Oldest document of indian literature and religion" कहा है। विन्टरनित्ज महोदय भी वेदों को क्रमिक संकलन का परिणाम मानते हुए कहते हैं कि कुछ मन्त्रों का निर्माण यज्ञों से पृथक् सर्वथा स्वतन्त्र मार्ग पर हुआ है। यद्यपि, बाद में यज्ञों के लिए भी कुछ मन्त्रों का निर्माण हुआ।

ऋग्वेद में हिन्दू धर्म के सभी तत्त्व मूलरूप में विद्यमान हैं। ऋग्वेद वस्तुतः हिन्दू धर्म और दर्शन की आधारशिला है। भारतीय कला एवं विज्ञान के उदय का संकेत भी यहीं पर प्राप्त होता है। विश्व के मूल में रहकर विश्व को नियंत्रित करने वाली मूल सत्ता के व्यक्त तथा अव्यक्त रूप में विश्वास, मन्त्र, यज्ञ आदि से उसके पूजन और यजन आदि मौलिक धार्मिक तत्त्व ऋग्वेद में पाये जाते हैं। इसी प्रकार तत्त्वों की जिज्ञासा, तत्त्वों के रूपकात्मक वर्णन, मानवजीवन की आकांक्षाओं, आदर्शों तथा मान्यताओं आदि पर ऋग्वेद के अध्ययन से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। दर्शन की मूल समस्याओं-ब्रह्म, आत्मा, माया, कर्म, पुनर्जन्म आदि के ज्ञान के स्रोत भी ऋग्वेद में प्राप्त हो जाते हैं। देववाद, एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, अद्वैतवाद आदि दार्शनिक वादों का बीज भी ऋग्वेद में ही दिखलाई पड़ता है।

२. यजुर्वेद-संहिता- जिस वेद में 'यजुषों' का संकलन है उसे यजुर्वेद कहा जाता है। 'यजुष्' का अर्थ है-गद्यात्मक मन्त्र। 'गद्यात्मको यजुः' या 'अनियताक्षरावसानो यजुः' ये वाक्य 'यजुष्' का लक्षण निर्दिष्ट करते हैं। यद्यपि इस वेद में भी ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों का संकलन है परन्तु वे मन्त्र कहीं-कहीं किञ्चित् परिवर्तन के साथ भी ग्रहण किये गये हैं। यह ग्रन्थ 'पद्धतिग्रन्थ' है जो पौरोहित्य प्रणाली में यज्ञक्रिया को सम्पन्न करने के लिए संगृहीत हुआ है।

'पद्धतिग्रन्थ' होने के कारण यह अध्ययन का सुप्रचलित विषय बन गया है। इसकी अनेक शाखाओं का संकेत प्राप्त होता है। महाभाष्यकार पतंजलि ने 'एकशतमध्वर्युशाखा' कहकर इसके १०१ शाखाओं की ओर संकेत किया है। यजुर्वेद में मानवमात्र को प्रशस्ततम कार्यों में प्रवृत्त कराने वाले मन्त्र संकलित है।

आजकल इसकी केवल दो संहितायें प्राप्त होती हैं- १. तैत्तिरीय एवं २. वाजनेयी। इन्हें क्रमशः कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेदीय-संहिता भी कहते हैं। कृष्ण-यजुर्वेद से सम्बन्धित ४ शाखाओं के नामों का उल्लेख प्राप्त होता है-कठ, कपिष्ठल, मैत्रायणी एवं तैत्तिरीय। शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व दो शाखाएँ उपलब्ध हैं। इस प्रकार विद्वानों ने यजुर्वेद के दो भेद स्वीकार किये हैं। अब संक्षेप में इनका निरूपण किया जा रहा है–

शुक्ल एवं कृष्ण यजुर्वेद- प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् मैकडानल के अनुसार 'शुक्लयजुर्वेद' स्पष्ट है, विषय की दृष्टि से निर्मल है, पाठक की बुद्धि को चमत्कृत कर आकृष्ट करता है फलतः वह शुक्लयजुर्वेद के नाम से अभिहित हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक तर्क इस वेद के शुक्लत्व के समर्थन में प्रस्तुत किये गये हैं– १. शुक्लयजुर्वेद-संहिता अधिक क्रमबद्ध होने से शुक्ल कहलाती है। २. इस संहिता में ब्राह्मणात्मक गद्य का सर्वथा अभाव है। दूसरी ओर कृष्ण-यजुर्वेद में मन्त्रात्मक गद्य-पद्य के साथ ही साथ ब्राह्मणात्मक गद्य का भी पर्याप्त समावेश है। ३. शतपथब्राह्मण के एक- "आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते" कथन से ज्ञात होता है कि वेद के आदित्य सम्प्रदाय का सम्बन्ध शुक्लयजुर्वेद से था तथा इसके अतिरिक्त ब्रह्मसम्प्रदाय का सम्बन्ध जिस वेद से था उसे 'कृष्ण' कहा गया।

डॉ. मंगलदेव शास्त्री के अनुसार भी मन्त्र और ब्राह्मण के सम्मिश्रण के कारण यजुर्वेद का एक भेद 'कृष्ण' कहलाया तथा सम्मिश्रण से रहित शुद्ध मंत्र होने के कारण द्वितीय भेद 'शुक्ल' नाम से अभिहित हुआ।

कृष्ण-यजुर्वेद में कहीं-कहीं काण्ड और प्रपाठक एक ही साथ वर्णित हैं।

शुक्ल-यजुर्वेद की संहिता का नाम है-'वाजसनेयिसंहिता'। परम्परानुसार मध्य दिन में इसका ज्ञान दिये जाने के कारण माध्यन्दिन-संहिता भी इस संहिता को कहा जाता है। इस सम्बन्ध में एक कथा विष्णुपुराण तथा वायुपुराण में प्राप्त होती है जो इस प्रकार है-वेदव्यास के शिष्य वैशम्पायन ने अपने २७ शिष्यों को यह वेद पढ़ाया। उनके सबसे मेधावी शिष्य याज्ञवल्क्य थे। वैशम्पायन के साथ एक कष्टप्रद घटना घटी। उनकी भगिनी की सन्तान उनकी घातक चोट से मर गई। वैशम्पायन ने इसके प्रायश्चित स्वरूप यज्ञ करने के लिए अपने शिष्यों को बुलाया। याज्ञवल्क्य ने उन अकुशल ब्राह्मणों का साथ देने से इनकार कर दिया, परिणामतः पारस्परिक कलह उत्पन्न हो गया। गुरु वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य से अपनी पढ़ाई हुई विद्या को वापस करने के लिए आदेश दिया। याज्ञवल्क्य ने अति शीघ्रता से गुरु द्वारा प्रदत्त 'यजुः' विद्या का वमन कर दिया। विद्या के कण कृष्ण वर्ण के रक्त में सने हुए भूमि पर गिर पड़े जिन्हें अन्य शिष्यों ने तित्तिर बनकर चुँग लिया। इस प्रकार चुँगे हुए वेद भाग को नाम से 'तैत्तिरीय' तथा रंग से 'कृष्ण' कहा गया। याज्ञवल्क्य खिन्न होकर लौट गये तथा सूर्यदेव की घोर तपस्या में निमग्न हो गये। भगवान्

सूर्य के प्रसाद से उन्होंने 'यजुः' विद्या को पुनः प्राप्त किया। सूर्य ने वाजी (अश्व) रूप धारण करके महर्षि याज्ञवल्क्य को यह ज्ञान दिया था, अतएव इसके अध्येता 'वाजिन्' कहलाते हैं, तथा संहिता 'वाजसनेयी' कहलाती हैं। वेद की संज्ञा शुक्ल (श्वेत) हुई क्योंकि श्वेताभ सूर्य से प्राप्त हुई थी। यह ज्ञान उद्दीप्त-मध्यदिन में स्थित सूर्य के द्वारा प्राप्त है, अतः 'माध्यन्दिन-संहिता' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

इस समस्या का और अधिक बोधगम्य समाधान यह भी दिया जाता है कि याज्ञवल्क्य ऋषि का पितृ (गुरु) बोधक नाम 'वाजसनेय' है। वे 'वाजसन' ऋषि के वंशज थे। 'तैत्तिरीय' नाम तित्तिर से बना है, जो 'यास्क' के एक शिष्य का नाम है।

जो कुछ भी हो, इतना स्पष्ट कहा जा सकता है कि शुक्ल-यजुर्वेद पूर्णतः शुद्ध है अर्थात् मन्त्रों का ही संकलन है जबकि कृष्ण-यजुर्वेद में ब्राह्मणों का भी मिश्रण है। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् 'बेवर' तथा गोल्डस्टूकर' का भी यही मत है।

डॉ. मंगलदेव शास्त्री का विचार यह भी है कि कृष्ण-यजुर्वेद पर वैदिकेतर विचारधारा का जितना प्रभाव है, उतना शुक्ल-यजुर्वेदीय साहित्य पर नहीं है। कृष्ण-यजुर्वेद से शास्त्री जी ने एक मन्त्र को उद्धृत किया है जिसमें कार्तिकेय, स्कन्द तथा गौरी इन पौराणिक देवी-देवों के नामों का उल्लेख स्पष्टतः वैदिकेतर विचारधारा के प्रभाव का द्योतक है-

"गिरिसुताय धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्। तत्कुमाराय विद्यामहे कार्तिकेयाय धीमहि। तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात्"।।-मै. सं. २/९/१ तथा काठक सं. १७/११

शुक्ल-यजुर्वेद इसी के प्रतिक्रिया स्वरूप प्रकाश में आया होगा, ऐसी भी शंका की जा सकती है।

यजुर्वेद का वर्ण्यविषय- जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है-यजुर्वेद में यजुषों का संकलन है। 'यजुष्' का शाब्दिक अर्थ है-यज्ञ, पूजा, श्रद्धा, आदर आदि। इस प्रकार वेद का वह भाग जिसका सम्बन्ध यज्ञ, पूजा आदि से है 'यजुष्' कहलाता है। इस वेद के मन्त्रों का पाठ यज्ञ में 'अध्वर्यु' संज्ञक पुरोहित-वर्ग करता है। इसकी वाजसनेयि-संहिता में चालीस अध्याय हैं। प्रारम्भिक २५ अध्याय विषयवस्तु की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में 'दर्श' एवं 'पौर्णमास' यज्ञ के मन्त्र संकलित हैं। तृतीय अध्याय में दैनिक 'अग्निहोत्र' तथा 'चातुर्मास्य' यज्ञ के मन्त्रों का संग्रह है। चतुर्थ से अष्टम अध्याय पर्यन्त 'अग्निष्टोमादि' सोमयज्ञों एवं पशुबलि से सम्बन्धित मन्त्र प्राप्त होते हैं। कतिपय एक दिन में समाप्त होने वाले यज्ञ भी सोमयज्ञों की परम्परा में प्राप्त हैं। इनमें 'वाजपेय' सर्वप्रधान है। इस यज्ञ का सम्पादन राजा अथवा योद्धा लोग करते थे। सोमयज्ञों की ही परम्परा में राजाओं द्वारा सम्पाद्य 'राजसूय यज्ञ' भी है। उपर्युक्त दो प्रकार के यज्ञों की प्रार्थनायें वाजसनेयि-संहिता के नवम तथा दशम अध्याय में की गयी हैं। एकादश से अष्टादश अध्याय तक अग्निचयन के लिए की जाने वाली प्रार्थनाओं तथा विविध याज्ञिक नियमों का संग्रह है। 'अग्निचयन' के निमित्त निर्मित होने वाली 'अग्निवेदिका' का भी वर्णन इसमें प्राप्त होता है। उन्नीसवें तथा बीसवें अध्याय में 'सौत्रामणि उत्सव' के प्रयोग से सम्बन्धित मन्त्रों का संकलन है। इक्कीसवें से पच्चीसवें अध्याय तक

'अश्वमेध' यज्ञ की प्रार्थनाओं का संग्रह किया गया है। छब्बीस से चालीस तक की रचना अपेक्षाकृत अर्वाचीन है, ऐसा पाश्चात्य विद्वानों का मत है। इसमें छब्बीस से पैंतीस अध्याय तक 'खिल-सूक्त' हैं। 'खिल' का अर्थ 'परिशिष्ट' है। ३० वें अध्याय में यद्यपि किसी प्रकार की प्रार्थना नहीं है तथापि पुरुषमेध यज्ञ का वर्णन इसी अध्याय में है। पुरुषमेध यज्ञ में बलि के उपयुक्त व्यक्तियों की गणना कराई गई है। ३१वाँ अध्याय भी इसी प्रकार का है। इसी में ऋग्वेद का प्रसिद्ध पुरुषसूक्त संकलित है। ३२वें अध्याय से ३४वें अध्याय में अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बद्ध ऋचायें हैं। ३६ वें से ३९ अध्याय तक 'प्रवर्ग्य यज्ञोत्सव' की प्रार्थनायें संकलित हैं। ४० वाँ अध्याय प्रसिद्ध उपनिषद् 'ईशावास्योपनिषद्' के नाम से विख्यात है।

'कृष्णयजुर्वेद' की विषयवस्तु शुक्लयजुर्वेद से मिलती-जुलती है। अत: उपर्युक्त विवेचन से ही कृष्णयजुर्वेद के प्रतिपाद्य का भी आभास मिल जाता है। मन्त्रब्राह्मणात्मक कृष्णयजुर्वेद में कुल १८००० मन्त्र मिलते हैं। तैत्तिरीय संहिता ही इसकी प्रधान संहिता है जिसमें ७ अष्टक हैं। प्रत्येक अष्टक में ७, ८ अध्याय हैं। अध्याय का दूसरा नाम 'प्रश्न' तथा अष्टक का दूसरा नाम 'प्रपाठक' भी है। प्रत्येक अध्याय में अनेक अनुवाक हैं तथा अनुवाकों की सम्पूर्ण संख्या लगभग ७०० है। 'चरणव्यूह' के अनुसार 'कृष्णयजुर्वेद' की ८६ शाखायें थीं। कृष्णयजुर्वेद के ब्राह्मण को 'तैत्तिरीयब्राह्मण' तथा आरण्यक को 'तैत्तिरीय आरण्यक' कहते हैं। इसके उपनिषद् हैं-तैत्तिरीय उपनिषद्, कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, नारायणोपनिषद् आदि।

शुक्ल-यजुर्वेद के ऋषि याज्ञवल्क्य हैं। इसमें ४० अध्याय के साथ ही २९० अनुवाक और अनेक काण्ड हैं। इसके ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'शतपथब्राह्मण' का अद्वितीय महत्त्व है।

३. सामवेद संहिता– जिस वेद में गेय मन्त्रों का विशिष्ट प्रकार से संकलन किया गया है उसे सामवेद कहा गया है। सामवेद का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए 'बृहद्देवता' नामक ग्रन्थ में कहा गया है-'सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्'। अर्थात् जो व्यक्ति साम को जानता है, वही वेद के तत्त्व का ज्ञाता है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं को 'सामवेद स्वरूप' कहा है-वेदानां 'सामवेदोऽस्मि'।

अनेक ग्रन्थों में 'साम' शब्द का प्रयोग ऋचाओं के ऊपर गाये जाने वाले 'गान' के लिए प्राप्त होता है तथा ऋग्वेद के मन्त्रों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र प्राप्त होता है। सामवेद के मन्त्रों को यज्ञ के अवसर पर 'उद्गाता' नामक पुरोहित तार स्वर से आवश्यकतानुसार गान करता है। अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'साम' शब्द इन्हीं गानों के लिए ही प्रयुक्त होता है। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् सातवलेकर के अनुसार सामवेद में उपासना द्वारा आत्मिक शान्ति प्राप्त कराने वाले मंत्र संकलित हैं।

सामवेद में ७५ मन्त्रों को छोड़कर सभी मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं। भारतीय विद्वानों के अनुसार सामवेद की एक हजार शाखायें थीं। महाभाष्यकार पतंजलि ने 'सहस्रवर्त्मा सामवेद:" कहा है। 'चरणव्यूह' में शौनक सामवेद के १००० शाखाओं को निर्दिष्ट करते हैं। जिनमें से अनेक शाखायें अनध्याय' के समय पढ़े जाने के कारण इन्द्र द्वारा वज्रप्रहार करके नष्ट कर डाली गयीं- "सामवेदस्य किल सहस्र भेदा: भवन्ति एष अनध्यायेषु अधीयान: ते शतक्रतु: वज्रेणाभिहत:।" सम्प्रति इन शाखाओं में से आसुरायणीय, वासुरायणीय, वार्त्तान्तवेय, प्राञ्जल, ऋग्वर्णभेदा, प्राचीन

योग्य, ज्ञानयोग्य तथा राणायनीय आदि नामों का ही उल्लेख मिलता है। राणायनीय के नौ भेद इस प्रकार हैं-शाट्यायनीय, सात्वल, मौद्गल, खल्वेल, महाखल्वल, लाङ्गल, कौथुम, कौतम और जैमिनीय। आजकल कौथुमीय शाखा की संहिता प्राप्त होती है।

सामवेद में प्राप्त पूर्वकथित ऋग्वेदेतर ७५ मन्त्रों में से कतिपय मन्त्र धर्मग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। कुछ मन्त्रों की उपलब्धि पाठान्तर के साथ ऋग्वेद में ही हो जाती है। उल्लेखनीय है कि जो ऋचाएँ ऋग्वेद से अपने वास्तविक रूप से उद्धृत हैं उनका भी पाठ ऋग्वेद से भिन्नरूप में होता है। इस वेद की मुख्य वस्तु स्वर है जो कि उद्गाता नामक ऋत्विज के लिए आवश्यक तत्त्व है।

सामवेद के पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक दो भाग हैं। इनमें प्राप्त होने वाली (७५ को छोड़कर) सभी ऋचाएँ ऋग्वेद से ली गई हैं। दोनों भागों की सम्पूर्ण ऋक्संख्या १८१० है। जिसमें कुछ ऋचाओं की बार-बार पुनरुक्ति भी हुई है। इन ऋचाओं को पृथक् करने पर ऋचाओं की वास्तविक संख्या १५४९ रहती है। ७५ को छोड़कर शेष सभी ऋचाएँ ऋग्वेद-संहिता के अष्टम एवं नवम मण्डल से ली गई हैं। इन ऋचाओं की रचना गायत्री एवं प्रगाथ छन्द में हुई है।

सामवेदसंहिता के पूर्वार्चिक ६५० ऋचाएँ हैं। इसमें ६ प्रपाठक हैं। प्रथम प्रपाठक में अग्नि-विषयक ऋचाओं का संग्रह है अतः इसे 'आग्नेयकाण्ड' कहते हैं। द्वितीय से चतुर्थ प्रपाठक तक 'ऐन्द्रपर्व' कहा जाता है यहाँ पर इन्द्र से सम्बन्धित ऋचाएँ हैं। पञ्चम प्रपाठक में सोमपरक ऋचाएँ हैं अतः इसे 'पवमानपर्व' कहा गया है। छठाँ प्रपाठक आरण्यकपर्व के नाम से प्रसिद्ध है।

उत्तरार्चिक में ४०० गीत हैं। एक-एक गीत में प्रायः तीन-तीन ऋचाएँ हैं। कहीं-कहीं दो या चार ऋचाएँ भी प्राप्त होती है। उत्तरार्चिक में प्रपाठकों की संख्या ९ है। पूर्वार्चिक में ऋचाओं का क्रम छन्द एवं देवताओं के आधार पर निश्चित हुआ है, परन्तु उत्तरार्चिक में यज्ञों के आधार पर उनका क्रम निर्धारित हुआ है। उत्तरार्चिक के प्रारम्भिक ५ प्रपाठकों में दो-दो 'अर्ध' या अध्याय है। अन्तिम ४ प्रपाठकों में तीन-तीन अध्याय हैं। इन अध्यायों में छोटे-छोटे मन्त्रसमूह पाये जाते हैं। उत्तरार्चिक में अनेक मन्त्र ऐसे हैं जो पूर्वार्चिक में भी प्राप्त होते हैं। पूर्वार्चिक में अनेक योनि (ऋचाएँ), ताल तथा लय हैं जो उत्तरार्चिक में नहीं है। इस प्रकार उत्तरार्चिक को पूर्वार्चिक का परिष्कृत रूप भी कह सकते हैं। उत्तरार्चिक के समस्त ऋचाओं की संख्या १२२५ है।

उत्तरार्चिक की रचना निश्चित रूप से पूर्वार्चिक के बाद हुई है। पूर्वार्चिक के अनेक योनियों तथा स्वरों की उपलब्धि उत्तरार्चिक में नहीं होती। विन्टरनित्ज' तो उत्तरार्चिक को आर्चिक का पूरक मात्र मानते हैं- **"Uttararchika is essential completion of the archika."**

आचार्य जैमिनि गीति (गेयता) को ही साम मानते हैं। गीति के प्राण हैं-स्वर। ऋचाओं को साम गान का मूलाधार या योनि कहा गया है। 'ऋचाएँ' पदों के समान हैं तथा 'साम' रागों के

तुल्य हैं। सामवेदीय ऋचाओं को संगीतमय करने के लिए कतिपय शब्दों को जोड़ा जाता है, इन्हें 'स्तोभ' कहा गया हैं। कतिपय 'स्तोभ' शब्द इस प्रकार है-हाऊ, होई, औ, हो, होई। ये स्तोभ उसी प्रकार कार्य करते हैं जैसे संगीतज्ञ आलाप के लिए कुछ शब्दों का उच्चारण करता है। इन्हें सामविकार भी कहा गया है। ये विकार ६ प्रकार के हैं, विकार, विश्लेषण, विकर्षण, अभ्यास, विराम तथा स्तोभ।

पूर्वार्चिक में प्रारम्भिक पाँच अध्याय तक 'ग्राम-गान', छठे अध्याय में अरण्यगान हैं। इनके अतिरिक्त ऊहगान एवं ऊह्यगान नामक दो अन्य प्रकार के गीत भी उपलब्ध होते हैं। चरणव्यूह के अनुसार समग्र सामों की संख्या आठ हजार तथा गानों की संख्या चौदह हजार आठ सौ बीस थी।

सामवेद से सम्बन्धित सामविधान ब्राह्मण, ताण्ड्य ब्राह्मण अथवा पञ्चविंश ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण तथा जैमिनीय ब्राह्मण, इन चार ब्राह्मण ग्रन्थों की सत्ता प्राप्त होती है।

४. अथर्ववेद संहिता- चारों वेदों के क्रम में अथर्ववेद का नाम सबसे अन्त में आता है। इसके नौ संस्करणों के नाम प्राप्त होते हैं। संस्करण का तात्पर्य शाखा से ही है। पैप्पलाद, शौनकीय, दामोद, तोत्रायन, जामल, ब्रह्मपालाश, कुनरवा, देवदर्शी और चरणविद्या। इनके अतिरिक्त औख्य तथा काण्डिकेय नामक दो अन्य शाखाएँ भी उपलब्ध होने के संकेत प्राप्त होते हैं। काण्डिकेय भी ५ भागों में विभक्त है- आपस्तम्ब, बौधायन, सत्यावाची, हिरण्यकेशी तथा औधेय।

अथर्ववेद-संहिता के नामकरण के सम्बन्ध में कई मत प्राप्त होते हैं। एक मत के अनुसार अथर्वा नामक किसी ऋषि के नाम पर इसका नाम अथर्ववेद पड़ा है। इसे अथर्वाङ्गिरस वेद भी कहा जाता है। अथर्वन् शब्द का अर्थ 'रोगनाशक' है तथा अङ्गिरस शब्द का अर्थ-शत्रुओं, प्रतिद्वंद्वियों, एवं दुष्ट मायावियों के प्रति अभिशाप मन्त्र है। अथर्ववेद में उपर्युक्त दोनों प्रकार की अभिचार विधियाँ प्राप्त होती है। अतः इसे अथर्वागिरस् नाम से भी कहते हैं। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से अथर्ववेद का अर्थ- **'The knowledge of magic fornulas'** किया जाता है। अथर्वन् शब्द को कतिपय विद्वान् 'अग्नि-पुरोहित' के अर्थ में ग्रहण करते हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पुरोहित यजमान की समग्र बाधाओं को भस्मीभूत कर डालने के लिए जिन मन्त्रों का पाठ करते थे, उन मन्त्रों के संकलन का नाम अथर्ववेद पड़ गया। 'सातवलेकर' के अनुसार 'अथर्व' का अर्थ हैं- 'गितरहित'। थर्वति गतिकर्मा न थर्व इति अथर्वः। थर्व शब्द चञ्चलता का वाचक है, अतः अथर्व शब्द का अर्थ हुआ-निश्चलता, समता, समत्व आदि।

इस वेद का संकलन 'ब्रह्मा' नामक पुरोहित के लिए किया गया है अतः इसे 'ब्रह्म वेद' भी कहते हैं। कहा जाता है कि इस वेद में भी सभी वेदों का 'सार' निहित है। इसीलिए यह सबसे श्रेष्ठ वेद है। गोपथ ब्राह्मण में लिखा है-

"श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽभिजातो ब्रह्मज्ञानं हृदये संबभूव।" -१/९

एतद् वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वंगिरसः। ये अङ्गिरसः स रसः। ये अथर्वाणस्तद भेषजम्। यद् भेषजम् तदमृतम्। यद् अमृतं तद् ब्रह्म।। -३/४

सम्पूर्ण अथर्वसंहिता में बीस काण्ड हैं। सभी काण्डों को ३८ प्रपाठकों में विभक्त किया गया है। इसमें ७६० सूक्त और लगभग ६००० मन्त्र हैं। किसी-किसी शाखा से सम्बन्धित संहिता

में अनुवाकों के आधार पर भी विभाग प्राप्त होते हैं। अनुवाकों की संख्या ८० है। ग्रिफिथ ने अपने अथर्ववेद के अंग्रेजी पद्यानुवाद की भूमिका में लिखा है कि 'अथर्वा' एक अत्यन्त प्राचीन ऋषि का नाम है। ऋग्वेद में एक स्थल पर आता है कि इसी ऋषि ने संघर्षण द्वारा अग्नि को उत्पन्न किया और सर्वप्रथम यज्ञों के द्वारा वह मार्ग तैयार किया जिससे मनुष्यों और देवताओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसी ऋषि ने पारलौकिक तथा अलौकिक शक्तियों द्वारा विरोधी असुरों को वश में कर लिया। इसी अथर्वा ऋषि से अंगिरा और भृगु के वंशजों को जो मन्त्र मिले उन्हींकी संहिता का नाम **'अथर्ववेद'**, **'अथर्वाङ्गिरस्वेद'** अथवा **'भृग्वङ्गिरस्वेद'** पड़ा। ग्रिफिथ ने इसका नाम ब्रह्मवेद पड़ने के तीन कारण बतलाया है– १. ब्रह्मापुरोहित द्वारा पठनीय होने के कारण यह ब्रह्मवेद कहलाता है। २. इस वेद में मन्त्र, टोटके, आशीर्वाद और प्रार्थनाएँ, हैं, जिनसे देवताओं को प्रसन्न किया जाता है, उनका संरक्षण प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य, भूत-प्रेत, पिशाच आदि आसुरी शत्रुओं को शाप दिया जा सकता है और नष्ट किया जा सकता है। इन प्रार्थनात्मक स्तुतियों को 'ब्रह्माणि' कहा जाता है; इनका समुच्चय होने से इसे 'ब्रह्मवेद' कहा गया है। ३. इसे ब्रह्मवेद कहे जाने की तृतीय युक्ति ग्रिफिथ यह देते हैं कि जहाँ प्रथम तीनों वेद इस लोक और परलोक में प्राप्तव्य सुखों का उपाय बतलाते हैं, वहाँ अथर्ववेद ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देता है तथा मोक्ष के उपाय बतलाता है।

अथर्ववेद में लगभग सात सौ आठ सूक्त हैं जिनमें करीब ६००० मन्त्र हैं। इसमें २० काण्ड हैं। प्रथम काण्ड से लेकर सातवें काण्ड तक मन्त्रों का क्रम विषयानुकूल नहीं है। केवल मन्त्रों की संख्या के अनुसार सूक्तों का क्रम बाँधा गया है। प्रथम काण्ड में चार-चार मन्त्रों का क्रम है। दूसरे में पाँच-पाँच का, तीसरे में छः-छः का, चौथे में सात-सात का परन्तु पाँचवें में आठ से अठारह मन्त्रों का क्रम है। छटें में तीन-तीन का क्रम है। सातवें में बहुत से अकेले मन्त्र हैं और ग्यारह-ग्यारह मन्त्रों तक का भी समावेश है। आठवें से लेकर बीसवें काण्ड तक लम्बे-लम्बे सूक्त हैं जो संख्या में पचास, साठ, सत्तर तथा अस्सी तक चले गये हैं।

अथर्ववेद के तेरहवें काण्ड तक विषयों का कोई क्रम निश्चित नहीं है। उनमें विशेष रूप से प्रार्थनायें हैं, मन्त्र हैं और प्रयोग तथा विधियाँ हैं। इन विधियों और प्रयोगों से सब तरह के भूत-प्रेत, पिशाच, राक्षस, डाकिनी, शाकिनी, वेताल आदि से रक्षा की जाती है, जादू-टोना करने वालों ; सर्पों, नागों और हिंसक जन्तुओं से तथा रोगों से बचाव होता है। मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि प्रयोगों के लिए भी मन्त्रों का संकलन इसी भाग में हुआ है। चौदहवें काण्ड में विवाह की रीतियों का वर्णन है। पन्द्रहवें, सोलहवें तथा सत्रहवें काण्डों में कतिपय विशिष्ट मन्त्र हैं। अठारहवें में अन्त्येष्टि क्रिया की विधियाँ तथा पितरों के श्राद्ध की रीतियाँ हैं। उन्नीसवें में विविध मन्त्रों का संकलन है। बीसवें में इन्द्र सम्बन्धी सूक्त हैं, जो ऋग्वेद में भी प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अथर्ववेद शत्रु-विनाश, आत्मरक्षा तथा विपद्निवारण आदि कार्यों के मन्त्रों से भरा पड़ा है। वर्तमान तान्त्रिक प्रयोगों का उद्भव भी इसी वेद से हुआ है। सृष्टि-प्रक्रिया तथा ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित अनेक रहस्यपूर्ण तथ्य भी इस वेद में यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं जिनका विस्तार और विकास आगे चलकर ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में हुआ है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ

वैदिक साहित्य में संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्थान आता है। ये ग्रन्थ वैदिक साहित्य के अभिन्न अंग माने जाते हैं। 'ब्रह्म' का अर्थ है मन्त्र, यज्ञ आदि। वैदिक साहित्य का वह भाग जो विविध वैदिक यज्ञों के लिए वेद-मन्त्रों के प्रयोग के नियमों, उनकी उत्पत्ति, विवरण व्याख्या आदि प्रस्तुत करना है और जिसमें स्थान-स्थान पर सुविस्तृत दृष्टान्तों के रूप में परम्परागत कथाओं का समावेश है 'ब्राह्मण' कहलाता है-'ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः'।

वास्तव में यज्ञ-विज्ञान का गम्भीर विवेचन करने वाले ग्रन्थ ही 'ब्राह्मण' कहलाते हैं। अनेक वैदिक विद्वान् ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी 'वेद' कहते हैं। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' अर्थात् मन्त्र भाग का सामूहिक नाम 'वेद' है। शबरस्वामी ने ब्राह्मणग्रन्थों की विषय-सामग्री को इस प्रकार बतलाया है-

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।
उपमानं दशैते तु विषया ब्राह्मणस्य च।।-शाबर-भाष्य २/१/८

अर्थात्-यज्ञों क्यों किए जाँय, कब किए जाँय, किन साधनों से किए जाँय, यज्ञ के अधिकारी कौन हैं, कौन नहीं हैं, इत्यादि विभिन्न विषयों का निर्देश इन ब्राह्मणग्रन्थों में किए गए हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के वर्ण्यविषय को चार भागों में बाँटा जा सकता है-१. विधि भाग २. अर्थवाद भाग ३. उपनिषद् भाग तथा ४. आख्यान भाग। **विधिभाग** में यज्ञों के विधानों का वर्णन है। इसमें यज्ञीय कर्मों का अर्थ तथा अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति बतलाई गई है। **अर्थवादभाग** में यज्ञों के माहात्म्य को समझाने के लिए प्ररोचनात्मक विषयों का समावेश है। इसमें यज्ञीय कार्यों के समर्थन में सुन्दर-सुन्दर कथायें कही गयी हैं। मीमांसकार जैमिनि ने अर्थवाद के भी तीन भेद बतलाये हैं-गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। ब्राह्मणग्रन्थों के उपनिषद् भाग में ब्रह्मतत्त्व का विवेचन है। इसमें रमणीय कथाओं के माध्यम से आत्मा, जीव एवं जगत् से सम्बन्धित विषयों का मनोहारी वर्णन है। आख्यान भाग में प्राचीन ऋषिवंशों, आचार्यवंशों तथा राजवंशों की कथायें वर्णित हैं।

प्रत्येक वेद से सम्बन्धित ब्राह्मणग्रन्थ प्राप्त होते हैं। अब क्रमशः इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

ऋग्वेद के ब्राह्मणग्रन्थ- ऋग्वेद से सम्बन्धित दो ब्राह्मण-ग्रन्थ प्राप्त होते हैं-१. ऐतरेय ब्राह्मण २. कौषीतकी ब्राह्मण। ऐतरेय-ब्राह्मण सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में चालीस अध्याय हैं पाँच-पाँच अध्यायों की आठ पंचिकायें हैं। इनके रचयिता 'महीदास ऐतरेय' हैं, इनका जन्म इतरा नामक दासी से हुआ था। इसमें सोमयज्ञ का सविस्तार वर्णन मिलता है। प्रारम्भिक सोलह अध्यायों में एक दिन में समाप्त होने वाले 'अग्निष्टोम' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन हैं। १७वें तथा अठारहवें अध्यायों में तीन सौ साठ दिनों में समाप्त होने वाले 'गवामयन' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन है। उन्नीसवें अध्याय से चौबीसवें अध्याय तक बारह दिन में पूर्ण होने वाले 'द्वादशाह'

संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन प्राप्त होता है। अवशिष्ट सोलह अध्यायों में अग्निष्टोम यज्ञ तथा कतिपय अन्य विषयों का समावेश है। इस ब्राह्मण के तेईस से चालीसवें अध्याय तक राजपुरोहित तथा राज्याभिषेक आदि की स्थितियों का भी वर्णन है।

'कौषीतकी ब्राह्मण' का दूसरा नाम 'सांख्ययन ब्राह्मण' भी है। यह ब्राह्मण ऐतरेयब्राह्मण के प्रारम्भिक पाँच अध्यायों का विकसित रूप ही प्रतीत होता है। इस ब्राह्मण में तीस अध्याय हैं। इसमें कतिपय विशिष्ट आख्यानों की सत्ता भी पाई जाती है। प्रो. बेवर ने 'ईशान' एवं 'महादेव' से सम्बन्धित सूक्तों के आधार पर कहा है कि यह ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेद की रचना के अन्तिम काल में रचा गया है। इसी ब्राह्मण की सातवीं पञ्चिका में 'शुनः शेप' आख्यान है जो संक्षेप में इस प्रकार है-राजा हरिश्चन्द्र वरुण देव को प्रसन्न करके एक पुत्र प्राप्त करते हैं। पुत्र का नाम रोहित है। शर्त यह थी कि वरुण जब चाहेंगे अपने पुत्र को वापस माँग लेंगे। पुत्र रोहित जब पूर्ण युवा हो जाता है, वरुण उसे माँगता है। परन्तु राजा 'वरुण' का बलि देना चाहता है, वरुण यह सुनकर जंगल में भाग जाता है। इसके पश्चात् राजा को वरुण के शाप से 'जलोदर' का रोग हो जाता है। रोहित इस समाचार को सुनकर लौटना चाहता है किन्तु ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र उसे भ्रमण के महत्त्व को समझाकर लौटने नहीं देता। इस प्रकार वह पाँच वर्षों तक जंगल में घूमता रहता है। छठें वर्ष रोहित को 'अजीगर्त' ऋषि अपने तीन पुत्रों-'शुनःपुच्छ', 'शुनःशेप', तथा 'शुनोलांगूल' के साथ, तथा अपनी पत्नी के साथ मिलते हैं। रोहित एक पुत्र के बदले ऋषि को सौ गायें देने को कहता है। अजीगर्त अपने ज्येष्ठ पुत्र 'शुनःशेप' को रोहित के लिए दे देते हैं। वरुण क्षत्रिय 'रोहित' की अपेक्षा ब्राह्मण 'शुनःशेप' को बलि के लिए श्रेष्ठ समझकर स्वीकार कर लेता है। राजसूय यज्ञ में पशु के स्थान पर शुनःशेप की बलि का आयोजन होता है। इसी समय एक समस्या खड़ी हो जाती है कि ब्रह्महत्या का पाप अपने सिर पर कौन लेगा? अजीगर्त स्तम्भ में बाँधने के बदले सौ गायें तथा मारने के बदले सौ गायें लेकर उपस्थित हो जाता है। इसी समय शुनःशेप वेदों की शरण में जाकर उनसे प्रार्थना करता है। तीन ऋचाओं में उषा की स्तुति होने पर उसके बन्धन खुल जाते हैं। हरिश्चन्द्र का जलोदर रोग भी ठीक हो जाता है। इसके बाद पुरोहित वर्ग यज्ञ महोत्सव में शुनःशेप का स्वागत करता है। हरिश्चन्द्र यज्ञ के 'होता' बनते हैं तथा अपने सौ पुत्रों की उपेक्षा करके 'शुनःशेप' को पुत्र बनाकर अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हैं। इस आख्यान में स्त्री को मित्र, पुत्री को विपत्ति तथा पुत्र को स्वर्गीय प्रकाश कहा गया है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ- यजुर्वेद के दो ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। कृष्णयजुर्वेद का तैत्तिरीयब्राह्मण' तथा शुक्लयजुर्वेद का 'शतपथब्राह्मण'। शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनीय तथा काण्व शाखाओं के अलग-अलग ब्राह्मणग्रन्थ हैं। दोनों ही 'शतपथ' के नाम से विख्यात हैं। इसमें सौ अध्याय हैं इसीलिए इसका नाम शतपथ है। यह ब्राह्मण विस्तृत एवं सुव्यवस्थित है। माध्यन्दिनीय शाखा के ब्राह्मण का विभाजन चौदह काण्डों में हुआ है। इसके प्रारम्भिक नौ काण्डों में वाजसनेयी संहिता के प्रारम्भिक अठारह अध्यायों की व्याख्या है। इस ब्राह्मण के रचयिता महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। दशम काण्ड में अग्निरहस्य का विवेचन है। ग्यारहवें काण्ड में आठ अध्याय हैं। ग्यारहवें से लेकर तेरहवें काण्ड तक उपनयन, स्वाध्याय, अन्त्येष्टि सर्वमेध आदि का विवेचन है। इसका चौदहवाँ काण्ड आरण्यक है। इसके प्रथम तीन अध्यायों में 'प्रवर्ग्य' उत्सव का वर्णन है। इसी चौदहवें काण्ड के अन्त में 'बृहदारण्यक उपनिषद्' प्राप्त होता है।

शतपथ-ब्राह्मण में पर्याप्त ऐतिहासिक तथ्यों की उपलब्धि होती है। इसमें अनेक आख्यान प्राप्त होते हैं, जिन्हें महाभारत की अनेक कथाओं का स्रोत कहा जा सकता है। रामकथा, कद्रू-सुपर्णा की कथा, पुरूरवा उर्वशी का प्रेमाख्यान, अश्विनीकुमारों द्वारा च्यवन ऋषि को यौवनदान आदि कथायें शतपथब्राह्मण में उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संस्कृत-साहित्य के काव्य,नाटक,चम्पू आदि अनेक विधाओं के सूत्र ब्राह्मणग्रन्थों में विद्यमान हैं।

पुरूरवा उर्वशी उपाख्यान- इस उपाख्यान का मूलस्रोत ऋग्वेद-संहिता के दशम मण्डल में प्राप्त होता है। उसी का यहाँ विकास हुआ है। वैदिक आख्यान में पुरूरवा वह व्यक्ति है जिसने श्रौत अग्नि की स्थापना का रहस्य जानकर याज्ञिक क्रियाओं का विस्तार किया था। इस उपाख्यान का प्रारम्भ यहाँ से होता है-उर्वशी नामक अप्सरा का राजा पुरूरवा से प्रेम होता है। तदुपरान्त उर्वशी राजा से कुछ प्रतिज्ञायें करवाती है, जिसके आधार पर ही वह राजा की पत्नी बन सकती है। राजा की प्रतिज्ञा कुछ कारणों वश भंग हो जाती है परिणामतः गन्धर्वों द्वारा प्रेरित उर्वशी राजा को छोड़कर चली जाती है। विरहाकुल राजा विलाप करता हुआ कुरुक्षेत्र में यत्र-तत्र घूमता रहता है। अन्त में राजा कमलपुष्पों से समलंकृत सरोवर में उर्वशी को हंसिनी के रूप में तैरती हुई देखता है। उर्वशी राजा की करुणार्द्र स्थिति से द्रवित होकर कहती है-इस वर्ष की अन्तिम रात्रि में तुम मेरे साथ रह सकोगे, तभी तुम्हारा पुत्र होगा। एक वर्ष बाद दोनों का मिलन होता है। उर्वशी राजा से कहती है कि कल तुम्हें गन्धर्व एक वरदान देंगे, तुम उनसे अभीष्ट वस्तु माँग लेना। उर्वशी राजा से यह भी कहती है कि तुम गन्धर्वों से कहना कि तुम लोग मुझे भी अपने समान बना दो। गन्धर्वों के कहने पर राजा अपना अभीष्ट माँगता है और गन्धर्व भी राजा को अग्निहोत्र सम्पादन की विधि बतलाते हैं, जिसके द्वारा एक मनुष्य भी गन्धर्व बन सकता है। यह आख्यान परवर्ती साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर लिया।

जलप्लावन-आख्यान- इस कथा के अनुसार मानव-जाति के आदि-पुरुष मनु ने सृष्टि की रक्षा कैसे की, इसका निदर्शन प्राप्त होता है। मनु मानवता एवं मानव-जाति का विकास करने के लिए यज्ञ करते हैं। यज्ञ से स्त्री उत्पन्न होती है। उसी स्त्री से मनुष्य-जाति का विस्तार होता है। मनु की पुत्री का नाम 'इडा' है। यह कथा परवर्ती काल में अनेक महाकाव्यों तथा अन्य काव्यात्मक विधाओं का उपजीव्य बना। हिन्दी भाषा में श्री जयशंकर प्रसाद की कामायनी का मूल यही कथा है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि शतपथब्राह्मण का वैदिक-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। विशालता की दृष्टि से ऋग्वेद के बाद इसी का स्थान है।

सामवेद के ब्राह्मणग्रन्थ- सम्प्रति सामवेद से सम्बन्धित चार ब्राह्मण ग्रन्थों की सत्ता प्राप्त होती है। ताण्ड्य या पञ्चविंशब्राह्मण, षड्विंशब्राह्मण, जैमिनीयब्राह्मण तथा सामविधान ब्राह्मण। **ताण्ड्यब्राह्मण'** पच्चीस अध्यायों से संवलित होने के कारण 'पञ्चविंश' भी कहलाता है। इसमें सामान्यतः सोमयज्ञ का वर्णन है। रचना की दृष्टि से यह प्रौढ़ तथा प्राचीन है। इसमें 'व्रात्यस्तोम' नामक यज्ञ का भी वर्णन है। इस यज्ञ से व्रात्यों (भ्रष्टों) को शुद्ध करके उन्हें ब्राह्मणों अथवा आर्यजातियों के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया जाता था। इसके रचयिता सम्भवतः **'ताण्ड'** नामक कोई ऋषि हैं अथवा 'ताण्ड' ऋषि की शाखा से इस ब्राह्मण (ताण्ड्य) का

सम्बन्ध है। **'षड्विंश-ब्राह्मण'** को कुछ विद्वान् 'ताण्ड्यब्राह्मण' का अंग स्वीकार करते हैं। इसके अन्तिम अध्यायों को 'अद्भुतब्राह्मण' कहा जाता है, जिसमें इन्द्रजाल तथा अन्य अलौकिक घटनाओं का उल्लेख है। देवताओं के 'रुदन' तथा 'हास्य' का भी संकेत इसमें यत्र-तत्र प्राप्त होता है। **'जैमिनीय-ब्राह्मण'** का सम्बन्ध सामवेद की 'तवलकार' शाखा के साथ है। इसके रचयिता जैमिनि नामक कोई ऋषि रहे होंगे। इसमें पाँच मण्डल हैं। प्रथम तीन मण्डलों में यज्ञ-विधियों का वर्णन है। चौथा मण्डल उपनिषद् ब्राह्मण है। पाँचवें मण्डल का नाम आर्षेयब्राह्मण है इसमें सामवेदीय ऋषियों के नामों की एक लम्बी सूची प्राप्त होती है। धर्म तथा आख्यान के इतिहास की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है। चतुर्थ ब्राह्मण **'सामविधान-ब्राह्मण'** में जादू, टोना, शत्रु-निवारण, धनोपार्जन तथा नानाविध उपद्रवों की शान्ति के लिए सामगायन एवं कतिपय अनुष्ठानों के विधान का वर्णन है। इसीलिए इसको सामविधान नाम प्राप्त हुआ है। इस ब्राह्मण के तीन प्रकरण हैं, जिसमें धर्मसूत्रों में वर्णित दोष, अपराध तथा उनके प्रायश्चितों का वर्णन है। इनके अतिरिक्त सामवेद से सम्बन्धित कतिपय अन्य ब्राह्मणों का नाम भी प्राप्त होता है जैसे– दैवतब्राह्मण, संहितोपनिषद्ब्राह्मण, वेशब्राह्मण, उपनिषद्ब्राह्मण आदि।

अथर्ववेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ– अथर्ववेद से सम्बन्धित एकमात्र 'गोपथ-ब्राह्मण' प्राप्त होता है। इसके दो भाग है- 'पूर्व गोपथ' एवं 'उत्तर गोपथ'। प्रथम भाग पाँच अध्यायों से युक्त है तथा द्वितीय छः अध्यायों से। इस ब्राह्मण में 'शिव' शब्द की प्राप्ति तथा अति परिष्कृत व्याकरण सम्मत शब्दावली इस को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इस पर 'शतपथ ब्राह्मण' का पर्याप्त प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इसमें ऋग्वेदीय ब्राह्मणों से भी विषय-सामग्री को ग्रहण किया गया है।

ब्राह्मण साहित्य के गम्भीर अनुशीलन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेदीय 'ब्राह्मण ग्रन्थ' ऋग्वेद से सम्बन्ध रखने वाले 'होता' नामक पुरोहित-वर्ग के यज्ञीय कार्यों की व्याख्या करते हैं। यजुर्वेद के ब्राह्मणग्रन्थ यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाले अध्वर्यु, संज्ञक पुरोहित-वर्ग के कार्यों की व्याख्या करते हैं। इसी प्रकार सामवेदीय एवं अथर्ववेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ क्रमशः उद्गाता तथा ब्रह्मा नामक पुरोहित-वर्गों के कार्यों की व्याख्या करते हैं।

आरण्यक-ग्रन्थ

ब्राह्मणों तथा उपनिषदों का मध्यवर्ती साहित्य आरण्यक है। आरण्यकग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों की ही भाषा-शैली में लिखे गये उनके पूरक ग्रन्थ हैं। आरण्यक ग्रन्थों का अध्ययनाध्यापन नगरों तथा ग्रामों से दूर अरण्यों (जंगलों) में होता था। तैत्तिरीय आरण्यक के भाष्य में कहा गया है–

अरण्याध्यायनादेतद् आरण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते।।

भारतीय आश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्य आश्रम में संहिताग्रन्थ, गृहस्थाश्रम में ब्राह्मणग्रन्थ वानप्रस्थ-आश्रम में आरण्यक ग्रन्थ एवं संन्यासाश्रम में उपनिषद् ग्रन्थों का अध्ययन विहित था। वानप्रस्थी व्यक्ति जंगलों में जाकर आरण्यक-ग्रन्थों का ही अध्ययन एवं मनन करता था।

आरण्यक-ग्रन्थों के अध्यायों का प्रारम्भ ब्राह्मण ग्रन्थों के समान ही है, किन्तु वर्ण्यविषय में सामान्य अन्तर दिखलाई पड़ता है जो क्रमशः रहस्यात्मक दृष्टान्तों या रूपकों के माध्यम से दार्शनिक चिन्तन में बदल गया है। साधारणतः धार्मिक क्रिया-कलापों और रूपकों वाले भाग ही आरण्यक कहलाते हैं एवं दार्शनिक भाग उपनिषद् कहलाते हैं। आरण्यक-ग्रन्थ धार्मिक क्रिया-कलापों का वर्णन करते हैं तथा यत्र-तत्र उनकी रहस्यपूर्ण व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। वेदभाष्यकार सायणाचार्य का कथन है कि आरण्यक-ग्रन्थ साधुओं का पाठ्य ब्राह्मण-ग्रन्थ था। प्रो. कीथ का मत है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाँति आरण्यक-ग्रन्थ भी पुरोहित वर्ग का पाठ्य-ग्रन्थ था। दोनों में अन्तर केवल रहस्यों का था, जो कि ब्राह्मणों में न होकर आरण्यक-ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।

रामायण में उल्लेख है कि विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त करने के अनन्तर तीन मार्गों में से किसी एक का चयन कर सकता था- १. अपने गुरु के साथ आजीवन रहना २. गृहस्थ बनना ३. अरण्यवासी साधु बनना। इस तृतीय मार्ग का अनुसरण करने वाला व्यक्ति वैखानस या वानप्रस्थ (वनवासी) कहलाता था। सम्भवतः इसी श्रेणी के व्यक्तियों के लिए अध्ययन विहित था। आरण्यक-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

ऋग्वेद के आरण्यक-ग्रन्थ– ऋग्वेद के दो आरण्यक-ग्रन्थ हैं- ऐतरेय तथा कौषीतकि। ऐतरेय-आरण्यक का सम्बन्ध ऐतरेय-ब्राह्मण के साथ है। इसके पाँच खण्ड प्राप्त होते हैं। दूसरे और तीसरे को उपनिषद् कहा जा सकता है। दूसरे के उत्तरार्द्ध के चार परिच्छेदों में वेदान्त का प्रतिपादन है। इसीलिए यह ऐतरेय उपनिषद् कहलाता है। ऐतरेय-आरण्यक के प्रथम आरण्यक में महाव्रत, द्वितीय में उक्थ, शस्त्र, प्राणविद्या तथा पुरुष का विवेचन है। तृतीय में ध्वनि-विज्ञान से सम्बन्धित पदपाठ, क्रमपाठ, स्वर तथा व्यंजन के स्वरूप का विवेचन है। चौथे तथा पाँचवें में कतिपय अन्य विषयों के साथ 'निष्कैवल्य-शास्त्र' का वर्णन है। कतिपय विद्वान् उपर्युक्त पाँच खण्डों को पाँच आरण्यक मानते हैं। इनके अनुसार पाँच आरण्यकों का संश्लिष्ट रूप ही ऐतरेय-आरण्यक है।

ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक कौषीतकि या सांख्यायन-आरण्यक है। इसके तीन खण्ड हैं। प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में कर्मकाण्डीय तथ्य सन्निविष्ट हैं। तीसरा खण्ड कौषीतकि-उपनिषद् कहलाता है। इसमें अध्यायों की संख्या पन्द्रह है।

यजुर्वेद के आरण्यक-ग्रन्थ– शुक्लयजुर्वेद का एकमात्र आरण्यक बृहदारण्यक प्राप्त होता है। इसमें आत्मतत्त्व का विशद विवेचन है। कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्धित तैत्तिरीय-आरण्यक है। इसमें दस काण्ड हैं। काठक शाखा में बतलायी गयी आरणीय विधि का भी इस ग्रन्थ में विचार हुआ है। इसके प्रथम और तृतीय प्रपाठक में यज्ञाग्नि की स्थापना के नियम है। दूसरे प्रपाठक में अध्ययन के नियम हैं। चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ प्रपाठकों में दर्शपूर्णमासादि तथा पितृमेधादि विषयों का विचार किया गया है। इसका सातवाँ, आठवाँ तथा नवाँ प्रपाठक उपनिषद् कहलाता है, जिनमें ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन हुआ है। प्रसिद्ध उपनिषद् कठोपनिषद् भी इसी से सम्बन्धित है।

सामवेद के आरण्यक-ग्रन्थ– सामवेद से सम्बन्धित दो आरण्यक प्राप्त होते हैं– 'छान्दोग्य-आरण्यक' छः प्रपाठकों में विभक्त है। इसका सम्बन्ध छन्दोगों के साथ है। छन्दोग का

अर्थ है–सामवेद-संहिता के मन्त्रों को गाने वाला व्यक्ति। इस ग्रन्थ में छन्दोगों के करणीय कार्यों का निर्देश भी हुआ है। प्रसिद्ध समावेदीय उपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् इसी का अंश है।

अथर्ववेद से सम्बन्धित एक भी आरण्यक-ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। आरण्यक-ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में जो ज्ञानकाण्ड प्राप्त होता है उनका प्रारम्भ आरण्यकों में ही हो गया था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में गृहस्थों के लिए कर्मकाण्डों का विवेचन है, किन्तु वृद्धावस्था में जब वही गृहस्थ वनों का आश्रय ग्रहण करता है तो कर्मकाण्ड के स्थान पर उसे अन्य वस्तु के अध्ययन करने या व्यवहृत करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। आरण्यक उसी विषय की पूर्ति करने वाले ग्रन्थ है। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण-विहित कर्मकाण्डों एवं उपनिषदों में विहित दार्शनिक चिन्तन के मध्यवर्ती संक्रमण काल की श्रृखंला के रूप में हैं।

उपनिषद्-ग्रन्थ

वेदान्त-दर्शन के तीन प्रस्थानों में उपनिषद् का सर्वप्रमुख स्थान है। उपनिषद् वह साहित्य है, जिसमें जीवन और जगत् के रहस्यों को उद्घाटित किया गया है। उपनिषद् वैदिक-साहित्य की चरमपरिणति रूप ग्रन्थ है। वैदिक साहित्य के अन्तिम ध्येय ब्रह्मतत्त्व का निरूपण होने से इसे वेदान्त भी कहा गया है। यहाँ पर कतिपय प्रमुख उपनिषद्-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है–

१. ऐतरेयोपनिषद् – इसका सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। यह अत्यन्त लघुकाय है। ऐतरेय-ब्राह्मण के द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ से षष्ठ अध्यायों को ऐतरेयोपनिषद् कहा गया है। इसमें तीन अध्याय हैं, जिनमें क्रमशः सृष्टि, जीवात्मा तथा ब्रह्मतत्त्व का निरूपण है। इस उपनिषद् की रचना का मूलाधार ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त है। इसमें विश्व को आत्मा से उद्भूत बतलाया गया है।

२. कौषीतकि उपनिषद् – इस उपनिषद् का भी सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। कौषीतकि-आरण्यक के तृतीय एवं षष्ठ अध्यायों को मिलाकर कौषीतकि उपनिषद् कहा गया है। इसका उपदेश सम्भवतः कुषीतक नामक ऋषि ने किया था। इस उपनिषद् में ब्रह्म-सिद्धान्त का विस्तृत निरूपण किया गया है। इसमें कतिपय ऐसे याज्ञिक विधानों का भी निरूपण है, जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी कामनाओं की पूर्ति करने में सफल होता है। इसमें ज्ञान की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है।

३. श्वेताश्वतरोपनिषद् – यह उपनिषद् कृष्ण-यजुर्वेद से सम्बन्धित है। इसमें विश्व को ब्रह्मकृत तथा माया का प्रतिरूप माना गया है। इसमें यत्र-तत्र योग के सिद्धान्तों का सम्यक्‌रूपेण प्रतिपादन प्राप्त होता है। इसकी रचना कठोपनिषद् के बाद की है, क्योंकि इसमें कठोपनिषद् के अनेक अंश उद्धृत हैं। इसकी रचना से स्पष्ट होता है कि यह उपनिषद् अनेक रचनाकारों की कृतियों का संग्रह है।

४. कठोपनिषद् – यह भी कृष्णयजुर्वेदीय-उपनिषद् है। इसका सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा से है। इसमें दो अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय तीन-तीन बल्लियों में बँटा है। इस

उपनिषद् में प्रसिद्ध 'यम-नचिकेता' आख्यान के माध्यम से जीव, जगत् और परमतत्त्व का सरल, हृदयग्राही एवं हितसाधक उपदेश मानवमात्र के कल्याणार्थ प्रस्तुत किया गया है। श्रेय अर्थात् आत्मकल्याण (मोक्ष) मार्ग तथा प्रेय अर्थात् सांसारिक बंधनों के मार्ग का विवेचन किया गया है। इस उपनिषद् का मत है कि मनुष्यों के समक्ष श्रेय तथा प्रेय दोनों वस्तुएँ उपस्थित होती हैं। उनमें से जो व्यक्ति धीर अर्थात् आत्मकल्याण का इच्छुक होता है, वह श्रेयमार्ग का वरण करता है तथा कुत्सित संस्कार वाला व्यक्ति प्रेयमार्ग का वरण करके मानवजीवन के वास्तविक लक्ष्य से च्युत हो जाता है। इस उपनिषद् में रथ-रथी के रूपक द्वारा शरीर, आत्मा, मन तथा इन्द्रियों के पारस्परिक सम्बन्धों को समझाते हुए असत्कार्यों से सदैव पृथक् रहने का उपदेश दिया गया है। अतिथि-सत्कार, पितृपरितोष आदि का महत्त्व भी इस उपनिषद् में प्रतिपादित किया गया है।

५. तैत्तिरीयोपनिषद् – कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय-संहिता के ब्राह्मण ग्रन्थ को तैत्तिरीय ब्राह्मण कहते हैं। इस ब्राह्मण का अन्तिम भाग तैत्तिरीय-आरण्यक कहलाता है। इसके सात से नौ प्रपाठकों को तैत्तिरीय-उपनिषद् कहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रपाठकों को क्रमशः शिक्षा का माहात्म्य, ब्रह्मतत्त्वनिरूपण तथा वरुण द्वारा अपने पुत्र को दिया गया उपदेश संकलित है।

६. मैत्रायणोपनिषद् – इस उपनिषद् का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा के साथ है। इसमें सात अध्याय हैं। इस उपनिषद् की रचना अधिकांश रूप में गद्यमय है। इस उपनिषद् में सांख्य-दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

इस उपनिषद् की विषयसाम्रगी तीन प्रश्नों के उत्तर में निहित है। प्रथम प्रश्न में पूछा गया है कि आत्मा किस प्रकार शरीर में प्रवेश करता है ; उत्तर स्वरूप कहा गया है कि स्वयं प्रजापति अपने द्वारा विरचित शरीर में जीवन-संचार करने के लिए पंच प्राणों के रूप में प्रविष्ट होता है। दूसरा प्रश्न है-परमात्मा किस प्रकार भूतात्मा बनता है ; इस प्रश्न का समाधान सांख्यसिद्धान्तानुसार देने का प्रयास किया गया है, जिसके अनुसार आत्मा प्रकृति के गुणों से पराभूत होकर आत्मरूप को विस्मृत कर जाता है परिणामतः आत्मज्ञानार्थ प्रयासरत रहता है। तृतीय प्रश्न है कि सांसारिक दुःखों से मुक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है ; उत्तर में कहा गया है कि वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम-व्यवस्था के प्रति निष्ठावान् व्यक्ति ही ब्रह्मज्ञान एवं मोक्ष के अधिकारी होते हैं। मोक्ष अथवा ब्रह्मज्ञान ही दुःखों से मुक्ति दिला सकता है।

७. वृहादारण्यकोपनिषद् – यह उपनिषद् शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित है। शतपथब्राह्मण के अन्तिम छः अध्याय ही इस उपनिषद् के नाम से कहे गये हैं। यह पर्याप्त विशालकाय होने से अन्वर्थनामा भी है। यह तीन भागों में विभक्त है ; प्रत्येक भाग दो-दो अध्यायों में बँटा हुआ है। प्रथम भाग 'मधु-काण्ड' है। द्वितीय भाग 'याज्ञवल्क्य-काण्ड' है, तथा तृतीय भाग 'खिल-काण्ड' है, जो परिशिष्ट मात्र माना जाता है। इस उपनिषद् में प्राण को आत्मा का प्रतीक माना गया है। आत्मा तथा ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति तथा आत्मा की प्रकृति का निरूपण है।

८. ईशावास्योपनिषद् – यह उपनिषद् शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्ध रखता है। शुक्लयजुर्वेद का अन्तिम चालीसवाँ अध्याय ही यह उपनिषद् है। इसका प्रथम मन्त्र 'ईशावास्यमिदम्...'से प्रारम्भ होता है, अतः यह ईशावास्योपनिषद् कहलाता है। इसमें केवल अठारह मन्त्र हैं। परन्तु इसमें उपनिषदों के सभी विषयों का समावेश संक्षेप में ही हो गया है। इसमें ईश्वर को सर्वव्यापक

मानते हुए तथा अत्यन्त संतुष्टि का आश्रय ग्रहण करते हुए जीवनयापन करने का उपदेश दिया गया है।

९. केनोपनिषद् – यह सामवेद की जैमिनीय-शाखा के ब्राह्मण-ग्रन्थ का नवम अध्याय है। इसका प्रारम्भिक मन्त्र **"केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति श्रोत्रं चक्षुः कउ देवा युनक्ति।"** है इसी आधार पर इसका नाम केनोपनिषद् पड़ गया है। केनोपनिषद् में अत्यन्त सबल भाषा में कहा गया है कि परमतत्त्व सभी इन्द्रियों का इन्द्रिय है तथा इन्द्रियों की पहुँच के बाहर हैं। परमतत्त्व समस्त देवताओं का देवता है एवं समस्त उपास्यों की उपास्य है। परमतत्त्व का ज्ञाता सभी पापों से मुक्त हो जाता है परिणामतः शाश्वत अमरपद का अधिकारी हो जाता है।

१०. मुण्डकोपनिषद् – यह उपनिषद् अथर्ववेद की शौनक शाखा के अन्तर्गत आती है। सम्पूर्ण उपनिषद् तीन मुण्डकों में विभक्त है ; तथा प्रत्येक मुण्डक दो-दो अध्यायों में विभक्त हैं। इस उपनिषद् का नामकरण सम्भवतः 'मुण्ड' साधुओं के नाम पर हुआ है जो जैन तथा बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन साधुओं की भाँति सिर मुड़ाये रहते थे। इस उपनिषद् में सृष्टि की उत्पत्ति तथा ब्रह्मतत्त्व का विवेचन किया गया है।

११. माण्डूक्योपनिषद् – यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बन्धित एक अति संक्षिप्त उपनिषद् है। इसमें कुल बारह मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्र में ही ओंकार की महिमा का प्रतिपादन किया गया है–

"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव"।

अर्थात् जो कुछ भूत, भविष्यत्, वर्तमान है, सब ओंकार ही है, तथा जो कुछ इन तीन कालों से परे है वह भी ओंकार ही है।

इस उपनिषद् का संहार भी ओंकार तत्त्व की महिमा के साथ हुआ है।

१२. प्रश्नोपनिषद् – अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा के साथ सम्बन्धित यह उपनिषद् विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण उपनिषद् गद्यमय है ; कहीं-कहीं पद्य भी प्राप्त होते हैं। इसमें पिप्पलाद ऋषि ने भरद्वाज के पुत्र सुवेश्म, शिवि के पुत्र सत्यवान, कोशलदेशीय आश्वलायन, विदर्भ निवासी भार्गव, कात्यायन एवं कबंधी इन छः जिज्ञासु ऋषियों के छः प्रश्नों का विचारपूर्ण उत्तर प्रस्तुत किया है। इन जिज्ञासुओं के प्रश्न हैं-प्रजाओं के शरीर धारण करने वाले देवताओं से सम्बन्धित, शरीर में प्राणों के प्रवेश एवं निर्गमन से सम्बन्धित, मन तथा अन्य इन्द्रियों की ग्रहणशीलता, निद्रा, जागरण तथा स्वप्न आदि के विषय में, ओंकार की उपासना के सम्बन्ध में तथा षोडश कलाओं से सम्पन्न पुरुष के सम्बन्ध में। इन्हीं प्रश्नों के उत्तरस्वरूप आत्मतत्त्व का वर्णन किया गया है।

उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक उपनिषदों की सत्ता प्राप्त होती है। परवर्ती उपनिषद् मुक्तिकोपनिषद् में एक सौ आठ उपनिषदों के नामों की सूची दी गई है। इन सभी उपनिषदों का संग्रह निर्णयसार प्रेस बम्बई से गुटका के रूप में प्रकाशित हुआ है। अड्यार

लाईब्रेरी मद्रास से प्रकाशित उपनिषद् संग्रह में एक सौ उन्यासी उपनिषदों की गणना कराई गई है। गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बम्बई से प्रकाशित 'उपनिषद्वाक्य महाकोश' में दो सौ तेईस उपनिषदों का नामोल्लेख है। इनमें कालक्रम के अनुसार उपनिषदों को 'प्राचीन' तथा 'अर्वाचीन' दो भागों में बाँटा जा सकता है।

अर्वाचीन होने का सबसे स्थूल किन्तु निश्चित लक्षण यह है कि ये अर्वाचीन उपनिषदें साम्प्रदायिक हैं, इनमें तत्तत् सम्प्रदायों के उपास्य देवता, उपासना पद्धति इत्यादि की ही प्रचुरता है एवं प्राचीनतम उपनिषदों के प्रतिपाद्य ब्रह्मात्मैक्यवाद, माया, सृष्टि इत्यादि का विवेचन नहीं के बराबर है।

वेदाङ्ग-साहित्य

वेदों के सहायक-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष इन छः शास्त्रों को वेदाङ्ग कहा गया है। जिस प्रकार अंगविहीन शरीर असम्भव है, उसी प्रकार इन छः अङ्गों के अध्ययन के अभाव में वेदाध्ययन असम्भव है। वेदों के शुद्ध पाठ, अर्थज्ञान, यज्ञों में मन्त्रों की उपयोगिता, यज्ञ के लिए उचित समय का ज्ञान तथा वेदि निर्माण की सही प्रक्रिया का ज्ञान वेदाङ्गों के अभाव में सम्भव नहीं है। पाणिनि-शिक्षा में कहा गया है कि 'ज्योतिष्' वेदों के लिए आँख है, निरुक्त कान है, शिक्षा घ्राण है, व्याकरण मुख है, कल्प हाथ है, तथा छन्द पाँव हैं–

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।

– पा. शि. ४१, ४२

इस प्रकार जैसे आँख, कान, नाक, मुख, हाथ तथा पाँव से शरीर में पूर्णता रहती है, उसी प्रकार इन षड्वेदाङ्गों के अध्ययन से वेदाध्ययन में परिपूर्णता आती है। अब क्रमशः वेदाङ्गों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है–

शिक्षा– षड्वेदाङ्गों में शिक्षा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह प्रथम वेदाङ्ग है। इसको वेदों की 'नासिका' कहा गया है-'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य'। यह शुद्ध उच्चारण का शास्त्र है-"स्वरवर्णोच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा'। जिस शास्त्र में मन्त्रों के स्वर एवं व्यंजनों के शुद्ध उच्चारण को जाना जाता है। वह 'शिक्षा' कहलाता है। स्वर तथा व्यंजनों का ठीक-ठीक उच्चारण ही मन्त्रों के वास्तविक अर्थ का अवबोधन कराता है।

यह शास्त्र यद्यपि अत्यन्त प्राचीन है ; परन्तु इस पर लिखे ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है। एक अनुश्रुति के अनुसार 'जैगीषव्य' के शिष्य 'बाभ्रव्य' इस शास्त्र के प्रवर्तक हैं। ऋग्वेद के क्रमपाठ की व्यवस्था भी इन्होंने ही की थी। 'महाभारत-शान्तिपर्व' के अनुसार आचार्य 'गालव' ने एक शिक्षाशास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण किया था। अष्टाध्यायी में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। 'भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना' से 'भारद्वाज-शिक्षा' का प्रकाशन हुआ है ; जिसके रचयिता 'भरद्वाजमुनि' माने जाते हैं। वेदों के शाखा भेद के कारण शिक्षायें भी विविध प्रकार के उच्चारण-

विधानों को प्रस्तुत करती हैं। पाणिनि ने भी एक शिक्षा-ग्रन्थ का प्रणयन किया था, जा पाणिनि-शिक्षा के नाम से प्राप्त होता है। वाराणसी से 'शिक्षा-संग्रह' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, जिसमें अनेक शिक्षायें एकत्र संगृहीत हैं। प्रत्येक वेद की अलग-अलग शिक्षायें हैं। आज केवल यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य-शिक्षा, सामवेद की नारद-शिक्षा, अथर्ववेद की माण्डूकी शिक्षा ही सुव्यवस्थित रूप में उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त भी नारदीय-शिक्षा, गौतम-शिक्षा, केशवी-शिक्षा, लघु अमोघानन्दिनी शिक्षा, आपिशलि-शिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपिका-शिक्षा इत्यादि अनेक शिक्षाग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

ध्वनि का आरोह-अवरोह, उच्चारण की शुद्धता, उच्चारण की कालावधि का परिसीमन आदि शिक्षा के मुख्य विषय हैं। इसके वर्ण्य-विषयों में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान इन छः तत्त्वों की गणना की जाती है। वर्णों के उच्चारणस्थान, प्रयत्न आदि के अतिरिक्त 'साम' अर्थात् श्रुतिमधुर पाठ तथा 'सन्तान' अर्थात् सन्धि को भी कतिपय शिक्षा-ग्रन्थों में विवेच्य विषय बनाया गया है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों को भी इसी वेदाङ्ग में रखा जाता है।

कल्प– षड्वेदाङ्गों में दूसरा वेदाङ्ग 'कल्प' नाम से प्रसिद्ध है। 'कल्प' का मुख्य विषय है-धार्मिक कर्मकाण्डों का प्रतिपादन, यज्ञों का विधान और संस्कारों की व्याख्या। इससे सम्बन्धित ग्रन्थ 'सूत्र-ग्रन्थ' कहलाते हैं। जिन ग्रन्थों में कल्प (यज्ञ-विधान) संगृहीत हैं उन्हें कल्पसूत्र कहते हैं। इनके तीन विभाग हैं- श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र या सुल्वसूत्र। श्रौतसूत्रों में श्रौतयज्ञों का विवेचन है। श्रौतयज्ञ दो प्रकार के हैं-'सोमसंस्था' तथा 'हविःसंस्था। गृह्यसूत्रों में गृह्ययज्ञों का विधान है। इसे 'पाकसंस्था' कहा जाता है। इन तीनों प्रकार के यज्ञों के सातषोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम। हविःसंस्था के प्रकार हैं- अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य और पशुवन्ध। पाकसंस्था के प्रकार हैं- सायंहोत्र, प्रातर्होत्र, स्थालीपाक, नवयज्ञ, वैश्वदेव, पितृयज्ञ और अष्टका। कुल मिलाकर कल्पसूत्रों में बयालिस कर्मों का प्रतिपादन है। चौदह श्रौतयज्ञ, सात गृह्ययज्ञ, पाँच महायज्ञ और सोलह संस्कारयज्ञ।

श्रौतसूत्रों में कात्यायन-श्रौतसूत्र सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। इसमें छब्बीस अध्याय हैं। शतपथब्राह्मण के प्रारंम्भिक नौ काण्डों में विहित क्रियाओं का विधान इसके प्रारम्भिक अठारह अध्यायों में किया गया है। उन्नीसवें अध्याय में सौत्रामणी, बीसवें में अश्वमेध, इक्कीसवें में पुरुषमेध, पितृमेध और सर्वमेध, बाईसवें, तेईसवें और चौबीसवें अध्यायों में एकाह, अहीन तथा सत्र आदि याज्ञिक क्रियायें वर्णित हैं। पच्चीसवें में प्रायश्चित एवं छब्बीसवें में 'प्रवर्ग' पर विचार किया गया है। श्रौतसूत्रों में वैदिक यज्ञों का विवेचन किया गया है।

गृह्यसूत्रों में घरेलू यज्ञों तथा परिवार के लिए आवश्यक धार्मिक कृत्यों का उल्लेख है। गृह्यसूत्रों के तीन भाग हैं। प्रथम में छोटे यज्ञों का वर्णन है, दूसरे भाग में षोडश संस्कारों का वर्णन है। तीसरे में कतिपय मिश्रित विषय हैं, जैसे गृहनिर्माण सम्बन्धी कर्म, श्राद्धकर्म, पितृयज्ञ तथा अन्य लघुक्रियायें। 'कौशिक-गृह्यसूत्र' में चिकित्सा तथा दैवी-विपत्तियों को दूर करने के उपायों का भी समावेश है। इनकी भी संख्या वेदों की शाखाओं पर आधारित है। ऋग्वेद से सम्बन्धित सांख्यायन, शाम्बव्य तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र, सामवेद से सम्बन्धित गोभिल, खादिर और जैमिनि गृह्यसूत्र, शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित-पारस्कर-गृह्यसूत्र, कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्धित-आपस्तम्ब,

हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मानव, वैखानस तथा अथर्ववेद से सम्बन्धित-कौशिक-गृह्यसूत्र प्राप्त होते हैं।

धर्मसूत्रों में यज्ञों का वर्णन न होकर धार्मिक आचारों तथा व्यवहारों का वर्णन प्राप्त होता है। धर्मसूत्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र चारों वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास चारों आश्रमों का वर्णन किया गया है। साथ ही राजा, व्यवहार के नियम, अपराध सम्बन्धी तत्त्व, विवाह, उत्तराधिकार, अन्त्येष्टि क्रियाएँ, तपस्या के नियम आदि विषयों का भी समावेश है। प्रसिद्ध धर्मसूत्र पाँच हैं-आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, गौतम और वशिष्ठ।

व्याकरण-वेद पुरुष का मुख 'व्याकरण' कहा गया है। वेदाङ्गों में इसका अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय आदि का निर्धारण करके अर्थबोध कराना व्याकरणशास्त्र का ही कार्य है-**"व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः अनेनेति शब्दज्ञानजनकं व्याकरणम्"** किस शब्द में कौन सी धातु है कौन सा प्रत्यय है तथा तदनुरूप शब्द का अर्थ क्या हो सकता है, इन तथ्यों का सही ज्ञान व्याकरण के अध्ययन के अभाव में सम्भव नहीं है। किसी ने तो यहाँ तक कहा है कि बहुत पढ़ने के बाद भी व्याकरण का पढ़ना अनिवार्य है। अन्यथा शकृत्=विष्ठा तथा सकृत्='एकबार' में, सकल=सम्पूर्ण तथा शकल=खण्ड में, स्वजन=आत्मीय जन तथा श्वजन=कुत्तों में भेद करना कठिन हो जायगा।

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र ! व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलच्छकलः सकृच्छकृत्।।

व्याकरण की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है, परन्तु सर्वांगपूर्ण, सुव्यवस्थित व्याकरण छठीं शताब्दी ई. पू. से प्रारम्भ हुआ जब महर्षि पाणिनि ने तीन हजार नौ सौ छियान्बे सूत्रों से समन्वित, आठ अध्यायों से संवलित अष्टाध्यायी संज्ञक ग्रन्थ की रचना की। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी 'गागर में सागर' वाली उक्ति को चरितार्थ करने वाला ग्रन्थ है। इसमें कुल आठ अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ बत्तीस पादों में विभक्त है। लौकिक संस्कृत के साथ ही साथ वैदिक भाषा का भी विवेचन पाणिनि की दृष्टि से नहीं बचा है। अष्टाध्यायी पर पतंजलि ने विस्तृत भाष्य की रचना की है, जिसे महाभाष्य संज्ञा से विभूषित किया गया है। कात्यायन ने वार्तिक लिखकर पाणिनि की दृष्टि से कतिपय ओझल तथ्यों का स्पष्टीकरण कर दिया है। इस प्रकार इन तीनों मुनियों (पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि) को पाकर व्याकरण शास्त्र परिपूर्णता को प्राप्त कर लिया है।

आचार्य वररुचि के अनुसार रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह ये व्याकरण के पाँच प्रयोजन हैं- **"रक्षोहागमलत्वसन्देहाः प्रयोजनम्"**। वेदों की रक्षा पद, वर्ण, मात्रा के स्वरूपज्ञान से सम्भव है। 'ऊह' का अर्थ है- नूतन पदों की कल्पना। 'आगम' का ज्ञान भी व्याकरण के अध्ययन के अभाव में असम्भव है। अतः व्याकरणशास्त्र का अध्ययन वेदों के ज्ञान के लिए नितान्त स्पृहणीय है।

निरुक्त-सायणाचार्य ने 'ऋग्वेद-भाष्य भूमिका' में कहा है-**"अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्"** अर्थात् वेदार्थ-बोध के लिए स्वतन्त्र रूप से कठिन शब्दों में

प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना करके अर्थ-निर्धारण करने वाला शास्त्र 'निरुक्त' कहा जाता है। वस्तुतः 'निघण्टु' नामक वैदिक क्लिष्टों पदों के संग्रह की व्याख्या, 'निरुक्त' है। 'निघण्टु' में उन वैदिक पदों का एकत्र संकलन किया गया है, जिनमें सरलता से प्रकृति और प्रत्यय का ज्ञान नहीं हो पाता। महाभारत के एक उल्लेख के अनुसार 'निघण्टु' के रचनाकार का नाम 'काश्यप' है। 'निघण्टु' शब्द की व्युत्पत्ति प्रायः इस प्रकार की जाती है-**"निश्चयेन घटयति पठति शब्दान् इति निघण्टुः"**। निघण्टु पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्यायों में एकार्थक चतुर्थ में अनेकार्थक तथा पंचम में देवता वाचक विशिष्ट शब्दो का संग्रह है। निघण्टु के शब्दों की संख्या एक हजार तीन सौ इकतालिस है।

सम्प्रति उपलब्ध निरुक्त के रचयिता 'यास्क' हैं। कतिपय विद्वान् 'निघण्टु' को भी इन्हीं की रचना मानते हैं। यास्क ने निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों की व्याख्या निरुक्त के प्रथम तीन अध्यायों में की है। निघण्टु के चतुर्थ अध्याय की व्याख्या निरुक्त के अगले तीन अध्यायों में की है। निघण्टु के पंचम अध्याय की व्याख्या निरुक्त के अवशिष्ट छः अध्यायों में की है। निरुक्त में कुल चौदह अध्याय हैं तथा अन्त के दो अध्याय परिशिष्ट रूप हैं। इसमें भी तीन काण्ड हैं। निघण्टु के व्याख्याकार के रूप में 'देवराज यज्वा' का नाम भी प्राप्त होता है। सायणाचार्य ने क्षीरस्वामी तथा अन्य कई आचार्यों का नाम निघण्टु के व्याख्याकारों के रूप में उल्लिखित किया है।

निरुक्त के प्रसिद्ध भाष्यकार के रूप में 'दुर्गाचार्य' का नाम विख्यात है। स्वयं यास्क ने अपने से पूर्ववर्ती अनेक निरुक्तकारों की सत्ता स्वीकार की है। कतिपय विद्वानों के अनुसार यास्क चौदहवें निरुक्तकार हैं। यास्क के अनुसार अन्य निरुक्तकारों के नाम इस प्रकार हैं-अग्रायण, औपमन्यव, औदुम्बरायण, और्णनाभ, कात्थक्य, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शाकपूणि तथा स्थौलाष्ठीवि।

निरुक्त में कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दी गई है तथा यह बतलाया गया है कि कौन सा शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में क्यों रूढ़ हो गया है। निरुक्त का विषय है-वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश तथा धातु का उसके अर्थातिशय के साथ योग-

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकार नाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगो तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।

निरुक्तकार सभी शब्दों को धातुज अर्थात् धातु और प्रत्ययों के योग से उत्पन्न मानते हैं।

वैदिक देवताओं के विषय में भी निरुक्त में विवरण प्राप्त होते हैं। यास्क के अनुसार देवताओं के तीन वर्ग हैं-पृथिवी स्थानीय देवता, अन्तरिक्ष स्थानीय देवता तथा द्युलोक स्थानीय देवता।

छन्द- 'पाणिनि शिक्षा' में छन्द को वेद का 'पाद' बतलाया गया है-'छन्दः पादौ तु वेदस्य'। जिस प्रकार पैरों के बिना किसी जीवधारी की गमन क्रिया असम्भव है, उसी प्रकार वेदमन्त्रों का पाठ छन्दोज्ञान के अभाव में नहीं हो सकता। जहाँ भी पद्यात्मकता होगी वहाँ छन्दात्मकता भी अवश्य होनी चाहिए। सर्वानुक्रमणी नामक ग्रन्थ में कात्यायन ने स्पष्ट कहा है-"यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः" अर्थात् छन्द से यह ज्ञान होता है कि मन्त्र का पाठ कितने

अक्षरपरिमाण में किया जाना चाहिए। सम्पूर्ण ऋग्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद पद्यमय हैं। इनके पाठ की व्यवस्था छन्द पर आधारित हैं। सम्भवतः इसीलिए 'छन्दस्' शब्द वेद का पर्याय बन गया है।

'छन्द' का मुख्य प्रयोजन है-'भाषा का लालित्य'। गद्य को सुनने से मन को वह तृप्ति नहीं मिलती, जो पद्य को सुनने से प्राप्त होती है। पद्यों में शीघ्र स्मरण होने का गुण भी रहता है। वेदाध्ययन में छन्दों का अत्यधिक महत्त्व है। छन्दों के ज्ञानाभाव में वेदाध्ययन पाप माना जाता है।

कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणिका' में सात छन्दों का उल्लेख हुआ है। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, जगती, वृहती, तथा पंक्ति। गायत्री छन्द तीन चरणों का होता है, इसमें कुल अक्षरों की संख्या चौबीस होती है। उष्णिक् अट्ठाईस अक्षरों का छन्द है। अनुष्टुप् में बत्तीस अक्षर, बृहती में छत्तीस अक्षर, पंक्ति में चालीस अक्षर, त्रिष्टुप् में चौआलिस अक्षर तथा जगती छन्द में अड़तालिस अक्षर होते हैं। कात्यायन ने इन सात छन्दों के अनेक भेदों को स्वीकार किया है।

वैदिक छन्दों का सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' है। पिङ्गलरचित 'छन्दःसूत्र' भी वैदिक छन्दों का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन करने वाला ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है। उल्लेखनीय है कि प्रायः सभी वैदिक छन्द आक्षरिक हैं तथा उनके अनेक भेद-प्रभेद किये गये हैं। लौकिक छन्दों का विकास भी वैदिक छन्दों के आधार पर हुआ है।

ज्योतिष-ज्योतिष को वेद का 'नेत्र' कहा गया है-**'ज्योतिषं नेत्रमुच्यते'**। याज्ञिक विधिविधान के लिए तिथि, नक्षत्र, पक्ष, मास, ऋतु तथा सम्वत्सर के ज्ञान की अतीवावश्यकता होती है। इस आवश्यकता के लिए 'वेदाङ्ग ज्योतिष' का अध्ययन अपरिहार्य है। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' से सम्बन्धित दो प्रमुख ग्रन्थ प्राप्त होते हैं- १. याजुष ज्योतिष जिसका सम्बन्ध यजुर्वेद से है। २. ऋक्ज्योतिष जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है।

'वेदाङ्ग ज्योतिष' नामक ग्रन्थ का प्रणयन 'लगध' नामक विद्वान् ने किया है। इसमें सत्ताइस नक्षत्रों की गणना कराई गई है। परवर्ती काल में वराहमिहिर के 'सूर्यसिद्धान्त' ने विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। बाद में चलकर ज्योतिष से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। प्रारम्भ में ज्योतिष के दो भेद किये गये थे-फलित ज्योतिष और गणित ज्योतिष। कालान्तर में इसके होरा, गणित, संहिता, प्रश्न और निमित्त, इन पाँच अङ्गों का विकास हुआ। वेदाङ्ग ज्योतिष में ज्योतिष को वेद का सर्वोत्तम अङ्ग स्वीकार किया गया है। मयूरों की शिखा तथा सर्पों की मणि की भाँति ज्योतिष भी वेदाङ्गों का सिरमौर है-

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्।।

इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि ज्योतिष का जानकार व्यक्ति ही यज्ञ करे। क्योंकि तैत्तिरीय-आरण्यक में कहा गया है कि ब्राह्मण को वसन्तऋतु में क्षत्रिय को ग्रीष्मऋतु में तथा वैश्य को शरदऋतु में अग्नि का आधान करना चाहिए। कुछ यज्ञ सायंकाल में कुछ प्रातःकाल में, कुछ विशिष्ट मासों एवं विशिष्ट पक्षों में किये जाते हैं। इसलिए जो व्यक्ति इस कालविधान-शास्त्र (ज्योतिष) को जानता है वही वेद को जानता है-

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालातिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्।।

उपवेद

वेदों तथा वेदाङ्गों के साथ-साथ उपवेदों का अध्ययन भी वेद-ज्ञान की पूर्णता के लिए अनिवार्य है। 'चरणव्यूह' में चारों वेदों के चार उपवेद बतलाये गये हैं। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद को बतलाया गया है, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद को बतलाया गया है, सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद को बतलाया गया है तथा अथर्ववेद का उपवेद अर्थशास्त्र को बतलाया गया है। परन्तु 'सुश्रुत' एवं 'चरक' के अनुसार आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा गया है। यही मत अधिक तर्कसंगत है क्योंकि अथर्ववेद में आयुर्वेद के अनेक तत्त्व भरे पड़े हैं। चारों उपवेद चार विज्ञान माने जाते हैं। अब क्रमशः इन उपवेदों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है-

१. आयुर्वेद- प्राचीन आयुर्वेद शास्त्री 'आचार्य' सुश्रुत के मत से-जिसमें या जिसके द्वारा आयु प्राप्त हो, आयुर्वृद्धि के सम्बन्ध में ज्ञान हो उस शास्त्र को आयुर्वेद कहते हैं। 'सुश्रुतसंहिता' आयुर्वेद का प्रधान ग्रन्थ है। इसमें लिखा है कि ब्रह्मा ने पहले-पहल एक लाख श्लोकों से समन्वित आयुर्वेदशास्त्र की रचना की, जिसमें एक सहस्र अध्याय थे। ब्रह्मा से इस शास्त्र को प्रजापति ने पढ़ा। प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने सीखा, अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने, इन्द्र से धनवन्तरि तथा धनवन्तरि से सुश्रुत को प्राप्त हुआ है। ब्रह्मा ने आयुर्वेद के आठ भाग करके प्रत्येक भाग को तन्त्र की संज्ञा दी। ये आठ तन्त्र इस प्रकार हैं- १. शल्य तन्त्र २. शालाक्य तन्त्र ३. कायचिकित्सा तन्त्र ४. भूतविद्या तन्त्र ५. कौमारभृत्य तन्त्र ६. अगद तन्त्र ७. रसायन तन्त्र ८. वाजीकरण तन्त्र।

इस अष्टाङ्ग आयुर्वेद के अन्तर्गत देहतत्त्व, शरीरविज्ञान, शस्त्रविद्या, भेषज और द्रव्यगुणतत्त्व, चिकित्सातत्त्व और धात्रीविद्या भी हैं। इनके अतिरिक्त सदृशचिकित्सा (होम्योपैथी), विरोधी चिकित्सा (एलोपैथी), जलचिकित्सा (हाइड्रोपैथी), भी आजकल अभिनव आयुर्वेदीय चिकित्सा-प्रणाली में ग्रहण कर लिये गये हैं।

२. धनुर्वेद- मधुसूदनसरस्वती ने अपने ग्रन्थ 'प्रस्थानभेद' में लिखा है कि 'धनुर्वेद' यजुर्वेद का उपवेद है''। इसमें चार पाद हैं। इसके रचयिता के रूप में 'विश्वामित्र' का नाम आता है। इसका प्रथमपाद दीक्षा पाद, दूसरा संग्रह पाद, तीसरा सिद्ध पाद तथा चौथा प्रयोग पाद के नाम से जाना जाता है। प्रथम पाद में 'धनुष' का लक्षण तथा अधिकारी का निरूपण है। धनुष शब्द यहाँ पर चारों प्रकार के आयुधों का उपलक्षण है। आयुध-'मुक्त', 'अमुक्त', 'मुक्तामुक्त' तथा 'यन्त्र-मुक्त' रूप से चार प्रकार के बतलाये गये हैं। 'चक्र' मुक्त है। खड्गादि अमुक्त हैं। शल्य तथा इसी प्रकार के अन्य हथियार मुक्तामुक्त हैं। बाण यन्त्रमुक्त हथियारों में आता है। मुक्त को 'अस्त्र' तथा 'अमुक्त को 'शस्त्र' कहते हैं। आयुधों को ब्राह्म, वैष्णव, पाशुपत, प्राजापत्य तथा आग्नेय आदि भेद से अनेक प्रकार का माना गया है। क्षत्रिय कुमारों का अधिकार साधिदैवत और समन्त्र रूप में चतुर्विध आयुधों पर होता है। द्वितीय पाद में आचार्य के लक्षण तथा सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्रादि विषयों का संग्रह है। तीसरे पाद में गुरु और विशेष-विशेष साम्प्रदायिक शस्त्र,

उनका अभ्यास, मन्त्र-देवता तथा सिद्धिकरणादि का वर्णन है। चौथे पाद में देवार्चना, अभ्यास तथा सिद्ध आयुधों के प्रयोगों का वर्णन प्राप्त होता है।

३. गान्धर्ववेद– यह सामवेद का उपवेद कहलाता है। यह सामवेद की 'वार्ष्णेय' शाखा से सम्बन्धित है। गान्धर्ववेद अन्य उपवेदों की भाँति सर्वथा व्यवहारात्मक है। ऋषियों के मध्य जो विद्या गान्धर्ववेद कहलाती है, वही सर्वसाधारण के व्यवहार में आने पर संगीत विद्या के नाम से प्रख्यात हुई। गान्धर्ववेद में मूलतः संगीत का विज्ञान है जो मन के उत्तम से उत्तम भावों को उद्दीप्त करने वाला और उसकी चंचलता को मिटाकर स्थिर रूप से उसे परमात्मा के ध्यान में लगा देने वाला है। लोक में यह कला कामशास्त्र के अन्तर्गत रखा जाता है, परन्तु वेद में यह मोक्ष के उपायों में एक प्रधान साधन है।

शौनक मुनि ने 'चरणव्यूह' में बतलाया है कि सामवेदिक संगीत एक सहस्त्र सम्प्रदायों में विभक्त था-'सामवेदस्य किल सहस्त्रभेदाः भवन्ति'। वैदिक युग में तीन ही स्वर प्रधान थे-उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित। कालान्तर में इन्हीं तीन स्वरों से संगीतशास्त्रीय सात स्वरों-षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद का विकास हुआ। उदात्त से निषाद और गान्धार, अनुदात्त से ऋषभ तथा धैवत एवं स्वरित से षड्ज, मध्यम और पञ्चम स्वरों की उत्पत्ति हुई।

पुराणों तथा रामायण और महाभारत में संगीतशास्त्र के विकसित स्वरूप के निदर्शन प्राप्त होते हैं। 'हरिवंश पुराण' में गान्धार राग की प्राचीनता तथा विभिन्न रागरागिनियों, वाद्य-यन्त्रों तथा अनेक प्रकार की नर्तकियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। 'मार्कण्डेय पुराण' में सप्तस्वर, पंचविध ग्रामराग, पंचविध गीत, मूर्च्छनाओं के इक्यावन प्रकार के तानों आदि के विवरण प्राप्त होते हैं।

संगीतशास्त्र का प्रथम वैज्ञानिक ग्रन्थ भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' है। सारङ्गदेवकृत 'संगीत-रत्नाकर' भी इस शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसे संगीतशास्त्र का महाकोश भी कहा जाता है।

४. अर्थशास्त्र– अथर्ववेद या ऋग्वेद के उपवेद स्वरूप अर्थशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र' है। यह ग्रन्थ प्राचीन हिन्दू राजनीति का सिरमौर है। यद्यपि इसे पूर्णरूपेण धार्मिक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता, परन्तु स्थान-स्थान पर तत्कालीन नैतिक विचारों एवं धार्मिक विचारों का विशद वर्णन प्राप्त होता है। राज्य, विधान, अपराध एवं उसके दण्ड, तथा तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक स्थितियों का इस ग्रन्थ में बड़ा व्यवस्थित वर्णन किया गया है।

सच कहा जाय तो इसमें समाजशास्त्र, दण्डनीति और सम्पत्तिशास्त्र इन तीनों विषयों का समावेश है। इस प्रकार यह शब्द बहुत व्यापक अर्थ का बोध कराता है। वार्ता अर्थात् व्यापार सम्बन्धी बातें सम्पत्तिशास्त्र के अन्तर्गत आती हैं। वर्णाश्रम-विभाग और उनके सम्बन्ध में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विचार समाजशास्त्र का विषय है। वेदार्थबोध के लिए भी इस ग्रन्थ का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

अर्थशास्त्र की रचना सूत्र और श्लोक दोनों विधाओं में हुई है। इसके कुछ अंश गद्यबद्ध तथा कुछ पद्यबद्ध हैं। इसमें पन्द्रह प्रकरण, एक सौ पच्चास अध्याय तथा लगभग छः हजार श्लोक हैं। कतिपय विद्वान् 'स्थापत्य' को भी उपवेद मानते हैं। परन्तु इसे किस वेद का उपवेद स्वीकार किया जाय, इस विषय में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त होता। 'स्थापत्य' को चौसठ

कलाओं में एक कला के रूप में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। इस शास्त्र में प्रमुखतः इमारतों इत्यादि के निर्माण से सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञान का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

वेदों के उपाङ्ग

प्राचीन प्रमाणानुसार वेदों के उपाङ्गों में इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, न्याय और मीमांसा को गिना जाता है। न्याय और मीमांसा दोनों दर्शन हैं, अतः इन दोनों को सामूहिक रूप में 'दर्शन-उपाङ्ग' भी कह सकते हैं। तब तन्त्रशास्त्र को चौथा उपाङ्ग मानकर इनकी संख्या चार कर ली जाती है। मीमांसा निरुक्त का आनुषङ्गिक शास्त्र है। धर्मशास्त्र श्रौतसूत्रों का आनुषङ्गिक (शास्त्र) है। पुराण, ब्राह्मणभाग के ऐतिहासिक अंशों का पूरक है।

चौथा उपाङ्ग 'तन्त्र' है। इसके प्रमुखतः तीन विभाग हैं-आगम, यामल और तन्त्र। तन्त्रों में प्रायः उन्हीं विषयों का विस्तार किया गया है, जिनको आधार बनाकर पुराणों की रचना हुई है। साथ ही इसमें कतिपय गुह्यशास्त्रों की सत्ता भी पाई जाती है, जो उन्हीं व्यक्तियों को बतलाई जाती है जो तन्त्रशास्त्र में दीक्षित होते हैं। अब क्रमशः इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है–

१. इतिहास-पुराण– छान्दोग्योपनिषद् में इतिहास एवं पुराण को पाँचवाँ वेद कहा गया है। अधिकांश विद्वान् इतिहास का अर्थ रामायण और महाभारत से लेते हैं तथा पुराण से अट्ठारह पुराण-ग्रन्थों का आशय ग्रहण करते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती का कथन है कि इस स्थल पर इतिहास-पुराण का तात्पर्य ब्राह्मण भाग में उल्लिखित कथाओं से है। वास्तव में इतिहास-पुराण शब्द अनेक ग्रन्थों में द्वन्द्व समास के रूप में व्यवहृत हैं। सायणाचार्य ने पुराण की परिभाषा देते हुए कहा है कि पुराण वह है जो विश्वसृष्टि की आदिम दशा.का वर्णन करता है। ऐतरेय-ब्राह्मण के भाष्य में सायण ने कहा है कि वेद के अन्तर्गत देवासुरसंग्रामादि का वर्णन इतिहास है तथा 'यह असत् था और कुछ न था' इत्यादि जगत् की प्रथमावस्था से लेकर सृष्टि-क्रिया का वर्णन पुराण कहलाता है। इन बातों से यह स्पष्ट होता है कि सर्गादि का वर्णन पुराण है तथा लौकिक कथायें इतिहास हैं। याज्ञवल्क्य-स्मृति में पुराणों के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में पुराण की गणना चर्तुदश विद्याओं में की गई है। पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, चार वेद, छः वेदाङ्ग ये ही चौदह विद्यायें हैं, इनमें सर्वप्रथम पुराण की ही गणना कराई गई है–

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदास्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।

महाभारत में स्पष्ट उद्घोष किया गया है कि इतिहास और पुराणों के द्वारा वेद का उपबृंहण किया जाना चाहिए– **"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्"**।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इतिहास एवं पुराण के आधार पर राजा को कुपथ से रोकने का उल्लेख किया है–

मुख्यैखगृहीतं वा राजानं तत्प्रियाश्रितः।
इतिवृत्तपुराणाभ्यां बोधयेदर्थशास्त्रवित्।।

विष्णु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य आदि पुराणों में पुराणों के पाँच लक्षण बतलाये गये हैं–

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं ज्ञेयं पुराणं पञ्चलक्षणम्।।

सर्ग अर्थात् सृष्टि-विज्ञान, प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय और फिर से सृष्टि, सृष्टि की आदिवंशावली, मन्वन्तर अर्थात् किस-किस मनु का कब तक अधिकार रहा और उस काल में कौन-कौन सी महत्त्वपूर्ण घटनायें घटीं, वंशानुचरित अर्थात् सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओं का संक्षिप्त वर्णन, ये ही पुराणों के प्रतिपाद्य विषय हैं।

२. धर्मशास्त्र– 'श्रुति' शब्द से समस्त वैदिक साहित्य का ग्रहण हो जाता है। इससे विभेद वाचक एक शब्द है-'स्मृति' जिससे धर्मशास्त्र का बोध होता है। "धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।" वेदाङ्गीय सूत्र-ग्रन्थों का पूरक है-धर्मशास्त्र। वस्तुतः धर्मशास्त्र के प्राथमिक अंग के रूप में धर्मसूत्रों का नाम लिया जाता है। स्मृति शब्द से धर्मशास्त्र के मात्र उन्हीं ग्रन्थों का बोध होता है जिनमें प्रजा के लिए उचित आचार-व्यवहार, व्यवस्था और समाज के शासन के निमित्त नीति और सदाचार से सम्बन्धित नियमों की स्पष्ट रूप से व्याख्या की गई है। धर्मशास्त्र के विविध-ग्रन्थों की सूची में धर्मसूत्र, स्मृतियाँ, भाष्य तथा कतिपय अन्य ग्रन्थों को भी सम्मिलित किया जाता है।

महामहोपाध्याय पाण्डुरंग तथा वामन काणे ने अपने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में धर्मशास्त्रं के अन्तर्गत राजनीति के ग्रन्थों तथा अर्थशास्त्र आदि को भी सम्मिलित कर लिया है। मनुस्मृति को हिन्दू-धर्मशास्त्र का प्रतिनिधि-ग्रन्थ माना जाता है। याज्ञवल्क्य-स्मृति में कहा गया है कि–

श्रुतिस्मृतिसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।

धर्म के मूल में श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा स्वयं को प्रिय विचारपूर्वक किया गया कार्य ही आता है। सदाचार अथवा आचार तीन प्रकार का होता है-देशाचार, जात्याचार तथा कुलाचार। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में विभिन्न आचार और प्रथायें प्रचलित रहती हैं, यही देशाचार कहलाती हैं। विभिन्न कुलों में प्रचलित विशिष्ट आचारों को कुलाचार कहा जाता है, इसी प्रकार विविध जातियों में प्रचलित अपने-अपने विशिष्ट आचार-व्यवहार को जात्याचार कहते हैं। ये आचार-व्यवहार स्मृतियों में विहित आचारों-व्यवहारों से अतिरिक्त होते हैं, परन्तु इन्हें भी प्रमाण माना जाता है। 'बृहस्पति स्मृति' में कहा गया है कि देशाचार, जात्याचार तथा कुलाचार का जहाँ भी वे प्राचीन काल से प्रचलित हों, उसी प्रकार आदर करना चाहिए, अन्यथा प्रजा में क्षोभ उत्पन्न होता है, राजा के बल और कोष का नाश होता है। इस प्रकार के आचारों का पालन करने से प्रजा दण्ड अथवा प्रायश्चित की भागी नहीं होती....

देवजातिकुलानाञ्च य धर्माः प्राक्प्रवर्तिता।
तथैव ते पालनीयाः प्रजा प्रक्षुभ्यतेऽन्यथा।।
जनापरक्तिर्भवति बलं कोषञ्च नश्यति।
अनेन कर्मणा नैते प्रायश्चित्तदमार्हकाः।।

संक्षेपतः जिन ग्रन्थों में मानवधर्मों का विशद् वर्णन किया गया है, उन्हें ही धर्मशास्त्र के अन्तर्गत रखा गया है। वेदार्थज्ञान के लिए इनका अध्ययन भी आवश्यक है।

३. न्याय-मीमांसा– न्याय दर्शन में यथार्थज्ञान के साधन 'प्रमाणों' पर विशेष रूप से विचार किया गया है। यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं तथा 'प्रमा' के करण (साधन) को प्रमाण कहा गया है। "प्रमाया: करणं प्रमाणम्"। मीमांसा दर्शन में अन्य विषयों के साथ ही साथ वेद अथवा उसके शब्दों की नित्यता को प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार मन्त्र ही देवता हैं। देवताओं की अलग से कोई सत्ता नहीं है। 'भाट्टदीपिका' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि फल की प्राप्ति कर्म द्वारा होती है। फल के उद्देश्य से ही कर्म किये जाते हैं, अत: कर्म और उनके प्रतिपादक (वेदों) के अतिरिक्त ऊपर से अन्य किसी देवता या ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं, जबकि मीमांसक शब्दनित्यत्व को स्वीकार करते हैं।

मीमांसा द्वारा वेद के शब्दों और वाक्यों के अर्थों का निर्धारण किया जाता है तथा 'न्याय' के द्वारा वेद से प्रतिपाद्य प्रमाणों और पदार्थों का विवेचन किया जाता है।

न्याय दर्शन के ऐतिहासिक प्रवर्तक के रूप में 'गौतम' का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इनका 'गौतमन्यायसूत्र' न्याय दर्शन का प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो लगभग पाँचवीं या चौथी शताब्दी ई.पू. की रचना जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक ग्रन्थ न्याय दर्शन से सम्बन्धित उपलब्ध होते हैं।

मीमांसा दर्शन के प्रणेता के रूप में 'जैमिनि' ऋषि का नाम लिया जाता है। इनकी रचना 'पूर्वमीमांसासूत्र' चौथी-पाँचवीं शताब्दी में रचित है। यह बारह अध्यायों में विभक्त है। इसमें नौ सौ सात अधिकरण हैं। प्रत्येक अधिकरण में कई सूत्र हैं। सूत्रों की संख्या दो हजार सात सौ पैतालिस है। प्रत्येक अधिकरण में पाँच भाग हैं-विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, सिद्धान्त। इन्हीं के माध्यम से वाक्यार्थनिर्णय किया जाता है। मीमांसा दर्शन कर्मप्रधान दर्शन है। इसमें कर्मों की तीन श्रेणियाँ हैं-काम्य, निषिद्ध और नित्य। स्वर्गप्राप्ति के लिए किया जाने वाला यज्ञ काम्य है। वेद में निषेध किए गये कर्म निषिद्ध हैं तथा जिन कर्मों का विधान प्रतिदिन करने के लिए किया गया है वे नित्यकर्म हैं।

४. तन्त्रशास्त्र– तन्त्रशास्त्र का रचयिता 'शिव' को माना जाता है। यह भी कुछ विद्वानों के मत से ऋग्वेद का उपवेद है। इसमें तीन भाग हैं-आगम, यामल और मुख्य तन्त्र। वाराहीतन्त्र के अनुसार जिसमें सृष्टि, प्रलय, देवताओं की पूजा, सत्कर्मों के साधन, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन और चार प्रकार के ध्यान-योग का वर्णन हो उसे 'आगम' कहते हैं। जिसमें सृष्टितत्त्व, ज्योतिष नित्यकृत्य, क्रम, सूत्र, वर्णभेद और युग-धर्म का वर्णन हो उसे 'यामल' कहते हैं। जिसमें सृष्टि-लय, मन्त्रनिर्णय, तीर्थ, आश्रमधर्म, कल्प, ज्योतिषसंस्थान, व्रतकथा, शौच-अशौच, स्त्री-पुरुष-लक्षण, राजधर्म, दानधर्म, युगधर्म, व्यवहार तथा अध्यात्मिक नियमों का वर्णन हो, वह मुख्य तन्त्र भाग है।

यह शास्त्र प्रधानत: शाक्तों से सम्बन्धित है। इसके मन्त्र प्राय: अर्थहीन और एकाक्षरी हैं। जैसे-ह्री, क्लीं, श्रीं, ऐं, क्रूँ आदि। तन्त्रशास्त्र के सिद्धान्त अत्यन्त गुप्त रखे जाते हैं। इसकी शिक्षा लेने के लिए मनुष्य को पहले दीक्षित होना पड़ता है। आजकल मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि तथा अनेक प्रकार की सिद्धियों के लिए तन्त्रोक्त मन्त्रों और क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है। तन्त्रशास्त्र का उद्भव अथर्ववेद-काल से ही हो गया था। परवर्तीकाल में इसका विकास और विस्तार हुआ।

अग्निसूक्तम् (ऋ० १।१)

देवता-अग्नि, ऋषि-मधुच्छन्दा, छन्द-गायत्री

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम्।।१।।

पदपाठ– अ॒ग्निम्। ई॒ळे॒। पु॒रःऽहि॑तम्। य॒ज्ञस्य॑। दे॒वम्। ऋ॒त्विज॑म्। होता॑रम्। र॒त्न॒ऽधात॑मम्।।

सायणभाष्य– अग्निनामकं देवम् ईळे स्तौमि। 'ईड् स्तुतौ' इति धातुः। डकारस्य ळकारो बह्वृचाध्येतृसंप्रदायप्राप्तः। तथा च पठ्यते–'अज्मध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वचा जगुः। अज्मव्यस्थढकारस्य ळ्हकारं वै यथाक्रमम्' इति। मन्त्रस्य होत्रा प्रयोज्यत्वादहं होता स्तौमीति लभ्यते। कीदृशमग्निम्? यजस्य पुरोहितम्। यथा राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं संपादयति, तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं संपादयति। यद्वा, यज्ञस्य संबन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितम्। पुनः कीदृशम्? देवं दानादिगुणयुक्तम्। पुन कीदृशम्? होतारम् ऋत्विजम्। देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विगग्निरेव। तथा च श्रूयते–'अग्निर्वै देवानां होता' (ऐ.ब्रा. ३/१/४) इति। पुनरपि कीदृशम्? रत्नघातमम् यागफलरूपाणां रत्नानामतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा।

अन्वय– यज्ञस्य पुरोहितम् देवम् होतारम् ऋत्विजम् रत्नधातमम् अग्निम् ईळे।

शब्दार्थ– यज्ञस्य पुरोहितम्=यज्ञ के पुरोहित। **देवम्**=प्रकाशयुक्त या दान आदि गुणों से युक्त। **होतारम् ऋत्विजम्**=देवताओं को यज्ञ में बुलाने वाला ऋत्विक;, होतृ (होता) नामक ऋत्विक्। **रत्नधातमम्**=रत्नों का सर्वाधिक दाता या धारणकर्ता; रत्नदाताओं या रत्न धारण करने वालों में श्रेष्ठ। **अग्निम्**=अग्नि (देवता) को। **ईळे**=पूजा करता हूँ, स्तुति करता हूँ, वन्दना करता हूँ।

अनुवाद– यज्ञ के पुरोहित, प्रकाशयुक्त (या दान आदि गुणों से युक्त, देवताओं को यज्ञ में बुलाने वाले ऋत्विक् तथा रत्नों के सर्वाधिक दाता अग्नि (देवता) को मैं पूजता हूँ (अग्नि की स्तुति करता हूँ)।

व्याकरण– यज्ञस्य ✓ यज् + नङ्, षष्ठी एकवचन। देवम् ✓ दिव् + अच्, द्वि. एक.। देवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनात् वा, द्युस्थानो भवतीति वा' (निरुक्त ७।१५)। **होतारम–** ✓ हू + तृन् + द्वि. एक.। **रत्नाधातमम्–**रत्नानि दधाति इति रत्नधाः, रत्नधा + क्विप्, रत्नधा + तमप् = रत्नधातमः (अतिशायी रत्नधा इति रत्नधातमः), द्वि. एक.। ईळे = ईडे

(लौकिक संस्कृत में)। ऋग्वेद में दो स्वरों के मध्य में स्थित डकार को ळकार पढ़ने का नियम है– 'अज्मध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः'। ईडे (=ई ड् ए) दो स्वरों के मध्य में स्थित होने से 'ड्' को 'ळ्' हो गया है। ईड् (स्तुति करना) + लट् लकार उत्तम पुरुष, एकवचन।

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त।
स दे॒वाँ एह व॑क्षति।।२।।

पदपाठ– अ॒ग्निः। पूर्वे॑भिः। ऋषि॑ऽभिः। ईड्यः॑। नूत॑नैः। उ॒त। सः। दे॒वान्। आ। इ॒ह। व॒क्ष॒ति॒।।

सायणभाष्य– अयम् अग्निः पूर्वेभिः पुरातनैर्भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः ऋषिभिः ईड्यः स्तुत्यः; नूतनैः उत इदानींतनैरस्माभिरपि स्तुत्यः। सः अग्निः स्तुतः सन् इह यज्ञे देवान् हविर्भुजः आ वक्ष्यति। वह् प्रापणे' इति धातुः। आवहतु इत्यर्थः।

अन्वय–अग्निः पूर्वेभिः उत नूतनैः ऋषिभिः ईड्यः सः देवान् इह आ वक्षति।

शब्दार्थ– अग्निः=अग्नि (देवता)। **पूर्वेभिः**=प्राचीन। उत=और। **नूतनैः**=नवीन, अर्वाचीन। **ऋषिभिः**=ऋषियों के द्वारा। **ईड्यः**=स्तुत्य, स्तुति करने योग्य, पूजनीय। **सः**=वह (अग्नि देवता)। **देवान्**=देवताओं को। **इह**=यहाँ (=इस यज्ञ में) ले आवे।

व्याकरण– पूर्वेभिः– ✓यह वैदिक रूप है। वेद में कभी-कभी 'बहुलं छन्दसि' सूत्र से भिस् (भिः) को ऐस् (ऐः) आदेश का अभाव हो जाता है। **ईड्यः–** ✓ईड् (स्तुति करना)=ण्यत्। **देवाँ**- पद के अन्त में स्थित न् के पूर्व में आ और बाद में कोई भी स्वर हो तो न् का लोप हो जाता है तथा पूर्ववर्ती का अनुनासिक (आँ) हो जाता है। इस वैदिक विशेषता को सूत्रों की सहायता से इस प्रकार बतलाया जा सकता है–द्वितीया बहुवचन का रूप 'देवान्' है (देवान् आ)। वेद में न को 'दीर्घादटि'–(पा.८।३।९) सूत्र से रुत्व (र्) हो गया (देवाँ र् आ); 'आतोऽटि नित्यम्' (पा. ८।३।३) सूत्र से आ अनुनासिक (आँ) हो गया (देवाँ र् आ); 'भोभगो–' (पा. ८।३।१७) सूत्र से र् का य् हो गया (देवांय् आ); 'लोपःशाकल्यस्य' (पा. ८।३।१९) सूत्र से य् का लोप हो गया। इससे देवाँ रूप निष्पन्न हुआ। **वक्षति–** ✓ वह् (ले जाना) + (लोट् के अर्थ में) लृट् ; स्य प्रत्यय के यकार (य्) का छान्दस् लोप हुआ जिससे वक्ष्यति का वक्षति हो गया। यह लेट् लकार का भी रूप हो सकता है।

अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त्पोष॑मे॒व दि॒वेदि॑वे।
य॒शस॑ वी॒रव॑त्तमम्।।३।।

पदपाठ– अ॒ग्निना॑। र॒यिम्। अ॒श्न॒व॒त्। पोष॑म्। ए॒व। दि॒वेऽदि॑वे। य॒शस॑म्। वी॒रव॑त्ऽतमम्।

सायणभाष्य– योऽयं होत्रा स्तुत्योऽग्निस्तेन अग्निना निमित्तभूतेन यजमानरयिं धनम् अश्नवत् प्राप्नोति। कीदृशं रयिम्। दिवेदिवे पोषम्। एव प्रतिदिनं पुष्यमाणतया वर्धमानमेव, न तु कदाचिदपि क्षीयमाणम्। यशसं दानादिना यशोयुक्तं वीरवत्तमम् अतिशयेन पुत्रभृत्यादिवीरपुरुषोपेतम्। सति हि धने पुरुषाः संपद्यन्ते।

अन्वय– अग्निना दिवेदिवे पोषम् एव यशसं वीरवत्तमं रयिम् अश्नवत्।

शब्दार्थ– अग्निना=अग्नि के द्वारा, अग्नि के माध्यम से। **दिवेदिवे**=प्रतिदिन। **पोषम्**=बढ़ने वाले, वृद्धि को प्राप्त होने वाले। **एव**=ही। **यशसम्**=यश से युक्त, कीर्तिदायक। **वीरवत्तमम्**=श्रेष्ठ वीर पुरुषों से युक्त, पुत्रादि से अतिशय रूप से युक्त। **रयिम्**=धन को। **अश्नवत्**=प्राप्त करे।

अनुवाद– (अग्नि की पूजा करने वाला मनुष्य) अग्नि के माध्यम से प्रतिदिन वृद्धि (पुष्टि) को ही प्राप्त होने वाले यश से युक्त (कीर्तिदायक) और श्रेष्ठ वीर पुरुषों से युक्त धन को प्राप्त करे (अर्थात् अग्नि के द्वारा यजमान ऐसा धन प्राप्त करे, जो प्रतिदिन बढ़ने ही वाला हो और जो यश तथा श्रेष्ठ वीर पुरुषों से समन्वित हो)।

व्याकरण– दिवेदिवे– दिव शब्द का सप्तमी का एकवचन। **पोषम्–** ✓ पुष् + घञ्। **यशसम्–** यशः अस्य अस्ति इति, यशस् + अच्। **वीरवत्तमम्–** वीर + मतुप् + तमप्। **अश्नवत्–** ✓ अश् (प्राप्त करना या व्याप्त करना) + लेट्, प्र. पु. एक.।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद्देवेषु गच्छति।। ४।।

पदपाठ– अग्ने। यम्। यज्ञम्। अध्वरम्। विश्वतः। परिऽभूः। असि। सः। इत्। देवेषु। गच्छति।।

सायणभाष्य– हे अग्ने त्वं यं यज्ञं विश्वतः सर्वासु दिक्षु परिभूः परितः प्राप्तवान् असि सः इत् स एव यज्ञो देवेषु तृप्तिं प्रणेतुं स्वर्गे गच्छति। प्राच्यादि-चतुर्दिगन्तेषु आहवनीयमार्जालीयगार्हपत्याग्नीध्रीयस्थानेषु अग्निरस्ति। परिशब्देन होत्रीयादिधिष्ण्यव्याप्तिर्विवक्षिता। कीदृशं यज्ञम्? अध्वरं हिंसारहितम्। न ह्यग्निना सर्वतः पालितं यज्ञं राक्षसादयो हिंसितुं प्रभवन्ति।

अन्वय– अग्ने! यम् अध्वरं यज्ञं विश्वतः परिभूः असि सः इत् देवेषु गच्छति।

शब्दार्थ– अग्ने=हे अग्नि! **यम्**=जिस। **अध्वरम्**=हिंसारहित। **यज्ञम्**=यज्ञ को। **विश्वतः**=चारो ओर से। **परिभूः असि**=व्याप्त करके स्थित होते हो। **सः**=वह। **इत्**=ही। **देवेषु**=देवताओं में। **गच्छति**=जाता है, पहुँचता है।

अनुवाद– हे अग्नि! (तुम) जिस हिंसारहित यज्ञ को चारों ओर से व्याप्त करके स्थित होते हो वह (यज्ञ) ही देवताओं में जाता है (देवताओं को प्राप्त होता है)।

व्याकरण– विश्वतः– विश्व + तसिल्। **परिभूः**– परि + ✓भू + क्विप्। **असि**– ✓अस् + लट्, म.पु., एक.। **गच्छति**– ✓ गम् + लट्, प्र. पु., एक.।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरागमत्।। ५।।

पदपाठ– अग्निः। होता। कविऽक्रतुः। सत्यः। चित्रश्रवःऽतमः। देवः। देवेभिः। आ। गमत्।।

सायणभाष्य– अयम् अग्निः देवः अन्यैर्देवैर्हविर्भोजिभिः सह आ गमत् अस्मिन् यज्ञे समागच्छतु। कीदृशोऽग्निः। होता होमनिष्पादकः। कविक्रतुः। कवि शब्दोऽत्र क्रान्तवचनो न तु मेधाविनाम। क्रतुः प्रज्ञानस्य कर्मणो वा नाम। ततः क्रान्तप्रज्ञः क्रान्तकर्मा वा। सत्यः अनृतरहितः फलमवश्यं प्रयच्छतीत्यर्थः। चित्रश्रवस्तमः। श्रूयते इति श्रवः कीर्तिः। अतिशयेन विविधकीर्तियुक्तः।।

अन्वय– होता कविक्रतुः सत्यः चित्रश्रवस्तम अग्निः देवः देवेभिः आगमत्।

शब्दार्थ– होता=(देवताओं को) बुलानेवाला, (देवताओं का) आह्वान करने वाला। **कविक्रतुः**= कवि की प्रज्ञा (क्रतु) वाला, उत्कृष्ट (या प्रशंसनीय) बुद्धि (या कर्म) वाला, क्रान्तप्रज्ञ अर्थात् भूत, भविष्य एवं वर्तमान को जानने वाला। **सत्यः**=सत्यशील। **चित्रश्रवस्तमः**=अतिशय रूप में (अर्थात् अत्यधिक मात्रा में) विविध कीर्तियों वाला। **अग्निः**=अग्नि। **देवः**=देवता। **देवेभिः**=देवताओं के साथ। **आगमत्**=आवे।

अनुवाद– (यज्ञ में देवताओं को) बुलाने वाला, उत्कृष्ट बुद्धि (या कर्म) वाला, सत्यशील (अर्थात् निश्चय ही याग के फलों को देने वाला) तथा अतिशय रूप में विविध कीर्तियों (यश) वाला अग्नि देवता (अन्य) देवताओं के साथ (इस यज्ञ में) आवे।

व्याकरण– कविक्रतुः- कविः क्रतुः यस्य सः–बहुव्रीहि। **चित्रश्रवस्तमः**- चित्रं श्रवः (यशः) यस्य सः चित्रश्रवाः, अतिशायी चित्रश्रवाः इति चित्रश्रवस्तमः (बहुव्रीहि), चित्रश्रवस् + तमप्। **देवेभिः**- देवैः (लौकिक संस्कृत), तृ. बहु.; यह वैदिक रूप है। वेद में कभी-कभी 'बहुलं छन्दसि' सूत्र से भिस् (भिः) को ऐस् (ऐः) आदेश का अभाव हो जाता है। **गमत्**- गम् + लेट्, प्र. पु. एक.। सायण ने इसे लोट् मानकर कहा है कि छत्व का अभाव तथा उकार का लोप छान्दस् है। **गमत्**- गच्छतु। ✓ गम् + लोट् + प्र. पु. ए.। (वैदिकरूप)

यदुङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भुद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सुत्यमङ्गिरः।। ६।।

पदपाठ– यत्। अुङ्ग। दाशुषे। त्वम्। अग्ने। भुद्रम्। कुरिष्यसि। तव। इत्। तत्। सुत्यम्। अुङ्गिरुः।।

सायणभाष्य– अङ्ग इत्यभिमुखीकरणार्थो निपातः। अङ्ग अग्ने! हे अग्ने त्वं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तत्प्रीत्यर्थं यत् भद्रं वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणं करिष्यसि तत् भद्रं तव इत् तवैव। सुखहेतुरिति शेषः। हे अङ्गिरः! अग्ने एतच्च सत्यं, न त्वत्र विसंवादोऽस्ति। यजमानस्य वित्तादिसंपत्तौ सत्यामुत्तरक्रत्वनुष्ठानेनाग्नेरेव सुखं भवति।

अन्वय– अङ्ग अग्ने! त्वं दाशुषे यत् भद्रं, करिष्यसि, अङ्गिरः! तत् तव इत् सत्यम्।

शब्दार्थ– अङ्ग अग्ने=हे अग्नि। **त्वम्**=तुम। **दाशुषे**=हवि प्रदान करने वाले (यजमान) के लिए, दान करने वाले (यजमान) के लिए। **यत्**=जो। **भद्रम्**=कल्याणकारी कर्म। **करिष्यसि**=करते हो, **अङ्गिरः**=हे अङ्गारमय अग्नि, हे अङ्गिरा मुनि को जन्म देने वाले अग्नि। **तत्**=वह। **तव**=तुम्हारा, **इत्**=ही। **सत्यम्**=सत्य है।

अनुवाद– हे अग्नि! तुम हवि प्रदान करने वाले (अथवा दान करने वाले) (यजमान) के लिए जो कल्याण (कल्याणकारी कर्म) करोगे, हे अङ्गिरा (अङ्गारमय अग्नि)! वह तुम्हारा ही (अर्थात् तुम्हारे ही सुख का साधन) है– यह बात सत्य है।

व्याकरण– अङ्ग– किसी को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए प्रयुक्त सम्बोधनात्मक निपात। **दाशुषे**– दाशृ (देना) + क्वसु प्रत्यय, च.एक.।

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्।
नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि।। ७।।

पदपाठ– उप॑। त्वा॒। अ॒ग्ने॒। दि॒वेऽदि॑वे। दोषा॑ऽवस्तः। धि॒या। व॒यम्। नमः॑। भर॑न्तः। आ। इ॒म॒सि॒।।

सायणभाष्य– हे अग्ने वयम् अनुदातारः दिवेदिवे प्रतिदिनं दोषावस्तः रात्रावहनि च धिया बुद्ध्या नमः भरन्तः नमस्कारं सम्पादयन्तः उप समीपे त्वा एमसि त्वामागच्छामः।।

अन्वय– दोषावस्तः अग्नेः! वयं दिवेदिवे नमः भरन्तः त्वा उप वा इमसि।

शब्दार्थ– दोषावस्तः=रात्रि (दोषा) को प्रकाशित करने वाले। **अग्ने**=हे अग्नि! **वयम्**=हम लोग। **दिवेदिवे**=प्रतिदिन। **धिया**=बुद्धि से, स्तुति से, श्रद्धा से। **नमः**=नमस्कार। **भरन्तः**=करते हुए। **त्वा**=तुम्हारे। **उप**=समीप। **आ इमसि**=आते हैं।

अनुवाद– हे रात्रि को प्रकाशित करने वाले अग्नि! हम लोग प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक नमस्कार करते हुए तुम्हारे समीप आते हैं।

व्याकरण– भरन्तः– ✓ भृ (धारण करना) + शतृ + प्र. बहु.। **इमसि**– इमः (लौकिक संस्कृत); ✓ इ (जाना) + उ. पु., बहु.; 'इदन्तो मसि' सूत्र से वेद में कभी-कभी 'मः' का 'मसि' हो जाता है।

राज॑न्तमध्व॒राणां॑ गो॒पामृ॒तस्य॒ दीदि॑विम्।
वर्ध॑मानं॒ स्वे दमे॑।। ८।।

पदपाठ– राज॑न्तम्। अ॒ध्व॒राणा॑म्। गो॒पाम्। ऋ॒तस्य॑। दीदि॑विम्। वर्ध॑मानम्। स्वे॑। दमे॑।।

सायणभाष्य– पूर्वमन्त्रे 'त्वामुपैम इत्यग्निमुद्दिश्योक्तम्। कीदृशं त्वाम्। राजन्तं दीप्यमानम् अध्वराणां राक्षसकृतहिंसारहितानां यज्ञानां गोपां रक्षकम् ऋतस्य सत्यस्यावश्यंभाविनः कर्मफलस्य दीदिविं पौनःपुन्येन भृशं वा द्योतकम्। आहुत्याधारमग्निं दृष्ट्वा शास्त्रप्रसिद्धं कर्मफलं स्मर्यति। स्वे दमे स्वकीयगृहे यज्ञशालायां हविर्भिः वर्धमानम्।।

अन्यव– राजन्तम् अध्वराणां गोपाम् ऋतस्य दीदिविं स्वे दमे वर्धमानम्।

शब्दार्थ– राजन्तम्=देदीप्यमान, प्रकाशित होते हुए। **अध्वराणाम्**=हिंसा-रहित यज्ञों के। **गोपाम्**=रक्षक। **ऋतस्य**=सत्य के (अथवा कर्मफल के)। **दीदिविम्**=प्रकाशक (अथवा द्योतक)। **स्वे दमे**=अपने घर (यज्ञ-शाला) में। **वर्धमानम्**=बढ़ते हुए।

अनुवाद–देदीप्यमान (प्रकाशित होते हुए), हिंसारहित यज्ञों के रक्षक, सत्य के प्रकाशक (अथवा यज्ञ-फल के द्योतक) और अपने घर (= यज्ञशाला) में बढ़ते हुए (तुम्हारे समीप हे अग्नि! हम आते हैं)। (अग्नि में आहुति डालते समय अग्नि को देखकर शास्त्र-प्रसिद्ध यज्ञ-फल का स्मरण हो जाता है। अतएव अग्नि को यज्ञफल का द्योतक कहा गया है)।

व्याकरण– राजन्तम्- ✓ राज् (प्रकाशित होना) + शतृ, द्वितीया, एक.। **दीदिविम्**- ✓ दिव् (प्रकाशित होना) + क्विन्, द्वित्व हुआ है। **वर्धमानम्**- ✓ वृध् (बढ़ना) + शानच् + द्वि.ए.।

स नः पितेवं सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये।।९।।

पदपाठ– सः। नः। पिताऽइव। सूनवे। अग्ने। सुऽउपायनः। भव। सचस्व। नः। स्वस्तये।।

सायणभाष्य– हे अग्ने सः त्वं नः अस्मदर्थं सूपयानः शोभनप्राप्तियुक्तः भव। तथा नः अस्माकं स्वस्तये विनाशराहित्यार्थं सचस्व समवेतो भव। तत्रोभयत्र दृष्टान्तः। यथा सूनवे पुत्रार्थं पिता सुप्रापः प्रायेण समवेतो भवति, तद्वत्।

अन्वय–अग्ने:! सः सूनवे पिता इव नः सूपायनः भव। स्वतस्तये नः सचस्व।

शब्दार्थ– अग्ने=हे अग्ने! **सः**=वह(तुम)। **सूनवे**=पुत्र के लिए। **पिता इव**=पिता की तरह। **नः**=हमारे लिए। **सूपायनः**=आसानी से पहुँचने योग्य, सरलता से पहुँचने योग्य, सुगम। **भव**=होवो, बन जाओ। **स्वस्तये**=कल्याण के लिए। **नः**=हमारे। **सचस्व**=साथ रहो।

अनुवाद– हे अग्नि! वह (तुम) पुत्र के लिए पिता की तरह हमारे लिए सरलता से पहुँचने योग्य बन जाओ (सुगम बनो) (अर्थात् जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के लिए आसानी से पहुँचने योग्य होता है, उसी प्रकार तुम हमारे लिए पहुँचने योग्य होवो)। (हमारे) कल्याण के लिए हमारे साथ रहो।

व्याकरण– सूपायनः-सु + उप + ✓ इ + युच्, सुखेन उपायनं यस्य सः सूपायनः। **भव**- ✓ भू + लोट्, म. पु., एक.। **स्वस्तये-सु** + ✓ अस् + क्तिन्, च. एक.। लौकिक संस्कृत में स्वस्ति के रूप नहीं चलते। यह अव्यय है। सचस्व- ✓ सच् + म. पु., एक. छान्दस् दीर्घता।

●

सवितृसूक्तम् (ऋग्वेद-१/३५)

देवता- सविता; ऋषि-हिरण्यस्तूप- छन्द- १, ९ जगती अन्य त्रिष्टुप्

सं. पा.- १

ह्वया॑म्य॒ग्निं प्र॑थ॒मं स्व॒स्तये॒ ह्वया॑मि मि॒त्रावरु॑णावि॒हाव॑से।
ह्वया॑मि रात्रीं॒ जग॑तो नि॒वेश॑नीं॒ ह्वया॑मि दे॒वं स॑वि॒तार॑मू॒तये॑।।१।।

पदपाठ- ह्वया॑मि। अ॒ग्निम्। प्र॒थ॒मम्। स्व॒स्तये॑।
ह्वया॑मि। मि॒त्रावरु॑णौ। इ॒ह। अव॑से।
ह्वया॑मि रात्री॑म्। जग॑तः। नि॒ऽवेश॑नीम्।
ह्वया॑मि दे॒वम्। स॒वि॒तार॑म्। ऊ॒तये॑।।

सायणभाष्य- स्वस्तये अस्माकमविनाशाय। 'स्वस्तीत्यविनाशनाम्' (निरु. ३/२१) इति यास्कः। प्रथमम् आदौ अग्निं ह्वयामि। इह अस्मिन् कर्मणि अवसे अस्मद्रक्षणणाय मित्रावरुणौ ह्वयामि। जगतः जङ्गमस्य प्राणिजातस्य निवेशनीम् उपनिवेशनहेतुभूतां रात्रीं रात्रिदेवतां ह्वयामि। जङ्गमाः सर्वे प्राणिनः दिवसे स्वस्वव्यापारान् कृत्वा स्वस्वगृहे रात्रौ उपविशन्तीति प्रसिद्धम्। ऊतये अस्मद्रक्षणार्थं सवितारं देवं ह्वयामि।।१।।

अन्वय- प्रथमम् अग्निम् स्वस्तये ह्वयामि। इह अवसे मित्रावरुणौ ह्वयामि। जगतः निवेशनीं रात्रीं ह्वयामि। ऊतये सवितारं देवं ह्वयामि।।

शब्दार्थ- प्रथमम्=सर्वप्रधान, सर्वप्रथम। **अग्निम्**=अग्नि (देव) को। **स्वस्तये**=कल्याण के लिए। **ह्वयामि**=बुलाता हूँ। **इह**=यहाँ, इस स्थल पर। **अवसे**=रक्षा के लिए। **मित्रावरुणौ**=मित्र तथा वरुण को। **ह्वयामि**=बुलाता हूँ। **जगतः**=जङ्गम लोक को, गतिशील प्राणियों को। **निवेशनीं**= आराम देने वाली। **रात्रीम्**=रात्रि को। **ह्वयामि**=बुलाता हूँ। **ऊतये**=रक्षा के लिए, सहायता के लिए। **सवितारं**=सवितृ (देव) को। **ह्वयामि**=बुलाता हूँ।

अनुवाद- (मैं) सर्वप्रधान (देव) अग्नि को (अपने) कल्याण के लिए बुलाता हूँ। यहाँ (अपनी) रक्षा के लिए मित्र तथा वरुण (देवताओं) को बुलाता हूँ। (सभी) गतिशील प्राणियों को आराम देने वाली रात्रि (देवी) को बुलाता हूँ। अपनी रक्षा (अथवा सहायता) के लिए सवितृ देव को बुलाता हूँ।।

व्याकरण- ह्वयामि= ✓ह्वे + लट् उ.पु., ए.व.। **स्वस्तये**= सु उपसर्ग +✓ अस् + क्तिन् प्रत्यय + चतुर्थी ए.व.। **अवसे**=✓अव + असे (तुमर्थक वैदिक प्रत्यय) लौकिक संस्कृत

में अवितुम् बनता है। **मित्रावरुणी**- यह देवता द्वन्द्व समास है इस पद में दो उदात्त स्वर हैं। देवता द्वन्द्वे च (पा.सू. ७/३/२१) मित्र पद के अन्तिम स्वर की वृद्धि होकर 'मित्रा' हो गया है। **निवेशनीम्**- नि उपसर्ग +✓विश् + ल्युट् (अन) प्रत्यय + ङीप् प्रत्यय + द्वि.ए.व.। **सवितारम्**- ✓सू + तृच् प्रत्यय + द्वि.ए.व.। **ऊतये**- ✓अव् + क्तिन् प्रत्यय + च.ए.व.।

सं. पा. २

आ कृष्णेन। रजसा। वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्।।२।।

पदपाठ– **आ। कृष्णेन। रजसा। वर्तमानः। निऽवेशयन् अमृतम्। मर्त्यम्। च। हिरण्ययेन। सविता। रथेन। आ। देवः। याति। भुवनानि। पश्यन्।।२।।**

सायणभाष्य– सविता सूर्यः कृष्णेन रजसा कृष्णवर्णेन लोकेन। 'कृष्णं कृष्यते निकृष्टो वर्णः' (निरु. २/२०) इति यास्कः। 'लोका रजांस्युच्यन्ते' (निरु. ४/१९) इति च। अन्तरिक्षलोको हि सूर्यागमनात् पुरा कृष्ण वर्णो भवति। तेनान्तरिक्षमार्गेण आ वर्तमानः पुनः पुनरागच्छन् अमृतं देवं मर्त्यं मनुष्यं च निवेशयन् स्वस्वस्थानेऽवस्थापयन्। यद्वा। अमृतं मरणरहितं प्राणं मर्त्यं मरणसहितं शरीरं च निवेशयन्। तथा चारण्यकाण्डे 'अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः' (ऋ. सं. १/१६४/३८) इत्येतस्य मन्त्रभागस्य व्याख्यानरूपे **ब्राह्मणे यथोक्तोऽर्थोऽवगम्यते**– 'मर्त्यानि हीमानि शरीराणि अमृतैषा देवता' (ऐ. ब्रा. २/१/८) इति। **यथोक्तगुणोपेतः** सविता देवः भुवनानि सर्वान् पश्यन् अवेक्षमाणः प्रकाशयन्नित्यर्थः। हरिण्ययेन सुवर्णनिर्मितिन रथेन आ याति अस्मत्समीपमागच्छति।।२।।

अन्वय– कृष्णेन रजसा आवर्तमानः अमृतं मर्त्यं च निवेशयन् भुवनानि पश्यन् सविता देवः हिरण्ययेन रथेन आ याति।

शब्दार्थ– **कृष्णेन**=अन्धकारमय, काले रंग वाले। **रजसा**=लोक से, अन्तरिक्ष से। **आवर्तमानः**=पुनः पुनः लौटता हुआ। **अमृतम्**=देवताओं को। **मर्त्यं**=मनुष्यों को। **च**=और **निवेशयन्**=(अपने -अपने) कार्यों में प्रवृत्त कराता हुआ। **भुवनानि**=लोकों को, **पश्यन्**=देखता हुआ। **सविता देवः**=सविता देव। **हिरण्ययेन**=स्वर्णिम, सुवर्ण निर्मित। **रथेन**=रथ से। **आ याति**=आ रहा है।

अनुवाद– अन्धकारमय लोक (अन्तरक्षि) से पुनः पुनः लौटता हुआ, देवताओं को और मनुष्यों को (अपने-अपने) कार्यों में प्रवृत्त कराता हुआ (तथा) (सम्पूर्ण) लोकों को देखता हुआ सविता देव स्वर्णनिर्मित रथ से आ रहा है।

व्याकरण– **वर्तमानः**- ✓वृत् + शानच् प्रत्यय + प्र.ए.व.। **निवेशयन्**- नि उपसर्ग + ✓ विश् + णिच् + शतृ + प्रत्यय प्र.ए.व.। **हिरण्ययेन**- हिरण्यय + मयट् प्रत्यय=हिरण्यमय, किन्तु मकार का लोप होकर हिरण्यय बना। इसी शब्द के तृ.ए.व. का रूप। पश्यन्= ✓ दृश् (पश्य) + शतृ प्रत्यय + प्र.ए.व.। याति= ✓या + लट् प्र.पु.ए.व.।

सं. पा.- ३

याति देवः प्रवता यात्युद्वता याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम्।
आ देवो याति सविता परावतोऽप विश्वा दुरिता बाधमानः।।३।।

पदपाठ– याति। देवः। प्रऽवता। याति। उत्ऽवता। याति। शुभ्राभ्याम्। यजतः। हरिऽभ्याम्। आ। देवः। याति। सविता। पराऽवतः। अप। विश्वा। दुःऽइता। बाधमानः।।३।।

सायणभाष्य– देवः दीप्यमानः सविता प्रवता प्रवणता मार्गेण याति गच्छति तथा उद्वता उत्कृष्टेनोर्ध्वदेशयुक्तेन मार्गेण याति उदयानन्तरम् आमध्याह्नमूर्ध्वो मार्गः तत उपरि आ सायं प्रवणो मार्ग इति विवेकः। तथा यजतः यष्टव्यः स देवः शुभ्राभ्यां श्वेताभ्यां हरिभ्याम् अश्वाभ्यां याति देवयजनदेशे गच्छति। सविता देवः विश्वा दुरिता सर्वाणि पापानि अप बाधमानः विनाशयन् दूर देशात्। 'परावतः' (नि. ३/२६/५) इति दूरनामसु पठितवात्। तादृशात् द्युलोकात् आ याति यागदेशे आगच्छति।।

अन्वय– देवः प्रवता याति। उद्वता याति। यजतः सविता देवः शुभ्राभ्यां हरिभ्यां याति विश्वा दुरिता अप बाधमानः परावतः आ याति।।

शब्दार्थ– देवः=देव। **प्रवता**=निचले मार्ग से, अधोगामी मार्ग से। **याति**=जाता है, गमन करता है। **उद्वता**=ऊँचे मार्ग से, उपरिगामी मार्ग से। **याति**=जाता है, गमन करता है। **यजतः**=पूजनीय, यजनीय। **सविता देवः**=सविता देव। **शुभ्राभ्याम्**=श्वेत वर्ण के। **हरिभ्याम्**=दो घोड़ों से। **याति**=गमन करता है। **विश्वा दुरिता**=सम्पूर्ण पापों को। **अप बाधमानः**=पूर्णतः विनष्ट करता हुआ। **परावतः**=बहुत दूर से। **आ याति**=आता है।।

अनुवाद– देव (सविता) अधोगामी मार्ग से जाता है। उपरिगामी मार्ग से जाता है। पूजनीय सविता देव श्वेतवर्ण वाले दो घोड़ों से गमन करता है। (सविता देव) सम्पूर्ण पापों को पूर्णतः विनष्ट करता हुआ बहुत दूर से आता है।।

व्याकरण– प्रवता=प्र उपसर्ग +✓वन् + क्विप् प्रत्यय + तृ. ए. व.। **उद्वता**=उत् उपसर्ग +✓वन् क्विप् प्रत्यय + तृ. ए. व.। **यजतः**=✓यज् + अतच् प्रत्यय + प्र.ए.व.। **दुरिता**= दुः +✓इ + क्त प्रत्यय + प्र. ब. व. वैदिक रूप लौकिक संस्कृत में दुरितानि बनता है। **बाधमानः**=✓बाध् + शानच् प्रत्यय + प्र. ए. व.।।

सं. पा. - ४

अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्।
आस्थाद्रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः।।४।।

पदपाठ– अभिऽवृतम्। कृशनैः। विश्वऽरूपम्। हिरण्यऽशम्यम्। यजतः। बृहन्तम्। आ। अस्थात्। रथम्। सविता। चित्रऽभानुः। कृष्णा। रजांसि। तविषीम्। दधानः।

सायणभाष्य– सविता रथम् आस्थात् आ स्थितवान् आरूढवानित्यर्थः। कीदृशम्। अभीवृतम् अभितोवर्तमानम्। तथा कृशनैर्विश्वरूपं सुवर्णेन नानारूपम्। 'कृशनं लोहम्' (नि. १.२.६) इति सुवर्णनामसु पाठात्। क्वचित् सुवर्णनिर्मितगजपङ्क्तिः क्वचिदश्वपङ्क्तिः क्वचिन्मनुष्यपङ्क्तिरित्येवं बहुरूपत्वम्। हिरण्यशम्यम्। अश्वानां स्कन्धेषु रथयोजनबेलायां नियन्तुं प्रक्षेप्यमाणाः शङ्कवः शम्याः ताः सुवर्णमय्यो रथे वर्तन्ते। बृहन्तं प्रौढम्। कीदृशः सविता। यजतः यष्टव्यः चित्रभानुः विविधरश्मियुक्तः कृष्णा रजांसि अन्धकारयुक्ततया कृष्णवर्णान् लोकानुद्दिश्य तमोनिवारणार्थं तविषीं बलं स्वकीयं प्रकाशयरूपं दधानः।

अन्वय– कृशनैः अभीवृतं विश्वरूपं हिरण्यशम्यम् बृहन्तं रथं यजतः चित्रभानुः सविता कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः आ अस्थात्।

शब्दार्थ– कृशनैः=सुवर्णों से। **अभीवृतम्**=जटित, घिरे हुए। **विश्वरूपम्**=विविध रूपों वाले। **हिरण्यशम्यम्**=सुवर्ण की कील वाले। **बृहन्तम्**=विशाल, ऊँचे। **रथम्**=रथ पर। **यजतः**=यजनीय, पूजनीय। **चित्रभानुः**=विविध किरणों वाला। **सविता**=सविता देवता। **कृष्णा**=अन्धारयुक्त। **रजांसि**=लोकों के (विरुद्ध)। **तविषीम्**=बल को, **दधानः**=धारण करता हुआ। **आ अस्थात्**=आरूढ़ हो गया है।

अनुवाद– सुवर्णों से जटित (घिरे हुए), विविध रूपों वाले विशाल रथ पर (स्थित) पूजनीय (एवं) विविध किरणों वाला सविता देव अन्धकार युक्त लोकों के (विरुद्ध) बल को (अर्थात् प्रकाश को) धारण करता हुआ आरूढ़ हो गया है।

व्याकरण– अभीवृतम्=अभि उपसर्ग +✓ वृत् + क्विप् प्रत्यय + द्वि.ए.व.। छान्दस् दीर्घता। **कृष्णा**=कृष्णानि का वैदिक रूप। **बृहन्तम्**= ✓बृह + शतृ प्रत्यय + द्वि.ए.व.। **अस्थात्**= ✓स्था + लुङ् + प्र.पु.ए.व.। **दधानः**= ✓धा शानच् प्रत्यय प्र.ए.व.।

सं. पा. - ५

वि जनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यन् रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः।
शश्वद्विशः सवितुर्दैव्यस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः।।५।।

पदपाठ– वि। जनान्। श्यावाः। शितिऽपादः। अख्यन्। रथम् हिरण्यप्रउगम्। वहन्तः। शश्वत्। विशः। सवितुः। दैव्यस्य। उपऽस्थे। विश्वा। भुवनानि। तस्थुः।

सायणभाष्य– श्यावाः एतन्नामकाः सूर्यस्याश्वाः। 'श्यावाः सवितुः' (नि. १/१५/८) इति निघण्टावुक्तत्वात्। ते च शितिपादः श्वेतैः पादैरुपेताः हिरण्यप्रउगम्। रथस्य मुखम् ईषयोरग्रं युगबन्धनस्थानं प्रउगमित्युच्यते। तच्चात्र सुवर्णमयम्। तद्युक्तं रथं वहन्तः जनान् प्राणिनः वि अख्यन् विशेषेण प्रकाशितवन्त इत्यर्थः। शश्वत् सर्वदा विशः प्रजाः दैव्यस्य इतरदेवसम्बन्धिनः सवितुः प्रेरकस्य सूर्यस्य उपस्थे समीपस्थाने तस्थुः स्थितवत्यः। न केवलं प्रजाः किं तर्हि विश्वा भुवनानि सर्वे च लोकाः प्रकाशाय सूर्यसमीपे तस्थुः।

अन्वय– शितिपादः हिरण्यप्रउगं रथं वहन्तः श्यावाः जनान् वि अख्यन् शश्वत् विशः विश्वा भुवनानि सवितुः दैव्यस्य उपस्थे तस्थुः।

शब्दार्थः– शितिपादः=श्वेत पैरों वाला। **हिरण्यप्रउगम्**=सुवर्ण निर्मित कील वाले। **रथम्**=रथ को। **वहन्तः**=खींचते हुए। **श्यावाः**=सवितृ देव के अश्वों ने। **जनान्**=लोगों को, प्राणियों को। **वि अख्यन्**=विशेष रूप से प्रकाशित किया है। **शश्वत्**=सर्वदा। **विशः**=प्रजायें। **विश्वा भुवनानि**=सम्पूर्ण लोक। **सवितुः दैव्यस्य**=सवितृ देव के। **उपस्थे**=गोद में, समीप स्थित स्थान में। **तस्थुः**=स्थित हैं।

अनुवाद– सुवर्णनिर्मित कील वाले रथ को खींचते हुए श्वेत पैरों वाले, सवितृ देव के अश्वों ने लोगों को (प्राणियों को) विशेष रूप से प्रकाशित किया है। सर्वदा प्रजायें एवं सम्पूर्ण लोक सवितृ देव के समीप स्थित स्थान में स्थित हैं।

व्याकरण– जनाञ्छ्यावाः=जनान् + श्यावाः 'शि तुक्' (पा. सू. ८/३/३१) से तुक् आगमविकल्पसे=जनान् त् श्यावाः। स्तोश्चुना. (पा. सू. ८/४/४०) से = जनान् च् श्यावाः। रूप बना। ऐसी स्थिति में झय् चकार के बाद शकार होने के कारण 'शश्छोऽटि' (पा. सू. ८/४/६३) से जनाञ् च् छ्यावाः रूप बनने पर वैकल्पिक रूप में आए हुए तकार के हट जाने के परिणामस्वरूप 'जनाञ्छ्यावाः' रूप बच जाता है। **प्रउगम्**=यहाँ पर विवृत्ति (सन्धि का अभाव) है। यह वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषता है। **वहन्तः**= ✓वह् + शतृ प्रत्यय प्र. पु. व.। **अख्यन्**= ✓ख्या + लुङ् + प्र. पु. ब. व.। **तस्थुः**= ✓स्था + लिट् + प्र. पु. ब. व.।

सं. पा. - ६

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट्।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्।।६।।

पदपाठ– तिस्रः। द्यावः। सवितुः। द्वौ। उपऽस्था। एका। यमस्य। भुवने। विराषाट्।। आणिम्। न। रथ्यम्। अमृता। अधि। तस्थुः। इह। ब्रवीतु। यः। ऊँ इति। तत्। चिकेतत्।

सायणभाष्य– द्यावः स्वर्गोपलक्षिताः प्रकाशमाना लोकाः तिस्रः त्रिसंख्याका सन्ति। तत्र द्वौ लोकौ सवितुः सूर्यस्य उपस्था समीपस्थाने वर्तेते, द्युलोकभूलोकयोः सूर्येण प्रकाशितत्वात्। एका मध्यमा भूमिरन्तरिक्षलोकः यमस्य भुवने पितृपतेर्गृहे विराषाट् विरान् गन्तृन् सहते। प्रेताः पुरुषाः अन्तरिक्षमार्गेण यमलोके गच्छन्तीत्यर्थः। अमृता अमृतानि चन्द्रनक्षत्रादीनि ज्योतींषि जलानि वा अधि तस्थुः सवितारमधिगम्य स्थितानि। तत्र दृष्टान्तः। रथ्यम् आणिं न। रथाद्बहिः अक्षच्छिद्रे प्रक्षिप्तः कीलविशेषः आणिरित्युच्यते। रथसम्बन्धिनम् आणिंम् अधिगम्य यथा रथस्तिष्ठिति तद्वत्। यः तु मानवः तत् सवितृरूपं चिकेतत् जानाति सः मानवः इह अस्मिन् विषये ब्रवीतु कथयतु। केनापि वक्तुमशक्यः सवितुर्महिमेत्यर्थः।

अन्वय– द्यावः तिस्रः। द्वौ सवितुः उपस्था, एका विराषाट् यमस्य भुवने, रथ्यम् आणिं न अमृता अधि तस्थुः। यः उ तत् चिकेतत् ब्रवीतु।

शब्दार्थ– द्यावः = लोक, द्युलोक। **तिस्रः** = तीन। **द्वौ** = दो। **सवितुः** = सवितृ के। **उपस्था** = गोद में, समीप में। **एका** = एक। **विराषाट्** = मृत व्यक्तियों का निवास स्थान। **यमस्य** = यम के। **भुवने** = लोक में। **रथ्यम्** = रथ के। **आणिम्** = धुरा। **न** = समान। **अमृता** = देव लोक, देवगण। **अधि तस्थुः** = आश्रित हैं, स्थित हैं। **यः** = जो। **उ** = निश्चित ही। **तत्** = उसको। **चिकेतत्** = जानता है। **ब्रवीतु** = कहे, बतलावे।

अनुवाद– लोक तीन हैं (जिनमें से) दो (लोक) सवितृ (देव) के समीप में हैं। एक (जो) मृत व्यक्तियों का निवास-स्थान (स्वरूप है), यम के लोक में (है)। रथ के धुरे के समान देवलोक (उस सवितृ देव) पर आश्रित है (अर्थात् जिस प्रकार रथ धुरे पर आश्रित होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण देवता सवितृ पर आश्रित हैं) जो (उपासक) उसको जानता है (वह) (उसके सम्बन्ध में) कहे।

व्याकरण– उपस्थाँ एका = लौकिक संस्कृत के 'उपस्थे' का वेद में 'उपस्था' हुआ तथा अन्तिम स्वर अनुनासिक हुआ फलस्वरूप एका का एकार बाद में होने पर भी सन्धिकार्य

नहीं हुआ है। पद पाठ में अनुनासिकता समाप्त हो जाती है। **ब्रवीतु** = ✓ ब्रू + लोट् + प्र.पु. ए.व.। **तस्थुः**– ✓ स्था + लिट् प्र.पु.ब.व.। **चिकेतत्** = ✓ कित् + लेट् लकार प्र.पु.ए.व.।

सं. पा. - ७

वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद् गभीरवेपा: असुरः सुनीथः।
क्वे३ दानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान।। ७।।

पदपाठ– **वि। सुऽपर्णः। अन्तरिक्षाणि। अख्यत्। गभीरऽवेपाः। असुरः। सुऽनीथः। क्व। इदानीम्। सूर्यः। कः। चिकेत। कतमाम्। द्याम्। रश्मिः। अस्य। आ। ततान।।७।।**

सायणभाष्य– सुपर्णः शोभनपतनः, सूर्यस्य रश्मिः। 'सुपर्णा इति पञ्चदश रश्मिनामानि' (नि. १/५/१५) इति तन्नामसु पठितत्वात्। अन्तरिक्षाणि अन्तरिक्षोपलक्षितानि लोकत्रयस्थानानि वि अख्यत् विशेषेण ख्यापितवान् प्रकाशितवान्। कीदृशो रश्मिः गभीरवेपाः गम्भीरकम्पनः। रश्मेः प्रकम्पनं चलनं केनापि द्रष्टुमशक्यमित्यर्थः। असुरः सर्वेषां प्राणदः। तथा अन्यत्र आम्नायते-सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति' (तै. आ. १.१४.१) इति। सुनीथः सुनयनः शोभमनप्रापणः। मार्गप्रकाशनेन अभीष्टदेशं प्रापयतीत्यर्थः। तादृशरश्मियुक्तः सूर्यः इदानीं रात्रौ क्व कुत्र वर्तते। तदेतद्रहस्यं कश्चिकेत को जानाति। न कोऽपि इत्यर्थः। अस्य सूर्यस्य रश्मिः कतमां द्यां आ ततान कं द्युलोकं रात्रौ व्याप्तवान्। एतदपि को जानाति।।

अन्वय– गभीरवेपाः असुरः सुनीथः सुपर्णः अन्तरिक्षाणि वि अख्यत्। इदानीं सूर्यः क्व? अस्य रश्मिः कतमां द्याम् आ ततान, कः चिकेत।

शब्दार्थ– गभीरवेपाः = गम्भीर कम्पनयुक्त। **असुरः** = प्राण देने वाली, शक्तिदात्री। **सुनीथः** = अच्छी प्रकार से मार्गदर्शन कराने वाली। **सुपर्णः** = सुन्दर किरण। **अन्तरिक्षाणि** = अन्तरिक्ष लोकों को। **वि अख्यत्** = विशेष रूप से प्रकाशित किया है। **इदानीम्** = इस समय, अब। **सूर्यः** = सूर्य। **क्व** = कहाँ। **अस्य** = इसकी। **रश्मिः** = किरण। **कतमां** = किस। **द्याम्** = लोक तक। **आ ततान** = विस्तृत है, फैली है। **कः** = कौन। **चिकेत** = जानता है।

अनुवाद– गम्भीर कम्पनयुक्त, प्राण देने वाली, अच्छी प्रकार से मार्ग-दर्शन कराने वाली (सवितृ देव की) सुन्दर किरण ने अन्तरिक्ष लोकों को विशेष रूप से प्रकाशित किया है। इस समय इस (सवितृ देव) की किरण किस लोक तक फैली है, (इसे) कौन जानता है?

व्याकरण– **सुपर्णः** = सुष्ठु पर्णः। शोभनपतनः (सायण)। ग्रिफिथ- सूर्य। मैकडानल- पक्षी। **गभीरवेपाः** = 'वेपा' शब्द ✓ विप् + असुन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। असुरः = असून् प्राणान् राति ददाति इति असुरः। प्राणदातृ। **अख्यत्** = ✓ ख्या + लुङ् प्र.पु.ए.व. **क्वे३ दानीम्** = यहाँ कम्प हुआ है। जब स्वतन्त्र स्वरित के ठीक बाद उदात्त आता है तब वह स्वरित कम्प कहलाता है। यदि स्वरित स्वर ह्रस्व वर्ण पर होता है तब उसके आगे १ चिह्न लिखा जाता है एवं जब स्वरित स्वर दीर्घ वर्ण पर होता है तब उसके आगे ३ चिह्न लिखा जाता है तथा स्वरित स्वर को अनङ्कित छोड़ दिया जाता है। **ततान** – ✓ तन् + लिट् + प्र.पु.ए.व.। **चिकेत** = ✓ कित् + लिट् प्र.पु.ए.व.।

सं. पा. = ८

अष्टौ व्यंख्यत्ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्।
हिरण्याक्षः सविता देव आगाद्दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि।।८।।

पदपाठ – अष्टौ। वि। अख्यत्। ककुभः। पृथिव्याः। त्री। धन्व। योजना। सप्त। सिन्धून्। हिरण्यऽअक्षः। सविता। देवः। आ। अगात्। दधत्। रत्ना। दाशुषे। वार्याणि।।८।।

सायणभाष्य– पृथिव्याः सम्बन्धिनीः अष्टौ ककुभः प्राच्याद्याचतस्रो दिश आग्नेय्याश्चतस्रो विदिश इत्येवमष्टौ दिशः व्यख्यत् सविता प्रकाशितवान्। तथा योजना प्राणिनः स्वस्वभोगेन योजयितृन् धन्व अन्तरिक्षोपलक्षितान् त्री त्रिसंख्याकान् पृथिव्यादिलोकान् सप्त सिन्धून् गंगादिनदीः समुद्रान्वा सविता व्यख्यत्। हिरण्याक्षः। हितरमणीयचक्षुर्युक्तो हिरण्यमयाक्षो वा सविता देव आगात् इहागच्छतु। किं कुर्वन्। दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय वार्याणि वरणीयानि रत्नानि दधत् प्रयच्छन्।।

अन्वय– पृथिव्या अष्टौ ककुभः, त्री धन्व, सप्त सिन्धून्, योजना वि अख्यत्। हिरण्याक्षः सविता देवः दाशुषे वार्याणि रत्ना दधत् आ अगात्।।

शब्दार्थ– पृथिव्याः = पृथिवी सम्बन्धी, पृथिवी की। **अष्टौ** = आठ। **ककुभः** = दिशाओं को। **त्री** = तीन। **धन्व** = लोकों को। **सप्त** = सात। **सिन्धून्** = नदियों को। **योजना** = प्राणियों के कर्म-फलों को। **वि अख्यत्** = विशेष रूप से प्रकाशित किया है। **हिरण्याक्षः** = सुवर्ण-सदृश नेत्रों वाला। **सविता देव** = सविता देव। **दाशुषे** = हविष्य प्रदान करने वाले के लिए। **वार्याणि** = इच्छित, अभीष्ट। **रत्ना** = बहुमूल्य धनों को। **दधत्** = धारण करते हुए। **आ अगात्** = आ चुके हैं।

अनुवाद– (सविता देव ने) पृथ्वी की आठ दिशाओं को, तीन लोकों को, सात नदियों को (एवं) प्राणियों के कर्मफलों को विशेष रूप से प्रकाशित किया है। सुवर्ण-सदृश नेत्रों वाले सविता देव हविष्य प्रदान करने वाले (यजमान) के लिए अभीष्ट बहुमूल्य धनों को धारण करते हुए आ चुके हैं।

व्याकरण– दाशुषे = ✓ दाश् + क्वसु प्रत्यय + च.ए. **योजना** = योजन + प्र.व. व. योजना प्राणिनः (सायण) **हिरण्याक्षः** = हिरण्यमयानि अक्षीणि यस्यासौ। स्वर्णिम आखों (किरणों) वाला (सायण)। **दधत्** = ✓ धा + शतृ प्रत्यय + प्र.ए.व.। **वार्याणि** = ✓ वृङ् + ण्यत् प्रत्यय द्वि.ब.व.। **रत्ना** = रत्नानि का वैदिक रूप। **अगात्** = ✓ गा + लुङ् प्र.पु.ए.व.।

सं. पा. ९

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति।।९।।

पदपाठ– हिरण्यऽपाणिः। सविता। विऽचर्षणिः। उभे इति। द्यावापृथिवी इति। अन्तः। ईयते।। अप। अमीवाम्। बाधते। वेति। सूर्यम्। अभि। कृष्णेन। रजसा। द्याम्। ऋणोति।।९।।

सायणभाष्य– हिरण्यपाणिः सुवर्णमयहस्तयुक्तः यद्वा यजमानेभ्यः दातुं हिरण्यं हस्ते धृतवान् 'विचर्षणिः विश्ववर्षणिः' (नि. ३.११.६) इति तन्नामसु पाठात्। सविता देवः उभे द्यावापृथिवी अन्तः उभयोर्लोकयोर्मध्ये ईयते गच्छति। अमीवां रोगादिबाधाम् अप बाधते सम्यक् निराकरोति। तथा सूर्यं वेति गच्छति। यद्यपि सवितृसूर्ययोरेकदेवतात्वं तथापि मूर्ति भेदेन गन्तृगन्तव्यभावः। कृष्णे तमसः कर्षणेन निवर्तकेन रजसा तेजसा द्याम् आकाशम् अभि ऋणोति सर्वतो व्याप्नोति।।

अन्वय– हिरण्यपाणिः, विचर्षणिः सविता द्यावा पृथिवी उभे अन्तः ईयते। अमीवाम् अप बाधते। सूर्यं वेति। कृष्णेन रजसा द्याम् ऋणोति।।

शब्दार्थ– हिरण्यपाणिः = स्वर्णिम हाथों वाला, स्वर्णयुक्त हाथों वाला। **विचर्षणिः** = सबको देखने वाला। **सविता** = सवितृ देव। **द्यावापृथिवी** = द्युलोक और पृथिवी। **उभे** = दोनों के। **अन्तः** = मध्यवर्ती (मार्ग से)। **ईयते** = गमन करता है। **अमीवाम्** = रोग आदि बाधाओं को। **अप बाधते** = पूर्ण रूप से विनष्ट कर डालता है। **सूर्यम्** = सूर्य के समीप। **वेति** = जाता है। **कृष्णेन** = अन्धकार युक्त। **रजसा** = लोक से। **द्याम्** = द्युलोक को। **ऋणोति** = व्याप्त करता है।

अनुवाद– स्वर्णिम हाथों वाला (एवं) सबको देखने वाला सवितृ देव द्युलोक एवं पृथिवी दोनों (लोकों) के मध्यवर्ती (मार्ग से) गमन करता है। (प्राणियों के) रोग आदि बाधाओं को पूर्ण रूप से विनष्ट कर डालता है। सूर्य के समीप जाता है (तथा) अन्धकारयुक्त लोक से (आता हुआ) द्युलोक को व्याप्त करता है।

व्याकरण– ईयते = ✓ ई + लट् (आ.प.) प्र.पु.ए.व.। **बाधते** = ✓ बाध् + लट् (आ.प.) प्र.पु.ए.व.। **वेति** – ✓ वी + लट् प्र.पु.ए.व.। ऋणोति = ✓ ऋणु + लट् + प्र.पु.ए.व.।

विशेष– इस मन्त्र में सवितृ देव का सूर्य के समीप गमन करना वर्णित है। यद्यपि सवितृ एवं सूर्य में अभेद है परन्तु मूर्ति-भेद से उपर्युक्त कथन सार्थक है।

सं. पा. – १०

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्।
अप सेधन्रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः।। १०।।

पदपाठ– हिरण्यऽहस्तः। असुरः। सुऽनीथः। सुऽमृळीकः। स्वऽवान्। यातु। अर्वाङ्।। अपऽसेधन्। रक्षसः। यातुऽधानान्। अस्थात्। देवः। प्रतिऽदोषम्। गृणानः।। १०।।

सायणभाष्य– हिरण्यहस्तः असुरः प्राणदाता सुनीथः सुष्ठु नेता प्रशस्य इत्यर्थः। 'सुनीथः पाकः' (नि. ३, ८, ७) इति प्रशस्यनामसु पाठात्। सुमृळीकः सुष्ठु सुखयिता स्ववान् धनवान् अर्वाङ् अभिमुखः कर्मदिशे गच्छतु। किं चायं देवः प्रतिदोषं प्रति रात्रिं गृणानः स्तूयमानः अस्थात् स्थितवान्। किं कुर्वन्। रक्षसः बाधकत्वेन रक्षणनिमित्तभूतान् 'रक्षो रक्षितव्यमस्मात्' (निरु. ४.१८) इति यास्कः। यातुधानान् असुरान् अपसेधन् निराकुर्वन्।। १०।।

अन्वय– हिरण्यहस्तः, असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्ववान् देवः अर्वाङ् यातु। प्रति दोषम् गृणानः रक्षसः यातुधानान् अपसेधन् अस्थात्।। १०।।

शब्दार्थ- **हिरण्यहस्तः** = स्वर्णयुक्त हाथों वाला, स्वर्णिम हाथों वाला। **असुरः** = प्राणदाता। **सुनीथः** = अच्छी प्रकार से मार्ग-दर्शन कराने वाला। **सुमृळीकः** = भली-भाँति सुख देने वाला। **स्ववान्** = धनवान्। **देवः** = देव। **अवाङ्** = हमारी ओर। **यातु** = आवे। **प्रति दोषम्** = प्रत्येक रात्रि में। **गृणानः** = स्तुत होता हुआ, पुकारा जाता हुआ। **रक्षसः** = राक्षसों को। **यातुधानान्** = मायावियों को। **अपसेधन्** = दूर करता हुआ, विनष्ट करता हुआ। **अस्थात्** = स्थित हो गया है।

अनुवाद- स्वर्णयुक्त हाथों वाला, प्राणदाता, अच्छी प्रकार से मार्ग दर्शन कराने वाला, भली-भाँति सुख देने वाला, धनवान् (सवितृ) देव हमारी ओर आवे। प्रत्येक रात्रि में स्तुत होता हुआ (सवितृ देव) राक्षसों (एवं) मायावियों को दूर करता हुआ स्थित हो गया है।

व्याकरण- **सुमृळीकः** = सु + ✓ मृड् + ईकन् प्रत्यय प्र.ए. ऋग्वेद में दो स्वरों के मध्य उच्चरित होने वाला 'ड्' ळ् में परिवर्तित हो जाता है। यह ध्वनि हिन्दी आदि परवर्ती भाषाओं के 'ड़' ध्वनि का प्रतिनिधित्व करती है। **स्ववान्** = सु + अवस् + प्र.ए.व. संहिता पाठ में नकार का लोप होकर आकार अनुनासिक हो गया। **यातु** = ✓ या + लोट् + प्र.पु.ए.व.। **गृणानः** = ✓ गृ + शानच् + प्र.ए.व.। **अपसेधन्** = अप उपसर्ग + ✓ सिध् + शतृ प्रत्यय + प्र.ए.व.। **अस्थात्** = ✓ स्था + लुङ् + प्र.पु.ए.व.।

सं. पा. - ११

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव।।११।।

पदपाठ- **ये। ते। पन्थाः। सवितरिति। पूर्व्यासः। अरेणवः। सुऽकृताः। अन्तरिक्षे।। तेभिः। नः। अद्य। पथिऽभिः। सुऽगेभिः। रक्ष। च। नः। अधि। च। ब्रूहि। देव।।११।।**

सायणभाष्य- हे सवितः ते तव पन्थाः मार्गाः पूर्व्यासः पूर्वसिद्धाः अरेणवः धूलिरहिताः अन्तरिक्षे सुकृताः सुष्ठु सम्पादिताः। सुगेभिः सुष्ठु गन्तुं शक्यैः तेभिः पथिभिः तैर्मार्गैरागत्य अद्य अस्मिन् दिने नः अस्मान् रक्ष च पालनमपि कुरु। तथा हे देव नः अस्मान् अनुष्टातृन् अधि ब्रूहि च देवानामग्रेऽधिकत्वेन कथय च।। ११।।

अन्वय- सवितः ते ये पूर्व्यासः अरेणवः अन्तरिक्षे सुकृताः पन्थाः तेभिः सुगेभिः पथिभिः अद्य देव नः रक्ष च अधि ब्रूहि।।

शब्दार्थ- **सवितः**=हे सवितृ (देव)। **ते**=तुम्हारे। **ये**=जो। **पूर्व्यासः**=प्राचीन, पूर्वनिर्मित। **अरेणवः**=धूलिरहित। **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में। **सुकृताः**=अच्छी प्रकार से निर्मित। **पन्थाः**=मार्ग। **तेभिः**=उन्हीं। **सुगेभिः**=सुगम। **पथिभिः**=मार्गों से। **अद्य**=आज। **देव**=हे देव। **नः**=हमारी। **रक्ष**=रक्षा करो। **च**=तथा। **अधि**=ओर से। **ब्रूहि**=बोलो।।

अनुवाद- हे सवितृ (देव)! तुम्हारे जो प्राचीन, धूलिरहित (एवं) अन्तरिक्ष में अच्छी प्रकार से निर्मित मार्ग हैं, उन्हीं सुगम मार्गों से आज (आकर) हे देव! हमारी रक्षा करो तथा हमारी ओर से बोलो।।

व्याकरण– पूर्व्यासः=पूर्व्य शब्द के प्रथमा ब. व. का वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में पूर्व्याः बनेगा। **पन्थाः**='पन्थानः' बनेगा। **तेभिः**='तद्' शब्द के तृ. ब.व. का वैदिक रूप। वैदिक भाषा में 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' आदेश विकल्प से होता है। **पथिभिः** एवं **सुगेभिः** शब्द रूपों में भी उपर्युक्त 'भिस्' को 'ऐस्' आदेश नहीं हुए हैं। सुगेभी + रक्ष = सुगेभिः + रक्ष - विसर्ग का रेफ होकर उसका लोप हुआ तथा परिणामतः पूर्व स्वर का दीर्घ हो गया है। 'रोरि' 'ढ्रलोपेपूर्वस्यदीर्घोऽणः'। **रक्षा** = रक्ष + लोट् म.पु.ए.व. छान्दस् दीर्घता। **ब्रूहि** = ✓ ब्रू + लोट् + म.पु.ए.व.।

विश्वेदेवाः सूक्तम् (ऋग्वेद १।८९)

ऋषि-गोतम, देवता-विश्वेदेव, छन्द- १ से ५ जगती, ६ विराट्, ७ जगती, ८ से १० त्रिष्टुप्।

आ नो॑ भ॒द्राः क्रत॑वो यन्तु वि॒श्वतोऽद॑ब्धासो अप॑रीतास उ॒द्भिदः॑।
दे॒वा नो॒ यथा॒ सद॒मिद् वृ॒धे अस॒न्नप्रा॑युवो रक्षि॒तारो॑ दि॒वेदि॑वे।। १।।

पदपाठ– आ। नः॒। भ॒द्राः। क्रत॑वः। य॒न्तु। वि॒श्वतः॑। अद॑ब्धासः। अप॑रिऽइतासः। उत्ऽभिदः॑। दे॒वाः। नः॒। य॒था। सद॑म्। इत्। वृ॒धे। अ॒स॒न्। अप्र॑ऽआयुवः। र॒क्षि॒तारः॑ दि॒वेऽदि॑वे।। १।।

सायणभाष्य– नः अस्मान् क्रतवः अग्निष्टोमादयो महायज्ञाः विश्वतः सर्वस्मादपि दिग्भागात् आयन्तु आगच्छन्तु। कीदृशाः क्रतवः। भद्राः समीचीनफल-साधनत्वेन कल्याणाः भजनीया वा अदब्धासः असुरैरहिंसिताः अपरीतासः शत्रुभिर परिगताः अप्रतिरुद्धा इत्यर्थः। उद्भिदः शत्रूणामुद्भेत्तारः। ईदृशाः क्रतवः अस्मांस्तथा आगच्छन्तु। अप्रायुवः अप्रगच्छन्तः स्वकीयं रक्षितव्यमपरित्यजन्तः अतएव दिवेदिवे प्रतिदिवसं रक्षितारः रक्षां कुर्वन्तः एवंगुणविशिष्टाः सर्वे देवाः नः अस्माकं सदमित् सदैव बृधे वर्धनाय यथा असन् भवेयुस्तथा आगच्छन्तु इति सम्बन्धः।

अन्वय– भद्राः अदब्धासः अपरीतासः उद्भिदः क्रतवः विश्वतः न आयन्तु। यथा दिवेदिवे रक्षितारः अप्रायुवः देवाः सदमित् नः बृधे असन्।

शब्दार्थ– भद्राः = कल्याणकारी, समीचीनफलप्रदायक। **अदब्धासः** = अप्रतिहत, शत्रुओं द्वारा विनष्ट न होने योग्य। **अपरीतासः** = अप्रतिरुद्ध, शत्रुओं द्वारा न घिरी हुई। **उद्भिदः** = शत्रुओं का विनाश करने वाली, शत्रुनाशक। **क्रतवः** = शक्तियाँ, यज्ञ, संकल्प। **विश्वतः** = सभी ओर से, चारों ओर से। **नः** = हमारे समीप। **आयन्तु** = आ जायँ, आवें। **यथा** = जिससे, जिस प्रकार। **दिवे दिवे** = प्रतिदिन। **रक्षितारः** = रक्षा करने वाले, रक्षक। **अप्रायुवः** = अपने रक्षितव्य का त्याग न करने वाले। **देवाः** = देवतागण। सदमित् = सर्वदा, सदैव। **नः** = हमारी। **बृधे** = वृद्धि के लिए, संवर्धन के लिए। **असन्** = हो जायें, हों।

अनुवाद– कल्याणकारी, शत्रुओं द्वारा विनष्ट न होने योग्य, शत्रुओं द्वारा न घिरी हुई, शत्रुओं का विनाश करने वाली शक्तियाँ सभी ओर से हमारे पास आवें। जिससे प्रतिदिन रक्षा करने वाले (तथा) अपने रक्षितव्य का त्याग न करने वाले देवतागण सर्वदा हमारी बृद्धि के लिए हो जायें।

व्याकरण– **भद्राः** = ✓ भदि कल्याणे + रक् प्रत्यय + प्रथमा बहुवचन। अथवा ✓ भद् + रक् = भद्रः के प्र. ब. व. का रूप। 'आ' उपसर्ग है जिसका सम्बन्ध 'यन्तु' क्रिया के साथ है। **क्रतवः** = क्रतु + प्र. व. व.। इसकी व्युत्पत्ति ✓ कृ + कतु से की जाती है। **यन्तु** = ✓ इण् गतौ + लोट् + प्र. पु. बहु. व.। **अदब्धासः** = ✓ दम्भु दम्भे + क्त प्रत्यय + प्र. बहु. व. 'आज्जसेरसुक्' (पा. ७।१।५०) से असुक् का आगम होकर नञ् समास का रूप। **अपरीतासः** = परि + ✓ इ + क्त। 'आज्जसेरसुक्' से असुक् आगम होकर नञ् समास में प्रथमा बहु. व. का रूप। **उद्भिदः** = उत् +✓ भिद् + क्विप् + प्र. बहु व.। **बृधे** = ✓ बृध् + क्विप् + च. ए.। **असन्** =✓ अस् + लेट् + प्र. पु. बहु. व.। **अप्रायुवः** = प्र + ✓ इण् गतौ + उण् प्र. बहु. व.। नञ् समास में अप्रायुवः रूप बनता है। **रक्षितारः** = ✓ रक्ष् + तृच् + प्र. बहु. व.।

दे॒वानां॑ भ॒द्रा सु॑म॒तिर्ऋ॑जूय॒तां दे॒वानां॑ रा॒तिर॒भि नो॒ निव॑र्तताम्।
दे॒वानां॑ स॒ख्यमुप॑ सेदिमा व॒यं दे॒वा न॒ आयुः॒ प्रति॑रन्तु जी॒वसे॑ ।। २ ।।

पदपाठ– **दे॒वाना॑म्। भ॒द्रा। सु॒ऽम॒तिः। ऋ॒जु॒ऽय॒ताम्। दे॒वाना॑म्। रा॒तिः। अ॒भि। न॒ः। नि। व॒र्त॒ता॒म्। दे॒वाना॑म्। स॒ख्यम्। उप॑। से॒दि॒म॒। व॒यम्। दे॒वाः। न॒ः। आयुः॑। प्र। ति॒र॒न्तु॒। जी॒वसे॑ ।। २ ।।**

सायणभाष्य– भद्रा सुखयित्री भजनीया वा देवानां सुमतिः शोभना मतिरनुग्रहात्मिका बुद्धिरस्माकमस्तु इति शेषः। कीदृशानाम्। ऋजूयतामृजुमार्जवयुक्तं सम्यगनुष्ठातारं यजमानमात्मन इच्छताम्। तथा देवानां रातिर्दानं नोऽस्मानाभिमुख्येन नितरां वर्तताम्। तदभिमतफलप्रदानमप्यस्माकं भवत्वित्यर्थः। वयं च तेषां देवानां सख्यं सखित्वं सख्युः कर्म वोपसेदिम प्राप्नुयाम। तादृशा देवा नोऽस्माकमायुर्जीवसे जीवितुं प्रतिरन्तु वर्धयन्तु।

अन्वय– ऋजूयतां देवानां भद्रा सुमतिः, देवानां रातिः नः अभि निवर्तताम्। वयं देवानां सख्यम् उपसेदिम; देवाः नः आयुः जीवसे प्रतिरन्तु।

शब्दार्थ– **ऋजूयताम्** = सरल हृदय को चाहते हुए की, सरल हृदय से युक्त यजमानों को अपना बनाने की इच्छा वाले की, सरलभाव से गमन करने वाले की। **देवानाम्** = देवताओं की। **भद्रा** = कल्याणकारिणी। **सुमतिः** = बुद्धि। **रातिः** = दान, उपहार। **नः अभि** = हमारी ओर। **निवर्तताम्** = लौट आवे। **वयम्** = हम लोग। **सख्यम्** = मित्रता को, मैत्री भाव को। **उपसेदिम** = प्राप्त करें। **देवाः** = देवगण। **नः** = हमारी। **आयुः** = आयु को। **जीवसे** = जीने के लिए, जीवित रहने के लिए। **प्रतिरन्तु** = बढ़ा दें।

अनुवाद– सरल हृदय (यजमान) को चाहते हुए देवताओं की कल्याणकारिणी बुद्धि (एवं) देवताओं का दान (उपहार) हमारी ओर लौट आवे। हम लोग देवताओं के मैत्री भाव (मित्रता) को प्राप्त करें। देवता हमारी आयु को जीने के लिए बढ़ा दें।

व्याकरण– **ऋजूयताम्** = ✓ ऋजु + क्यच् + शतृ + ष. बहु. व.। **रातिः** = ✓ रा दाने + क्तिन् प्रत्यय। **निवर्तताम्** = नि + ✓ वृत + लोट् प्र. पु. एक. व.। **सख्यम्** = सखि शब्द + यत् प्रत्यय। **उपसेदिमा** = उप उपसर्ग + ✓ षद्लृ – (विशरणगत्यवसादनेषु) + लिट् लकार उ. पु. बहु. व.। छान्दस् दीर्घता। **जीवसे** = ✓जीव् + तुमर्थक असे प्रत्यय। वैदिक

भाषा में तुमुन् के अर्थ में अनेक प्रत्यय आते हैं, जिनको पा. सू. ३।४।९ में परिगणित कराया गया है। **प्रतिरन्तु** = प्र + √तृ तरणे + लोट् + प्र. पु. बहु. व.।

तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्।
अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्।।३।।

पदपाठ– तान्। पूर्वया। निऽविदा। हूमहे। वयम्। भगम्। मित्रम्। अदितिम्। दक्षम्। अस्रिधम्। अर्यमणम्। वरुणम्। सोमम्। अश्विना। सरस्वती। नः। सुऽभगा। मयः। करत्।।३।।

सायणभाष्य– तान् विश्वान् देवान् पूर्वया पूर्वकालीनया नित्यया। निविदा वेदात्मिकया वाचा वयं हूमहे। निविदिति वाङ्नाम। यद्वा निविदा 'विश्वेदेवाः सोमस्य मत्सन्' इत्यादिकया वैश्वदेव्या निविदा वयं हूमहे। आह्वयामः। देवानिति यत् सामान्येनोक्तं तदेव विव्रियते। भगं भजनीयं द्वादशानामादित्यानामन्यतमम्। मित्रं प्रमीतेस्त्रायकमहरभिमानिनं देवम्। "मैत्रं वा अहः" (तै.ब्रा. १/७/१०/१) इति श्रुतेः। अदितिम् अखण्डनीयामदीनां वा देवमातरम् दक्षं सर्वस्य जगतो निर्माणे। समर्थं प्रजापतिम्। यद्वा प्राणरूपेण सर्वेषु प्राणिषु व्याप्य वर्तमानं हिरण्यगर्भम्। "प्राणो वै दक्षः" (तै. सं. २/५/२/४) इति श्रुतेः। अस्रिधं शोषणरहितं सर्वदैकरूपेण वर्तमानं मरुद्गणम्। अर्यमणम्। अरीन् मन्देहादीनसुरान् यच्छति नियच्छतीत्यर्यमा सूर्यः। "असौ वा अदित्योऽर्यमा सूर्यः" (तै.सं. २/३/४/१) इति श्रुतेः। तम्। वरुणम्। वृणोति पापकृतः स्वकीयैः पाशैरावृणोतीति रात्र्यभिमानी देवो वरुणः। श्रूयते च- "वारुणी रात्रिः" (तै. सं. १/७/१०/१) इति। सोमं द्वेधात्मानं विभज्य पृथिव्यां लतारूपेण दिवि च चन्द्रात्मना देवतारूपेण वर्तमानम्। अश्विना अश्ववन्तौ। यद्वा- सर्वं व्याप्नुवन्तौ। तथा च यास्कः "अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्योऽश्वैरश्वावित्यौर्णवाभस्तत्। कावश्विनौ? द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके, सूर्याचन्द्रमसावित्येके, "राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः" (निरु. १२/१) इति। एवम्भूतान् सर्वान् देवानस्मद्रक्षणार्थमाह्वयाम इति पूर्वत्र सम्बन्धः। अस्माभिराहूता सुभगा शोभनधनोपेता सरस्वती नोऽस्मभ्यं मयः सुखं करत् करोतु।।

अन्वय– वयं पूर्वया निविदा तान् भगं, मित्रम्, अदितिं, दक्षम्, अस्रिधम् अर्यमणं, वरुणं, सोमम् अश्विना हूमहे। सुभगा सरस्वती नः मयस्करत्।

शब्दार्थ– वयं = हम (स्तोता) लोग। **पूर्वया** = पूर्वकालिक, प्राचीन। **निविदा** = स्तुति विशेष के द्वारा, वेदात्मक वाणी के द्वारा। **तान्** = उन। **भगम्** = भगसंज्ञक देव को। **मित्रम्** = मित्रसंज्ञक देव को। **अदितिम्** = अदितिसंज्ञक देव को। **दक्षम्** = दक्षसंज्ञक देव को। **अस्रिधम्** = सर्वदा एक रूप रहने वाले, शोषण-रहित, अविनाशी। **अर्यमणम्** = अर्यमन्संज्ञक देव को। **वरुणम्** = वरुणसंज्ञक देव को। **सोमम्** = सोमसंज्ञक देव को। **अश्विना** = अश्विन्संज्ञक देवों को। **हूमहे** = पुकारते हैं। **सुभगा** = शोभन धनवाली। **सरस्वती** = सरस्वती संज्ञक देवी। **नः** = हमारे लिये। **मयः** = सुख को। **करत्** = प्रदान करें।

अनुवाद– हम (स्तोता) लोग प्राचीन (वेदात्मक) स्तुति-विशेष के द्वारा उन भग, मित्र, अदिति, दक्ष, शोषण-रहित अर्यमन्, वरुण, सोम (तथा दोनों) अश्विन् (संज्ञक देवों) को पुकारते हैं। शोभन धनों वाली (देवी) सरस्वती हमारे लिये सुख प्रदान करें।

व्याकरण– **निविदा** = नि उपसर्ग + ✓ विद् + क्विप् प्रत्यय + तृ. ए. व.। **हूमहे** = ✓ ह्वेञ् + लट् उ. पु. ब. व.। **अस्त्रिधम** = शोषणार्थक ✓ स्त्रिध् + क्विप् + द्वि. ए. व. का नञ् समास से युक्त रूप। **अदितिम्** = ✓ दो अवखण्डने + क्तिन् + द्वि. ए. व.। **दक्षम्** = ✓ दक्ष् + घञ् + द्वि. ए. व.। **वरुणम्** = ✓ वृ + उनन्, द्वि. ए. व.। **करत्** = ✓कृ + लेट् लकार अट् का आगम प्र. पु. ए. व.। **अर्यमन्** = ✓ ऋ गतौ + यत् + ✓ मा + कनिन्।

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
तद्ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्।। ४।।

पदपाठ– तत्। नः। वातः। मयःऽभु। वातु। भेषजम्। तत्। माता-पृथिवी। तत् पिता। द्यौः। तत्। ग्रावाणः। सोमऽसुतः। मयःऽभुवः। तत्। अश्विना। शृणुतम्। धिष्ण्या। युवम्।। ४।।

सायणभाष्य– वातो वायुस्तद् भेषजमौषधं नोऽस्मान् वातु प्रापयतु। यद् भेषजं मयोभु मयसः सुखस्य भावयितृ। माता सर्वेषां जननी पृथिवी भूमिरपि तद् भेषजम् अस्मान् प्रापयतु। पिता वृष्टिप्रदानेन सर्वेषां रक्षिता द्यौ द्युलोकोऽपि तद् भेषजम् अस्मान् प्रापयतु। सोमसुतः सोमाभिषवं कृतवन्तो मयोभुवो मयसो यागफलभूतस्य। भावयितारो ग्रावाणोऽभिषवसाधनाः पाषाणाश्च तद् भेषजमस्मान् प्रापयन्तु। हे घिष्ण्या। घिषणा बुद्धिस्तदर्हावश्विनौ। युवं युवां तद् भेषजं शृणुतमाकर्णयतम्। यद् भेषजमस्माभिर्वाय्वादिषु प्रार्थ्यते, यद् भेषजं देवानां भिषजौ युवामस्माकमनुकूलं यथा भवति तथा जानीतमित्यर्थः।

अन्वय– वातः तत् मयोभु भेषजं नः वातु, माता पृथिवी तत्, (नः वातु), पिता द्यौः तत् (नः वातु)। मयोभुवः सोमसुतः ग्रावाणः तत् (नः वातु)। (हे) घिष्ण्या अश्विना! युवं तत् शृणुतम्।।

शब्दार्थ– वातः = वायु (देव)। **तत्** = उस। **मयोभु** = सुखकर, सुख उत्पन्न करने वाले। **भेषजम्** = औषधि को। **नः** = हमारे लिए। **वातु** = प्राप्त करावें। **माता पृथिवी** = सभी को उत्पन्न करने वाली पृथिवी। **पिता द्यौः** = वृष्टि प्रदान करके सबके रक्षक द्यौः। **मयोभुवः** = सुख प्रदान करने वाले। **सोमसुतः** = सोमरस को निचोड़ने वाले। **ग्रावाणः** = पत्थर। **धिष्ण्या** = हे प्रतिभा सम्पन्न, हे बुद्धिमन्। **अश्विना** = अश्विनीकुमारो, अश्विन्संज्ञक देवो। **युवम्** = तुम दोनों। **तत्** = उसको। **शृणुतम्** = सुन लो।

अनुवाद– वायु (देव) उस सुखकारी औषधि को हमारे लिए पहुँचायें। माता पृथिवी उसे (सुखकारी औषधि को) हमारे लिये पहुँचायें। पिता द्युलोक उस (सुखकारी औषधि को) हमारे लिए पहुँचायें। सुखकारी (एवं) सोम रस को निचोड़ने वाले पत्थर (भी) उसे हमारे लिए पहुँचायें। हे प्रतिभा-सम्पन्न अश्विनीकुमारो ! तुम दोनों उसको सुन लो।

व्याकरण– मयोभु-'मयःभू' = मयोभू का 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (पा.सू. १/२/४७) से नपुंसक में ह्रस्व होकर मयोभु रूप निष्पन्न हुआ। **वातु**-✓वा गतिगन्धनयोः + लोट् लकार प्र.पु.ए.व.। **सोमसुतः** – सोमं सुन्वति इति सोमसुतः। सोम + ✓सुञ् अभिषवे + क्विप्

प्रत्यय ; सोम सुत्रः (पा. सू.३/२/९०) से भूत अर्थ में ; + प्र.ब.व.। **घिष्ण्या**-घिषणा शब्द से 'अर्हं' (योग्य) अर्थ में 'य' प्रत्यय 'छन्दसि च' (पा.सू. ५/३/६७) से हुआ। पुनः 'सुपां सुलुक् पूर्व.' ... (पा. सू. ७/१/३१) से आकार हुआ। तथा छान्दस् वर्णलोप होकर द्वि.व. अथवा सम्बोधन का रूप। छन्दः पूर्ति के लिए घिष्णिया पाठ करना चाहिए। **युवम्**- युवाम् का वैदिक रूप। **श्रृणुतम्**-✓श्रु + लोट् म.पु.द्वि.व.।

तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियञ्जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम्।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑।।५।।

पदपाठ– तम्। ईशा॑नम्। जग॑तः। त॒स्थुषः॑। पति॑म्। धि॒यं॒ऽजि॒न्वम्। अव॑से। हू॒म॒हे॒। व॒यम्। पू॒षा। न॒ः। यथा॑। वेद॑साम्। अस॑त्। वृ॒धे। र॒क्षि॒ता। पा॒युः। अद॑ब्धः। स्व॒स्तये॑।।५।।

सायणभाष्य– पूर्वार्द्धेनेन्द्रः स्तूयते अपरार्धेन पूषा। ईशानमैश्वर्यवन्तम्, अतएव जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिं स्वामिनं धियञ्जिन्वं धीभिः कर्मभिः प्रीणयितव्यम्। एवम्भूतं तमिन्द्रमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः। पूषा नो अस्माकं वेदसां धनानां वृधे वर्धनाय रक्षिता यथा सत् येन प्रकारेण भवति तेनैव प्रकारेणदब्धः केनाप्यहिंसितः पूषा नोऽस्माकं वेदसां धनानां वृधे वर्धनाय रक्षिता यथा सत् येन प्रकारेण अदब्धः केनाप्यहिंसितः पूषा स्वस्तयेऽस्माकमविनाशाय रक्षिता भवतु।

अन्वय– वयम् ईशानं जगतः तस्थुषः पतिं धियञ्जिन्वं तम् (इन्द्रम्) अवसे हूमहे। यथा पूषा नः वेदसां वृधे रक्षिता असत् (तथा) अदब्धः स्वस्तये पायुः।

शब्दार्थ–वयम् = हम (स्तोता) लोग। **ईशानम्** = ऐश्वर्यवान्। **जगतः** = जङ्गम के। **तस्थुषः** = अचर के, स्थावर के। **पतिम्** = स्वामी। **धियञ्जिन्वम्** = बुद्धि से प्रसन्न होने वाला, कर्मों से प्रसन्न करने योग्य। **तम्** = उसको। **अवसे** = रक्षा के लिए। **हूमहे** = पुकारते हैं, बुलाते हैं। **पूषा** = पूषा देवता। **नः** = हमारे। **वेदसाम्** = धनों की। **वृधे** = बृद्धि के लिए। **रक्षिता** = रक्षा करने वाले। **असत्** = हों। **अदब्धः** = अहिंसित। **स्वस्तये** = कल्याण के लिए। **पायुः** = पालक बनें, रक्षक हों जायें।

अनुवाद– हम (स्तोता) लोग ऐश्वर्यवान्, जङ्गम् एवं स्थावर के स्वामी तथा (यज्ञादि) कर्मों से प्रसन्न होने वाले उस (इन्द्र) को रक्षा के लिए पुकारते (बुलाते) हैं। पूषा देवता हमारे धनों की बृद्धि के लिए हों (तथा) (धनों के) रक्षक भी हों जायँ। अहिंसित (पूषा देवता) हमारे कल्याण के लिए पालक बनें।

व्याकरण– ईशानम् =✓ईश् ऐश्वर्ये + शानच् प्रत्यय + द्वि.ए.व.। **जगतः** =✓गम् + यङ् + क्विप्, ष.ए.व.। **तस्थुषः** =✓स्था + क्वसु + ष.ए.व.। **धियञ्जिन्वम्** =धियं जिन्वति-धी + ✓जिवि प्रीणनार्थः + खच् प्रत्यय + द्वि.ए.व.। **अवसे** - ✓अव रक्षणे + तुमर्थक असेन् प्रत्यय। **वेदसाम्** - ✓विद्लृ लाभे + असुन् + ष.ब.व.। **असत्** - ✓अस् + लेट् प्र.पु.ए.व.। **वृधे** - ✓बृध् + क्विप् + च.ए.व.। **पायुः** - ✓पा रक्षणे + उण् + प्र. ए. व.। **स्वस्तये** - सु + ✓अस् + क्तिन् प्रत्यय (भाव अर्थ में) + च. ए.।

स्वस्ति न इन्द्रों वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।६।।

पदपाठ– स्वस्ति। नः। इन्द्रः वृद्धश्रवाः। स्वस्ति। नः। पूषा। विश्वऽवेदाः। स्वस्ति। नः। तार्क्ष्यः। अरिष्टऽनेमिः। स्वस्ति। नः। बृहस्पतिः। दधातु।।६।।

सायणभाष्य– वृद्ध प्रभृतं श्रवः श्रवणं स्तोत्रं हविर्लक्षणमन्नं वा यस्य तादृशः इन्द्रो नोऽस्माकम्। 'स्वस्तीत्यविनाशनाम' (निरु. ३/२१)। स्वस्त्यविनाशं दधातु विदधातु करोतु। विश्ववेदाः। विश्वानि वेत्ति इति विश्ववेदाः। यद्वा, विश्वानि सर्वाणि वेदांसि ज्ञानानि धनानि वा यस्य। तादृशः पूषा पोषको देवो नोऽस्माकं स्वस्ति विदधातु। अरिष्टनेमिः। नेमिरित्यायुधनाम। अरिष्टोऽहिंसितोनेमिर्यस्य। यद्वा-रथचक्रस्य धारा नेमिः। यत्सम्बंधिनो रथस्य नेमिः न हिंस्यते सोऽरिष्टनेमिः। एवम्भूतस्तार्क्ष्यस्तृक्षस्य पुत्रो गरुत्मान् नोऽस्माकं स्वस्त्यविनाशं विदधातु तथा बृहस्पतिः बृहतां देवानां पालयिता नोऽस्माकं स्वस्त्यविनाशं विदधातु।

अन्वय– बृद्धश्रवाः इन्द्रः नः स्वस्ति दधातु, विश्वेदाः पूषाः नः स्वस्ति (दधातु), अरिष्नेमिः तार्क्ष्यः न स्वस्ति (दधातु), वृहस्पतिः नः स्वस्ति (दधातु)।

शब्दार्थ– बृद्धश्रवाः = प्रभूत यशस्वी, अत्यधिक अन्न वाले। **स्वस्ति** = कल्याण। **दधातु** = करें, प्रदान करें। **विश्ववेदाः** = सर्वज्ञ, समस्त धनों से युक्त। **पूषा** = पूषा देवता, देव। **अरिष्टनेमिः** = अहिंसित रथ चक्र वाला, अहिंसित चक्रपरिधि वाला, अहिंसित आयुध से युक्त। **तार्क्ष्यः** = गरुड़ देव। वृहस्पतिः = वृहद्देवों के पालनकर्ता, वृहस्पति देव।

अनुवाद– प्रभूत यशस्वी इन्द्र हमारा कल्याण करें। सर्वज्ञ पूषा (देव) हमारा कल्याण करें। अहिंसित आयुध वाले तार्क्ष्य (गरुड़) हमारा कल्याण करें। वृहस्पति (देव) हमारा कल्याण करें।

व्याकरण– बृद्धश्रवाः- बृद्धं श्रवः यस्य सः बहुब्रीहिसमास। **विश्वभेदाः**- विश्वानि वेत्ति इति, सर्वज्ञ। **अरिष्टनेमिः**- अहिंसितो नेमिः यस्य सः (बहु.)। **विदधातु**- √ वि उपसर्ग + धा + लोट् प्र.पु.ए.।

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह।।७।।

पदपाठ– पृषत्ऽअश्वाः। मरुतः। पृश्निऽमातरः। शुभंऽयावानः। विदथेषु। जग्मयः। अग्निऽजिह्वाः। मनवः। सूरऽचक्षसः। विश्वे। नः। देवाः। अवसा। आ। गमन्। इह।

सायणभाष्य–पृषदश्वाः। पृषद्भिः श्वेतविन्दुभिर्युक्ता अश्वा येषां ते तथोक्ताः। पृश्निनानावर्णा गोर्माता। येषाम्। शुभंयावानः। शुभं शोभनं यान्ति गच्छन्तीति शुभंयावानः शोभनगतयः इत्यर्थः। विदथेषु यज्ञेषु जग्मयो गन्तारः। अग्निजिह्वा अग्नेर्जिह्वायां वर्तमानाः। सर्वे हि देवा हविःस्वीकरणायाग्नेर्जिह्वायां वर्तन्ते। तादात्म्यात् ताच्छब्द्यम्। मनवः सर्वस्य मन्तारः। सूरचक्षसः सूर्यप्रकाश इव चक्षुः प्रकाशो येषां त एवम्भूता मरुतो मरुत्सञ्ज्ञका विश्वेदेवाः सर्वे देवाः नोऽस्मानिहास्मिन् कालेऽवसा रक्षणेन सह आगमन् आगच्छन्तु।

अन्वय–पृषदश्वाः पृश्निमातरः शुभंयावानः विदथेषु जग्मयः अग्निजिह्वाः मनवः सूरचक्षसः मरुतः, विश्वे देवा नः अवसा इह आ गमन्।

शब्दार्थ– पृषदश्वा: = चितकबरी घोड़ियों वाले, श्वेतबिन्दुयुक्त अश्वों वाले। **पृश्निमातरः** = पृश्निसंज्ञिका माता वाले, विविध वर्णों वाली गौ है माता जिनकी, वे। **शुभंयावानः** = शुभ गति वाले। **विदथेषु** = यज्ञों में, यज्ञस्थलों में। **जग्मयः** = जाने वाले, पहुँचने वाले। **अग्निजिह्वा** = अग्निरूपी जिह्वा वाले, अग्नि की जिह्वा पर स्थित। **मनवः** = मननशील, सर्वज्ञ। **सूरचक्षसः** = सूर्यरूपी नेत्रों वाले, सूर्य के समान नेत्रों वाले। **मरुतः** = मरुत्-संज्ञक। **विश्वेदेवाः** = सभी देवता। **नः** = हमारे। **अवसा** = रक्षा के लिए, सहायता के साथ। **इह** = यहाँ पर। **आगमन्** = आ जायँ, आवें।

अनुवाद– चितकबरी घोड़ियों वाले, पृश्नि-संज्ञिका माता वाले, शुभ गति वाले, यज्ञ-स्थलों में पहुँचने वाले, अग्नि रूपी जिह्वा वाले, सर्वज्ञ, सूर्य रूपी नेत्रों वाले मरुत्संज्ञक सभी देव हमारी सहायता के साथ यहाँ पर आ जायँ।

व्याकरण– पृषदश्वाः - पृषद्भिः श्वेतविन्दुभिः युक्ता अश्वा येषां ते (सायण), पृषत्यः अश्वाः येषां ते (महीधर)। यद्यपि सायण के अर्थ को भी महीधर स्वीकार करते हैं। निघण्टु में 'पृषत्यो मरुताम्'- मरुतों की घोड़ियाँ चितकबरी कही गई हैं। **पृश्निमातरः** - पृश्निः नानावर्णा गौः माता येषाम् ते (सायण)। पृश्निद्यौर्माता येषां ते (उव्वट)। पृश्निर्द्यौगौर्दितिर्वा माता जननी येषां ते पृश्निमातरः (महीधर)। **शुभंयावानः** - शुभं कल्याणं यन्ति प्राप्नुवन्ति प्रापयन्ति वा (महीधर), शुभ शोभनं यान्ति गच्छन्तीति शुभंयावानः (सायण)- शुभम् +✓या + वनिप् प्रत्यय प्र. ब. व. **जग्मयः** - ✓गम् +कि प्रत्यय +प्र.ब.व.। **अग्निजिह्वाः** - अग्नेर्जिह्वायां वर्तमानाः (सायण)। अग्निर्जिह्वा भोजनसाधनं येषां ते (महीधर)। **मनवः** - ✓मन् + उ + प्र.ब.व.। **सूरचक्षसः** - सूर्यप्रकाश इव चक्षः प्रकाशो येषां ते - (सायण)। सूरः सूर्यश्चक्षः चक्षुर्येषां ते, सूर्य चक्षते पश्यन्ति वा। - (महीधर)। **अवसा** - ✓अव् रक्षणे + असुन् प्रत्यय + तृ.ए.व.। **गमन्** - ✓गम् + लेट् + प्र.पु.ब.व.।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।। ८।।

पदपाठ– भद्रम्। कर्णेभिः। शृणुयाम। देवाः। भद्रम्। पश्येम। अक्षऽभिः। यजत्राः। स्थिरैः। अङ्गैः। तुष्टुऽवांसः। तनूभिः। वि। अशेम। देवऽहितम्। यत्। आयुः।। ८।।

सायणभाष्य– हे देवाः दानादिगुणयुक्ताः सर्वे देवाः कर्णेभिः अस्मदीयैः श्रोत्रैर्भद्रं भजनीयं कल्याणं वचनं शृणुयाम युष्मत्प्रसादाच्छ्रोतुं समर्थाः स्याम। अस्माकं व्याधि कदाचिदपि मा भूत्। हे यजत्राः यागेषु चरुपुरोडाशादिभिर्यष्टव्या देवा अक्षभिरक्षिभिरात्मीयैश्चक्षुभिर्भद्रं शोभनं पश्येम द्रष्टुं समर्थाः स्याम। अस्माकं दृष्टिप्रतिघातो मा भूत्। स्थिरैदृढैरङ्गैर्हस्तपादादिभिरवयवैस्तनूभिः शरीरैश्च युक्ता वयं तुष्टुवांसो युष्मान् स्तुवन्तो यदायुः षोडशाधिकशतप्रमाणं विंशत्यधिकशतप्रमाणं वा देवहितं देवेन प्रजापतिना स्थापितं तद् व्यशेम प्राप्नुयाम।।

अन्वय– (हे) यजत्राः देवाः कर्णेभिः भद्रं शृणुयाम, अक्षभिः भद्रं पश्येम, स्थिरैः अङ्गैः तनूभिः तुष्टुवांसः देवहितं यत् आयुः (तद्) व्यशेम।

शब्दार्थ– यजत्राः = यजनीय, यजमानों के रक्षक। **देवाः** = देवतागण। **कर्णेभिः** = कानों से। **भद्रम्** = कल्याणकारी, अनुकूल। **शृणुयाम** = सुनें। **अक्षभिः** = आंखों से। **पश्येम**

= देखें। **स्थिरैः** = दृढ़, मजबूत। **अङ्गैः** = अङ्गों से। **तनूभिः** = शरीरों से। **तुष्टुवांसः** = स्तुति करते हुए। **देवहितम्** = देवों द्वारा स्थापित, देवों द्वारा निश्चित की गई। **यत्** = जो। **आयुः** = आयु है (उस को)। **व्यशेम** = प्राप्त करें।

अनुवाद– (हे) यजमानों के रक्षक देवतागण! हम (स्तोता) कानों से कल्याणकारी (बातें) सुनें, आंखों से कल्याणकारी (वस्तुओं एवं घटनाओं को) देखें। दृढ़ अङ्गों से युक्त शरीरों द्वारा (आप सबकी) स्तुति करते हुए, देवताओं द्वारा निश्चित की गई जो आयु (है उसे) प्राप्त करें।

व्याकरण– कर्णेभिः = वैदिक भाषा में 'भिस्' को विकल्प से 'ऐस्' आदेश होता है। अतः कर्णैः एवं कर्णेभिः दोनों रूप बनते हैं– कर्ण + भिस् (ऐस्)। **शृणुयाम** = ✓ श्रु + लोट् + उ. पु. ब. व.। **पश्येम** = ✓ दृश् (पश्य) लोट् + उ. पु. ब. व.। **अक्षभिः** = अक्ष + तृ. ब. व.। **यजत्रा** = यजन्तं त्रायन्ते रक्षन्ति यजत्रा यजमानपालकाः। यज्ञकत्ताओं के रक्षक (महीधर)। यागेषु चरुपुरोडाशादिभिर्यष्टव्याः। यज्ञों में चरुपुरोडाश आदि के द्वारा यजनीय। **(सायण)** = ✓ यज् + त्रै + क्विप् + प्र. ब. व.। **तुष्टुवांसः** = ✓ ष्टुञ् स्तुतौ + लिट् + क्वसु + प्र. ब. ब.। **देवहितम्** = देवैः हिंतम्। ✓ धा + क्त = हितम्। 'दधातेर्हि' (पा. सू. ७।४।४२) से ✓ 'धा' को 'हि' आदेश।

श॒तमिन्नु॑ श॒रदो॒ अन्ति॑ देवा॒ यत्रा॑ नश्च॒क्रा ज॒रसं॑ त॒नूना॑म्।
पु॒त्रासो॒ यत्र॑ पि॒तरो॒ भव॑न्ति॒ मा नो॑ म॒ध्या रीरिषतायु॒र्गन्तोः॑॥९॥

पदपाठ– श॒तम्। इत्। नु। श॒रदः॑। अन्ति॑। दे॒वाः॒। यत्र॑। नः॒। च॒क्र। ज॒रस॑म्। त॒नूना॑म्। पु॒त्रासः॑। यत्र॑। पि॒तरः॑। भव॑न्ति। मा। नः॒। म॒ध्या। री॒रि॒ष॒त॒। आयुः॑। गन्तोः॑॥९॥

सायण-भाष्य– हे देवा अन्त्यन्तिके मनुष्याणां समीप आयुष्ट्वेन भवद्भिः कल्पिताः शरदः संवत्सराः शतमिन्नु शतं खलु। यस्मात् सृष्टिकाले मनुष्याणां शतं संवत्सरा आयुरिति युष्माभिः परिकल्पितं तस्मान्नोऽस्माकमायुर्गन्तोः क्लृप्तस्यायुषो गमनात् पूर्वं मध्या मध्ये मा रीरिषत मा हिंसीष्ट। कीदृशान्। नोऽस्माकं तनूनां शरीराणां जरसं जरां यत्र यस्यामवस्थायां चक्र कृतवन्तो यूयम्। यत्र च पुत्रासः पुत्राः पितरोऽस्माकं रक्षितारो भवन्ति। ईदृग्दशोपपन्नानित्यर्थः।

अन्वय– (हे) देवाः (नः) अन्ति शरदः शतम् इत् नु, यत्र नः तनूनां जरसं चक्र। यत्र पुत्रासः पितरः भवन्ति, नः आयुः गन्तो मध्या मा रीरिषत।

शब्दार्थ– (हे) देवा = हे देवतागण! (**नः** = हमारे)। **अन्ति** = पास। **शरदः** = वर्ष। **शतम्** = सौ। **इत्** = ही। **यत्र** = जिसमें। **नः** = हमारे। **तनूनाम्** = शरीरों की। **जरसम्** = वृद्धावस्था। **चक्र** =कर देते हो। **यत्रा** = जिसमें। **पुत्रासः** = पुत्र। **पितरः** = पिता। **भवन्ति** = होते हैं, हो जाते हैं। **नः** = हमारी। **आयुः** = आयु को। **गन्तोः** = (जीवन) गति के। **मध्या** = मध्य में। **मा** = मत। **रीरिषत** = हिंसित करो।

अनुवाद– हे देवतागण! (हमारे) पास वर्षों के सौ ही हैं, जिसमें (तुम लोग) हमारे शरीरों को बृद्धावस्था से युक्त कर देते हो; जिसमें (हमारे) पुत्र हमारे रक्षक हो जाते हैं। आप लोग हमारी आयु को (जीवन) गति के मध्य में हिंसित न करें।

व्याकरण– अन्ति- 'अन्तिक' अव्यय पद का 'कादिलोपो बहुलमिति वक्तव्यम्' से ककार का लोप हो गया हैं। **यत्रा**- यत्र शब्द को 'ऋचि तुनुघमक्षुतङकुत्रो.' (पा. सू. ६/३/१३३)

से संहितापाठ में दीर्घ हो गया है। **चक्रा-** ✓कृ + लिट् लकार म.पु.ब.व.। 'द्वयचोऽतस्तिङ्' (पा. सू. ६/३/१३५) से संहितापाठ में दीर्घ हो गया है। **जरसम्-** 'जरा' शब्द को 'जराया जरसन्यतरस्याम्' (पा.सू. ७/२/१०१) से जरस् आदेश होकर 'सुपां' सुलुक. ... (पा. सू. ७/१/३९) से ड' आदेश, द्वि. ए. व.। रीरिषत- ✓रिष्, हिंसायाम् + लुङ् + म.पु.ब.व.। गन्तोः- ✓गम् से 'भावलक्षणे स्थेण्' (पा. सू. ३/४/१६) से 'तोसुन्' प्रत्यय। मध्या- मध्ये का वेद में मध्या रूप हो गया है।

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम्।।१०।।

पदपाठ- अदि॑तिः। द्यौः। अदि॑तिः। अ॒न्तरि॑क्षम्। अदि॑तिः। मा॒ता। सः। पि॒ता। सः। पु॒त्रः। विश्वे॑। दे॒वाः। अदि॑तिः। पञ्च॑। जनाः। अदि॑तिः। जा॒तम्। अदि॑तिः। जनि॑ऽत्वम्।।१०।।

सायणभाष्य-अदितिः अदीना अखण्डनीया वा पृथिवी देवमाता वा सैव द्यौर्द्योतनशीलो नाकः। सैव अन्तरिक्षमन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्य ईक्ष्यमाणं व्योम। सैव माता निर्मात्री जगतो जननी। सैव पितोत्पादकः। ततश्च स पुत्रो मातापित्रोर्जातः पुत्रोऽपि सैव। विश्वेदेवाः सर्वेऽपि देवाः अदितिरेव। पञ्चजना निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः। यद्वा- गन्धर्वाः पितरो देवाः असुरा रक्षांसि। तदुक्तं यास्केन- "गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौप मन्यवः" (निरु. ३/८) इति। ब्राह्मणे त्वेवमाम्नातम्- "सर्वेषां वा एतत् पञ्चजनानामुक्थं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां पितृणां च" (ऐ.ब्रा. ३/३१) इति। तत्र गन्धर्वाप्सरसामैक्यात् पञ्चजनत्वम्। एवंविधाः पञ्चजना अप्यदितिरेव। जातं जननं प्रजानामुत्पत्तिः साप्यदितिरेव। जनित्वं जन्माधिकरणं तदप्यदितिरेव। एवं सकलजगदात्मनादिति स्तूयते। उक्तं च यास्केन- 'इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे' (निरु. ४/२३) इति।

अन्वय- अदितिः द्यौः, अदितिः अन्तरिक्षम्। अदितिः माता, सः पिता, सः पुत्रः। अदितिः पञ्चजनाः, अदितिः विश्वेदेवाः, अदितिः जातं जनित्वम्।

शब्दार्थ-द्यौः = द्युलोक। **अन्तरिक्षम्** = अन्तरिक्षलोक। **पञ्चजनाः** = आर्यों की पाँच जातियाँ। **जातम्** = जो उत्पन्न हुआ है। **जनित्वम्** = जो उत्पन्न होने वाला है।

अनुवाद- अदिति द्युलोक (है), अदिति अन्तरिक्ष (है) अदिति माता (उत्पन्न करने वाली) है; वह पिता (पालन करने वाला) (है); वह पुत्र (नरक से बचाने वाला) (है) अदिति पञ्चजन (है) अदिति सभी देव है। (वही) उत्पन्न हुआ है एवम् (उत्पन्न होने वाला भी है)।

व्याकरण- अन्तरिक्षम्- अन्ता द्यावापृथिव्योर्मध्य ईक्ष्यमाणं व्योम। द्युलोक एवं पृथ्वी के मध्य दृष्टिगोचर होन वाले व्योम को अन्तरिक्ष कहा गया है। **पञ्चजनाः** - इस शब्द के अर्थ में मतभेद है। **यास्क** - गन्धर्व, पितर, देव, असुर एवं राक्षस। **औपमन्यव** -ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं निषाद। **ऐतरेय ब्राह्मण** - देव, मनुष्य, गन्धर्व-अप्सरा, सर्प तथा पितर। **ऋग्वेद** - यदु, तुर्वशु, द्रुह्यु, अनु और पुरु, ये जातियाँ ही पञ्चजन हैं। **जनित्वम्** - ✓जन् + त्वन् प्रत्यय (औणादिक)।

विष्णुसूक्तम् (ऋ. १/१५४)

ऋषि-दीर्घतमा　　　　देवता-विष्णु　　　　छन्द-त्रिष्टुप्

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः।।१।।

पदपाठ– विष्णोः। नु। कम्। वीर्याणि। प्र। वोचम्। यः। पार्थिवानि। विऽममे। रजांसि। यः। अस्कभायत्। उत्ऽतरम्। सधऽस्थम्। विऽचक्रमाणः। त्रेधा। उरुऽगायः।।१।।

सायणभाष्य– हे नराः विष्णोः व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु कम् अतिशीघ्रं प्रवोचम् प्रब्रवीमि। अत्र यद्यपि नु कम् इति पदद्वयम् तथापि यास्केन 'नवोत्तराणि पदानि' (निरु.३/१२) इत्युक्तत्वात् शाखान्तरे एकत्वेन पाठाच्च नु इत्येतस्मिन्नेवार्थे नु कम् इति पदद्वयम्, कानि तानीति तत्राह। यः विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि रञ्जनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रयाभिमानीनि अग्निवाय्वादित्यरूपाणि रजांसि विममे विशेषेण निर्ममे।

अन्वय– नु कम् विष्णोः वीर्याणि प्रवोचम्, यः पार्थिवानि रजांसि विममे। उरुगायः यः त्रेधा विचक्रमाणः उत्तरं सधस्थम् अस्कभायत्।

शब्दार्थ– **नु** = अब। **कम्** = पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त निपात। **विष्णोः** = विष्णु (देवता) के। **वीर्याणि** = वीरतायुक्त (वीरतापूर्ण) कार्यों को। **प्रवोचम्** = कहता हूँ, वर्णन करता हूँ। **यः** = जिसने। **पर्थिवानि** = पृथिवी-सम्बन्धी, पृथिवी से सम्बन्धित। **रजांसि** = प्रदेशों को, स्थानों को, लोकों को। **विममे** = वनाया है, निर्मित किया है, अथवा नापा है। **उरुगायः** = विशाल गति वाले। **यः** = जिसने। **त्रेधा** = तीन प्रकार से। **विचक्रमाणः** = चलते हुए, गति करते हुए, पादन्यास (पादप्रक्षेप) करते हुए। **उत्तरम्** = उत्तरवर्ती, ऊपर स्थित, सर्वोच्च। **सधस्थम्** = (देवताओं के) सहनिवासस्थान को, वह स्थान जहाँ पर देवता एक साथ निवास करते हैं, स्वर्ग लोक। **अस्कभायत्** = आधार प्रदान किया, स्थिर किया, स्थापित किया।

अनुवाद– अब मैं (उस) विष्णु (देवता) के वीरतापूर्ण कार्यों को कहता हूँ, जिसने पृथिवी से सम्बन्धित स्थानों (प्रदेशों) को निर्मित किया है (या नापा है)। विशाल गति वाले (= विस्तीर्ण पादप्रक्षेप वाले) जिसने तीन प्रकार से पादन्यास (पादप्रक्षेप) करते हुए उत्तरवर्ती (ऊपर स्थित) (देवताओं के) सहनिवासस्थान (स्वर्गलोक) को स्थिर किया है।

व्याकरण– वीर्याणि-वीर + यत् = वीर्य + द्वितीया बहु.व.। छन्द की दृष्टि से इसका उच्चारण 'वीरिआणि' तथा वीरियाणि रूप से किया जाता है। 'तित्स्वरितम्' से यहाँ स्वरित स्वर

है। **वोचम्**- ✓वच् (बोलना, कहना) + लुङ्, उत्तम पु.एक.। अट् (अ) का अभाव छान्दस् है; लुङ् का प्रयोग वर्तमान अर्थ में हुआ है। **विममे**- वि + ✓मा (मापना, निर्माण करना) + लिट्, प्र.पु. ए. । **उरुगायः** - उरु +✓गै + अच्, प्रथमा एक., यः का विशेषण। **विचक्रमाणः** - वि + ✓क्रम् (क्रमण करना, पग रखना) + कानच्, प्रथमा एक.। **सधस्थम्** - सह देवा तिष्ठन्ति यस्मिन् तत् - सह + स्था; 'सह' के स्थान पर 'सध' हो गया है। **अस्कभायत्** - ✓स्कभ् (आधार प्रदान करना, स्थापित करना) + लङ्, प्रथम पु.एक.।

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।।२।।

पदपाठ– **प्र। तत्। विष्णुः। स्तवते। वीर्येण। मृगः। नः। भीमः। कुचरः। गिरिऽस्थाः। यस्य। उरुषुं। त्रिषु। विऽक्रमणेषु। अधिऽक्षियन्ति। भुवनानि। विश्वा।।२।।**

सायणभाष्य– यस्येति वक्ष्यमाणत्वात् स इति अवगम्यते। स महानुभावः वीर्येण स्वकीयेन वीरकर्मणा पूर्वोक्तरूपेण स्तवते स्तूयते सर्वैः। कर्मणि व्यत्ययेन शप्। वीर्येण स्तूयमानत्वे दृष्टान्तः। मृगो न सिंहादिरिव। यथा स्थविरोधिनी मृगयिता सिंहः भीमः भीतिजनकः कुचरः कुत्सितहिंसादिकर्ता दुर्गमप्रदेशगन्ता वा गिरिष्ठाः पर्वताद्युन्नतप्रदेशस्थायी सर्वैः स्तूयते।

अन्वय– मृगः न भीमः कुचरः गिरिष्ठाः तत् विष्णुः वीर्येण प्रस्तवते। यस्य त्रिषु उरुषु विक्रमणेषु विश्वा भुवनानि अधिक्षियन्ति।

शब्दार्थ– **मृगः न** = (सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक) पशु के समान। **भीमः** = भयंकर, भयानक। **कुचरः** = दुर्गम स्थानों में भ्रमण करने वाला, कुत्सित हिंसा आदि कार्य करने वाला (पशु), सर्वत्र विचरण करने वाला। **गिरिष्ठाः** = पर्वत पर रहने वाला (पशु), पर्वत के समान उन्नत लोक में रहने वाला। **तत् विष्णु** = वह विष्णु देवता। **प्रस्तवते** = स्तुत किया जाता है, स्तुति प्राप्त करता है। **यस्य** = जिसके। **त्रिषु उरुषु विक्रमणेषु** = तीन विस्तीर्ण पादन्यासों (पादप्रक्षेपों, डगों) में। **विश्वा भुवनानि** = समस्त लोक या समस्त लोकों में स्थित प्राणी। **अधिक्षियन्ति** = निवास करते हैं।

अनुवाद– भयंकर, दुर्गम स्थलों में भ्रमण करने वाले (या कुत्सित हिंसा आदि करने वाले) तथा पर्वत पर रहने वाले (सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक) पशु (जन्तु, मृग) के समान भयंकर, सर्वत्र (सभी लोकों में) विचरण करने वाला तथा पर्वत के समान उन्नत लोक में निवास करने वाला वह विष्णु देव अपने वीरतापूर्ण कार्यों के कारण स्तुत किया जाता है (स्तुति प्राप्त करता है); जिस (विष्णु) के तीन विस्तीर्ण (विस्तृत) पाद-प्रक्षेपों (पगों, डगों) में सम्पूर्ण लोक (अथवा सम्पूर्ण लोकों में स्थित प्राणी) निवास करते हैं।

व्याकरण– **न**-वेद में 'न' निषेध तथा उपमा दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ यह उपमा अर्थ में है। **कुचरः** - कु (या क्व) ✓चर् (विचरण करना) + ट; कुत्सित प्रदेशों में जाने वाला (या कुत्सित कार्य करने वाला) तथा कहाँ (क्व) न जाने वाला (अर्थात् सर्वत्र जाने वाला)। **तत्**-व्यत्यय से यहाँ पुल्लिङ्ग (सः) के स्थान पर नपुंसकलिङ्ग (तत्) का प्रयोग हुआ है। **प्रस्तवते**- प्र + ✓स्तु (स्तुति करना) + लट्, प्र.पु.एक. कर्मवाच्य; स्तूयते के स्थान पर स्तवते

प्रयुक्त हुआ है। दूर (=व्यवहित) होने पर भी 'प्र' उपसर्ग 'स्तवते' क्रिया से सम्बद्ध है। वेद में उपसर्ग क्रिया से दूर भी प्रयुक्त होते हैं। **विक्रमणेषु**-वि + ✓क्रम् + ल्युट् (अन), सप्तमी, बहु। विश्वा = विश्वानि (लौकिक संस्कृत); नपुंसक लिङ्ग शब्दों के अन्त में 'आ' और 'आनि' दोनों होते हैं। **अधिक्षियन्ति**- अधि + ✓क्षि (निवास करना) + लट्. प्र. पु. बहु.।

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः।।३।।

पदपाठ– प्र। विष्णवे। शूषम्। एतु। मन्म। गिरिऽक्षिते। उरुगायाय। वृष्णे। यः। इदम्। दीर्घम्। प्रऽयतम्। सधऽस्थम्। एकः। विऽममे। त्रिऽभिः। इत्। पदेभिः।।

सायणभाष्य– विष्णवे सर्वव्यापकाय शूषम् अस्मत्कृत्यादिजन्यं बलं महत्त्वं मन्म मननं स्तोत्रं मननीयं शूषं बलं वा विष्णुम् एतु प्राप्नोतु। कर्मणः सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी। कीदृशाय। गिरिक्षिते वाचि गिरिवदुन्तप्रदेशे वा तिष्ठते उरुगायाय बहुभिर्गीयमानाय वृष्णे वर्षित्रे कामानाम्। एवं महानुभावं शूषं प्राप्नोतु। कोऽस्य विशेष इति उच्यते। यः विष्णुः इदं प्रसिद्धं दृश्यमानं दीर्घम् अतिविस्तृतं प्रयतं नियतं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयम् एक इत् एक एवाद्वितीयः सन् त्रिभिः पदेभिः पादैः विममे विशेषेण निर्मितवान्।

अन्वय– गिरिक्षिते उरुगायाय वृष्णे विष्णवे शूषमन्म प्र एतु, यः एकः इत् इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थम् त्रिभिः पदेभिः विममे।

शब्दार्थ– गिरिक्षिते = पर्वत पर (अर्थात् पर्वत के समान उन्नत लोक में) निवास करने वाले। **उरुगायाय** = विशाल गतिवाले, विस्तीर्ण पाद-प्रक्षेप (डग) वाले। **वृष्णे** = कामनाओं को पूर्ण करने वाले। **विष्णवे** = विष्णु के लिये। **शूषम्** = बलशाली, उत्साहवर्धक। **मन्म** = प्रार्थना, स्तुति, मन्त्र। **प्र एतु** = जाय, प्राप्त हो, पहुँचे। **यः** = जिसने। **एकः** = अकेले ही। **इदम्** = इस। **दीर्घम्** = बड़े, लम्बे। **प्रयतम्** = फैले हुए, विस्तृत। **सधस्थम्** = (देवताओं के) सहनिवासस्थान को। **त्रिभिः पदेभिः** = तीन पाद-प्रक्षेपों से, तीन डगों से। **विममे** = नापा, निर्मित किया। **इत्** = पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त निपात।

अनुवाद– पर्वत पर (अर्थात् पर्वत के समान उन्नत लोक में) निवास करने वाले। विशाल गतिवाले, (अथवा विस्तीर्ण पाद-प्रक्षेपों वाले), कामनाओं को पूर्ण करने वाले विष्णु के पास (हमारा) बलशाली (उत्साहवर्धक) मन्त्र (= प्रार्थना) पहुँचे। जिस (विष्णु) ने अकेले ही इस लम्बे एवं विस्तृत (फैले हुए) (देवताओं के) सहनिवासस्थान को (अर्थात् तीनों लोकों को) तीन पाद-प्रक्षेपों (डगों) से नाप लिया (अथवा निर्मित किया)।

व्याकरण– एतु - ✓ इ + लोट्, प्र.पु.एक.। **प्रयतम्** - प्र + ✓ यम् + क्त। **पदेभिः** - पदैः तृतीया बहु.; भिस् (भिः) के स्थान पर ऐस् (ऐः) आदेश का अभाव छान्दस् है। **विममे** - वि + ✓ मा + लिट्, प्र.पु.एक.।

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा।।४।।

पदपाठ– यस्यं। त्री। पूर्णा। मधुंना। पुदानि। अक्षीयमाणा। स्वुधयां। मर्दन्ति। यः। ऊँ इति। त्रिुऽधातु। पृथिवीम्। उत। द्याम्। एकः। दाधारं। भुवनानि। विश्वा।।४।।

सायणभाष्य– यस्य विष्णोः मधुना मधुरेण दिव्येनामृतेन पूर्णा पूर्णानि त्रीणि पदानि अक्षीयमाणा अक्षीयमाणानि स्वधया अन्नेन मदन्ति मादयन्ति तदाश्रितजनान्। य उ य एव पृथिवीं प्रख्यातां भूमिं द्याम् उत द्योतनात्मकमन्तरिक्षं च विश्वा भुवनानि सर्वाणि भूतजातानि चतुर्दशलोकांश्च। यद्वा। पृथिवीशब्देन अधोवर्तीनि अतलवितलादिसप्तभुवनान्युपात्तानि। द्युशब्देन तदवान्तररूपाणि भूरादिसप्तभुवनानि। एवं चतुर्दशलोकान् विश्वा भुवनानि सर्वाण्यपि तत्रत्यानि भूतजातानि। त्रिधातु। त्रयाणां धातूनां समाहारस्त्रिधातु। पृथिव्यप्तेजोरूपधातुत्रयविशिष्टं यथा भवति तथा दाधार धृतवान्।

अन्वय– यस्य मधुना पूर्णा त्री पदानि अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति यः उ त्रिधातु एकः पृथिवीम् द्याम् उत् विश्वा भुवनानि दाधार।

शब्दार्थ– यस्य = जिस (विष्णु) के **मधुना** = मधु से। **पूर्णा** = पूर्ण, युक्त, भरे हुए। **त्री** = तीन। **पदानि** = पद, पादन्यास। **अक्षीयमाणा** = क्षीण न होते हुए। **स्वधया** = अन्न से। **मदन्ति** = आनन्दित (तृप्त) करते हैं। **यः** = जिसने। **उ** = पादपूरणार्थक निपात। **त्रिधातु** = तीन धातुओं (पृधिवी, जल और तेज) से युक्त होकर, तीन प्रकार से, तीन पग चलकर। **एकः** = अकेले ही। **पृथिवीम्** = पृथिवी लोक को। **द्याम्** = द्युलोक को। **उत** = और। **विश्वा** = सम्पूर्ण। **भुवनानि** = लोकों को। **दाधार** = धारण किया है।

अनुवाद– जिस विष्णु के मधु से भरे हुए तीन पद (पादन्यास) (कभी) क्षीण न होते हुए, अन्न से (आश्रित जनों को) आनन्दित (तृप्त) करते हैं ; जिस (विष्णु) ने (पृथिवी, जल और तेज रूप) तीन धातुओं से युक्त होकर, (अथवा तीन पग चलकर) पृथिवी लोक, द्युलोक और सम्पूर्ण लोकों को धारण किया है।

व्याकरण– त्री, पूर्णा, अक्षीयमाणा, विश्वा – ये क्रमशः त्रीणि, पूर्णानि, अक्षीयमाणानि तथा विश्वानि के नपुंसकलिङ्ग, प्रथमा बहुवचन के वैदिक रूप हैं। **मदन्ति**–मादयन्ति (लौकिक संस्कृत) ;✓मद् (आनन्दित करना)+लट् प्र. पु. बहु.। **त्रिधातु**–त्रयाणां धातूनां समाहारः इति त्रिधातु (समाहारद्वन्द्वः) ; तीन धातुओं (पृथिवी, जल और तेज) से युक्त होकर अथवा त्रिधातु=त्रेधा ; तीन प्रकार से=तीन पग चलकर। **दाधार**–✓धृ (धारण करना)+लिट्, प्र. पु. ए.।

तदस्य प्रियमुभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवुयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पुदे परुमे मध्व उत्सः।।५।।

पदपाठ– तत्। अस्यु। प्रियम्। अुभि। पार्थः। अुश्याम्। नरः। यत्रं। देवुऽयवः। मदन्ति। उरुुऽक्रमस्यं। सः। हि। बन्धुः। इुत्था। विष्णोः पुदे। पुरुमे। मध्वः। उत्सः।।५।।

सायणभाष्य– अस्य महतो विष्णोः प्रियं प्रियभूतं तत् सर्वैः सेव्यत्वेन प्रसिद्धः पाथः। अन्तरिक्षनामैतत्, 'पाथोऽन्तरिक्षं पथा व्याख्यातम्' (निरु॰ ६/७) इति यास्केनोक्तत्वात्। अविनश्वरं ब्रह्मलोकमित्यर्थः। अश्याम् व्याप्नुयाम्। तदेव विशिष्यते। यत्र स्थाने देवयवो देवं द्योतनस्वभावं विष्णुमात्मनः इच्छन्तो यज्ञदानादिभिः प्राप्तमिच्छन्तः नरः मदन्ति तृप्तिमनुभवन्ति। तदश्यामित्यन्वयः। पुनरपि तदेव विशिष्यते। उरुक्रमस्य अत्यधिकं सर्वं जगदाक्रममाणस्य तत्तदात्मना अत एव विष्णोः

व्यापकस्य परमेश्वरस्य परमे उत्कृष्टे निरतिशये केवलसुखात्मके पदे स्थाने मध्वः मधुरस्य उत्सः निष्यन्दो वर्तते। तदश्याम्। यत्र क्षुत्तृष्णाजरामरणपुनरावृत्त्यादिभयं नास्ति संकल्पमात्रेण अमृतकुल्यादिभोगाः प्राप्यन्ते तादृशमित्यर्थः। ततोऽधिकं नास्तीत्याह। इत्थमुक्तप्रकारेण स हि बन्धुः स खलु सर्वेषां सुकृतिनां बन्धुभूतो हितकरः वा तस्य पदं प्राप्तवतां न पुनरावृत्तेः। 'न च पुनरावर्तते' इति श्रुतेस्तस्य बन्धुत्वम्। हि शब्दः सर्वश्रुतिपुराणादिप्रसिद्धिद्योतनार्थः।।

अन्वय– अस्य तत् प्रियं पाथः अभि अश्याम् यत्र देवयवः नरः मदन्ति। उरुक्रमस्य विष्णोः परमे पदे मध्वः उत्सः, इत्था सः बन्धुः हि।

शब्दार्थ– अस्य = इस (विष्णु) के। **तत्** = उस। **प्रियम्** = प्रिय। **पाथः** = लोक, स्थान को। **अभि अश्याम्** = प्राप्त करूँ। **यत्र** = जहाँ पर। **देवयवः** = देवताओं को प्राप्त करने की इच्छा वाले, देवताओं की पूजा करने वाले। **नरः** = लोग। **मदन्ति** = आनन्दित होते हैं। **उरुक्रमस्य** = विशाल पादन्यास (डग) वाले, विस्तीर्ण गति वाले। **विष्णोः** = विष्णु के। **परमे पदे** = श्रेष्ठ (उत्कृष्ट) लोक में। **मध्वः** = मधु (अमृत) का। **उत्सः** = स्रोत, सरोवर। **इत्था** = इस प्रकार से। **सः** = वह (विष्णु)। **बन्धुः** = (सबका) हितैषी। **हि** = निश्चयार्थक निपात।

अनुवाद– इस (विष्णु) के उस प्रिय लोक (द्युलोक) को प्राप्त करूँ, जहाँ पर देवताओं को प्राप्त करने की इच्छा वाले (देवताओं की पूजा करने वाले) लोग आनन्द प्राप्त करते हैं। विशाल पादन्यास (डग) वाले विष्णु के परम (श्रेष्ठ उत्कृष्ट) लोक में मधु (अमृत) का सरोवर है। इस प्रकार वह (विष्णु) सबका हितैषी है।

व्याकरण– अश्याम्– ✓अश् (व्याप्त होना, प्राप्त करना, पहुँचना) + विधिलिङ्, उ. पु. एक.। **देवयवः**–देवं देवान् वा आत्मन इच्छतीति देवयुः; देव + क्यच् (य्) + असुन् (उ)=देवयुः। देवयु का प्रथमा बहु. देवयवः। यह वैदिक पद है। लौकिक संस्कृत में इसका प्रयोग नहीं होता। **नरः**–नृ शब्द का प्रथमा बहु.। **मध्वः**–'मधु' शब्द के षष्ठी का एक.; लोक में मधुनः होता है।

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि।।६।।

पदपाठ– ता। वाम्। वास्तूनि। उश्मसि। गमध्यै। यत्र। गावः। भूरिशृङ्गाः। अयासः। अत्र। अह। तत्। उरुऽगायस्य। वृष्णः। परमम्। पदम्। अव। भाति। भूरि।।६।।

सायणभाष्य– हे पत्नीयजमानौ वां युष्मदर्थं ता तानि गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धानि वास्तूनि सुखनिवासयोग्यानि स्थानानि गमध्यै युवयोः गमनाय उश्मसि कामयामहे। तदर्थं विष्णुं प्रार्थयाम इत्यर्थः। तानीत्युक्तां कानीत्याह। यत्र येषु वास्तुषु गावः रश्मयः भूरिशृङ्गा अत्यन्तोन्नत्युपेता बहुभिर्महात्मभिर्गातव्यस्य स्तुत्यस्य वृष्णः कामानां वर्षितुर्विष्णोस्तादृशं सर्वत्र पुराणादिषु गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धं परमं निरतिशयं पदं स्थानं भूरि अतिप्रभूतम् अवभाति स्वमहिम्ना स्फुरति।

अन्वयः– वाम् ता वास्तूनि गमध्यै उश्मसि, यत्र भूरिशृङ्गा अयासः गावः, अत्र अह उरुगायस्य वृष्णः तत् परमम् पदम् भूरि अवभाति।

शब्दार्थ– वाम् = तुम दोनों (इन्द्र और विष्णु अथवा यजमान और उसकी पत्नी) के। **ता** = उन। **वास्तूनि** = स्थानों को, लोकों को। **गमध्यै** = जाने के लिए। **उश्मसि** = इच्छा (कामना) करते हैं, चाहते हैं। **यत्र** = जहाँ। **भूरिशृङ्गा** = अनेक (बहुत) सींगों वाली ; अनेक प्रकार से फैलने वाली। **अयासः** = गतिशील, विचरणशील ; अत्यधिक प्रकाशवाली। **गावः** = गायें, किरणें। **अत्र** = यहाँ। **अह** = निश्चय ही (निश्चित अर्थ का वाचक निपात)। **उरुगायस्य** = विस्तृत गति वाले, विस्तीर्ण पादप्रक्षेपों (डगों) वाले। **वृष्णः** = मनोरथों (इच्छाओं) की वर्षा (पूर्ति) करने वाले। **तत्** = वह (प्रसिद्ध)। **परमम्** = उत्तम, श्रेष्ठ, उत्कृष्ट। **पदम्** = लोक। **भूरि** = अत्यन्त, अत्यधिक। **अव भाति** = प्रकाशित होता है, चमकता है।

अनुवाद– (हे इन्द्र और विष्णु) हम यजमानगण तुम दोनों के उन लोकों को जाना चाहते हैं, (अथवा- हे यजमान और उसकी पत्नी!) हम, तुम दोनों के उन लोकों में जाने के लिए इच्छा करते हैं अर्थात् हम चाहते हैं कि तुम्हें उन लोकों की प्राप्ति हो-सायण)। जहाँ बहुत सींगों वाली तथा गतिशील (विचरणशील) गायें (अथवा- जहाँ अनेक प्रकार से फैलने वाली तथा अत्यधिक प्रकाश वालीं किरणें) हैं। निश्चय ही यहाँ पर विस्तृत गति वाले (विस्तीर्ण पादप्रक्षेपों वाले) तथा मनोरथों (इच्छाओं) की पूर्ति (वर्षा) करने वाले (विष्णु) का वह परम पद (परम धाम, उत्कृष्ट लोक) अत्यधिक प्रकाशित हो रहा है।

व्याकरण– वाम्-युवयोः (ष. द्वि.) का वैकल्पिक रूप। **ता**-तानि (लौकिक संस्कृत); तत् नपुं., द्वि. बहु.। **गमध्यै**-गन्तुम् (लौकिक संस्कृत);✓गम् धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में वैदिक 'अध्यैन्' प्रत्यय। **उश्मसि**-✓वश् (कामना करना, इच्छा करना) + लट्, उ. पु., बहु., यह वैदिक रूप है ; 'इदन्तो मसि' सूत्र से मस् (मः) के स्थान पर 'मसि' आया है। **भूरिशृङ्गा**-भूरि शृङ्गाणि यासां ताः (बहुव्रीहि)। **भाति**-✓भा (प्रकाशित होना)। लट् + प्र. पु. ए. व.। **अयासः**-गत्यर्थक✓इण् अथवा ✓अय् + अच् प्रत्यय (कर्तरि, प्र. ब. व. (छान्दस्)। लौकिक संस्कृत में अयाः रूप होगा।

●

इन्द्रसूक्तम् (ऋग्वेद २।१२)

ऋषि-गृत्समद् देवता-इन्द्र छन्द-त्रिष्टुप्

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः।।१।।

पदपाठ– यः। जातः। एव। प्रथमः। मनस्वान्। देवः। देवान्। क्रतुना। परिऽअभूषत्। यस्य। शुष्मात्। रोदसी इति। अभ्यसेताम्। नृम्णस्य। मह्ना। सः जनासः। इन्द्रः।।१।।

सायणभाष्य– गृत्समदो ब्रूते। जनासः जना हे असुराः यो जात एव जायमान एव सन् प्रथमः देवानां प्रधानभूतः मनस्वान् मनस्विनामग्रगण्यः देवः द्योतमानः सन् क्रतुना वृत्रवधादिलक्षणेन स्वकीयेन कर्मणा देवान् सर्वान् यागदेवान् पर्यभूषत् रक्षकत्वेन पर्यग्रहीत् अत्यक्रामत्। यस्येन्द्रस्य शुष्मात् शारीरात् बलात् रोदसी द्यावापृथिव्यौ अभ्यसेतामविभीताम् नृम्णस्य सेनालक्षणस्य बलस्य मह्ना महत्त्वेन युक्तः स इन्द्रः नाहमिति।

अन्वय– यः प्रथमः मनस्वान् देवः जातः एव क्रतुना देवान् पर्यभूषत् यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेताम्, जनासः ! नृमूणस्य मह्ना सः इन्द्रः।

शब्दार्थ– यः = जो, जिसने। **प्रथमः** = प्रधान, प्रमुख। **मनस्वान्** = मनस्वी, बुद्धिमान्। **देवः** = देव ने। **जातः एव** = उत्पन्न होते ही। **क्रतुना** = पराक्रम से; शक्ति से, कर्म से। **देवान्** = देवों को। **पर्यभूषत्** = अभिभूत कर लिया, अतिक्रमण किया। **यस्य** = जिसकी। **शुष्मात्** = बल से, शक्ति से, पराक्रम से। **रोदसी** = द्युलोक और पृथिवी-लोक। **अभ्यसेताम्** = डर गये, काँप गये। **जनासः** = हे मनुष्यो ! **नृम्णस्य** = महान् बल की। **महना** = महिमा से, महत्त्व से (युक्त)। **सः** = वह। **इन्द्रः** = इन्द्र।

अनुवाद– जिस प्रमुख (एवं) मनस्वी देव ने उत्पन्न होते ही (अपने) पराक्रम से देवों को अभिभूत कर लिया (अथवा देवताओं का अतिक्रमण किया); जिसकी शक्ति से द्युलोक और पृथिवीलोक काँप गये, हे लोगो ! महान् बल की महिमा से युक्त वह (ही) इन्द्र है।

व्याकरण– जातः ✓ जन् + क्त + प्र.ए.। **मनस्वान्** = मनस् + मतुप् (क्तुप) + प्र.ए.। **पर्यभूषत्** = परि + ✓ भूष् + लङ्; प्र.पु. एक व.। **अभ्यसेताम्** = ✓ भ्यस् + लङ्, प्र.पु.द्वि.। **मह्ना** = महिम्ना का वैदिक रूप। **जनासः** = (वैदिक रूप) = जनाः; सम्बोधन बहुवचन, सर्वानुदात्त।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः।।२।।

पदपाठ– यः। पृथिवीम्। व्यथमानाम्। अदृंहत्। यः। पर्वतान्। प्रऽकुपितान्। अरम्णात्। यः। अन्तरिक्षम्। विऽममे। वरीयः। यः। द्याम्। अस्तभ्नात्। सः। जनासः। इन्द्रः।।२।।

सायणभाष्य– हे जनाः! यः इन्द्रःव्यथमानां चलतीं पृथिवीम् अदृंहत् शर्करादिभिर्दृढामकरोत्। 'दृंह दृहि बृद्धौ'। यः च प्रकुपितान् इतस्ततश्चलितान् पक्षयुक्तान् पर्वतान् अरम्णात् नियमितवान् स्वे स्वे स्थाने स्थापितवान्। यश्च वरीयः उरुतममन्तरिक्षं विमसे निर्ममे विस्तीर्णं चकारेत्यर्थ। यः च द्यां दिवमस्तभ्नात् तस्तम्भ निरुद्धामकरोत्। सः एव इन्द्रः नाहमिति।

अन्वय– यः व्यथमानां पृथिवीम् अदृंहत, यः प्रकुपितान् पर्वतान् अरम्णात्, यः वरीयः अन्तरिक्षम् विममे, यः द्याम् अस्तभ्नात्, जनासः ! सः इन्द्रः।

शब्दार्थ– यः = जिसने। **व्यथमानाम्** = काँपती हुई, डगमगाती हुई। **पृथिवीम्** = पृथ्वी को। **अदृंहत्** = दृढ़ किया, स्थिर किया। **यः** = जिसने। **प्रकुपितान्** = इधर-उधर उड़ने वाले, इधर-उधर चलने वाले। **पर्वतान्** = पर्वतों को। **अरम्णात्** = नियमित किया, स्थापित किया। **यः** = जिसने। **वरीयः** = विस्तृत। **अन्तरिक्षम्** = अन्तरिक्ष को। **विममे** = विशेष रूप से नापा, निर्माण किया। **यः** = जिसने। **द्याम्** = द्युलोक को। **अस्तभ्नात्** = रोका, निरुद्ध किया, थामा। **जनासः** = हे लोगो, मनुष्यो ! **सः** = वह। **इन्द्रः** = इन्द्र।

अनुवाद– जिसने काँपती हुई डगमगाती हुई पृथ्वी को स्थिर किया; जिसने उड़ने वाले पर्वतों को (अपने-अपने स्थान पर) स्थापित किया, जिसने विस्तृत अन्तरिक्ष को मापा (अथवा विस्तृत अन्तरिक्ष का निर्माण किया); जिसने द्युलोक को (गिरने से) रोका (अथवा द्युलोक को थामा) हे लोगो ! वह इन्द्र है।

व्याकरण– व्यथमानाम् = ✓ व्यथ् + शानच् + टाप् द्वि. एकवचन। **अदृंहत्** = ✓ दृह् + लङ् प्र.पु., एकव.। **प्रकुपितान्** = प्र + ✓ कुप् + क्त, द्वि., बहुव.। ऋग्वेद में स्वर बाद में होने पर पदान्त आन् के नकार का लोप होकर पूर्ववती स्वर अनुनासिक हो जाता है। इसलिए यहाँ 'प्रकुपिताँ' रूप प्राप्त हुआ। **अरम्णात्** = ✓ रम् + श्ना + लङ्, प्र. पु., एकव.। **विममे** = वि + ✓ मा + लिट्, प्र. पु., एकव.। **अस्तभ्नात्** = ✓ स्तम्भ् + लङ्, प्र.पु., एकव.।

यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्यो गा उदाजदपधा बलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः।।३।।

पदपाठ– यः। हत्वा। अहिम्। अरिणात्। सप्त। सिन्धून्। यः। गाः। उत्ऽआजत्। अपऽधा। बलस्य।। यः। अश्मनोः। अन्तः। अग्निम्। जजान। सम्ऽवृक्। समत्ऽसु। सः। जनासः। इन्द्रः।।३।।

सायणभाष्य– यः अहिं मेघहननं कृत्वा सप्त सर्पणशीलाः सिन्धून् स्यन्दनशीला अपः अरिणात् प्रेरयत्। यद्वा सप्त गङ्गायमुनाद्या मुख्या नदीररिणात्। 'रीङ् स्रवणे' क्रयादिः। यः च

बलस्य बलनामकस्यासुरम्य अपधा तत्कर्तृकान्निरुद्धाः गाः उदाजत् निरगमयत्। यश्चाश्मनोः, अश्नुते व्याप्नोत्यन्तरिक्षमित्यश्मा मेघः। अत्यन्तमृदुरूपयोर्मेघयोः अन्तः मध्ये वैद्युतमग्निं जजान उत्पादयामास। यश्च समत्सु .. संवृक् भवति सः इन्द्रः नाहर्मित।

अन्वय– यः अहिं हत्वा सप्तसिन्धून् अरिणात्, यः बलस्य अपधा गाः उदाजत्, यः अश्मनोः अन्तः अग्निं जजान समत्सु सम्वृक् जनासः! सः इन्द्रः।

शब्दार्थ– यः = जिसने। **अहिम्** = वृत्र नामक असुर को, जल को रोकने वाले मेघ को। **हत्वा** = मार कर। **सप्त** = सात। **सिन्धून्** = नदियों को। **अरिणात्** = प्रवाहित किया, बहाया। **यः** = जिसने। **बलस्य** = बल नामक असुर (बलासुर) की। **अपधा** = गुफा से, बाड़े से! **गाः** = गायों को। **उदाजत्** = बाहर निकाला। **यः** = जिसने। **अश्मनोः** = बादलों के, पत्थरों के। **अन्तः** = मध्य में। **अग्निम्** = अग्नि को। **जजान** = उत्पन्न किया। **समत्सु** = युद्धों में। **संवृक्** = विनाश करने वाला। **जनासः** = हे लोगो! **सः** = वह। **इन्द्रः** = इन्द्र।

अनुवाद– जिसने वृत्र को मारकर सात नदियों को प्रवाहित किया, जिसने बल नामक असुर की गुफा से गायों को बाहर निकाला, जिसने दो बादलों (अथवा पत्थरों) के मध्य में अग्नि को उत्पन्न किया, जो युद्धों में (शत्रु का) विनाश करने वाला है, हे लोगों! वह इन्द्र है।

व्याकरण– हत्वा- ✓ हन् + क्त्वा। **अरिणात्**- ✓रीङ् (रि) + लङ्, प्र.पु., एकव. । **अपधा**-अप + ✓ धा + **अङ्**- पं. एकव.। **समत्सु** सम् उपसर्ग + ✓अद + क्विप्, स. बहु.। **उदाजत्** - उत् + ✓अज् + अङ्, प्र.पु.एकव.। **जजान**- ✓जन् + लिट्, प्र.पु.एकव. । **संवृक्**- सम् + ✓वृज् + क्विप्, प्र.एक.।

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।
श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ।।४।।

पदपाठ– येन। इमा। विश्वा। च्यवना। कृतानि। यः। दासम्। वर्णम्। अधरम्। गुहा। अकरित्यकः।। श्वघ्नीऽइव। यः। जिगीवान्। लक्षम्। आदत्। अर्यः। पुष्टानि। सः। जनासः। इन्द्रः।।४।।

सायणभाष्य– येन इन्द्रेण इमा इमानि विश्वा च्यवना नश्वराणि भुवनानि कृतानि स्थिरीकृतानि। यः च दासं वर्णं शूद्रादिकम्, यद्वा दासपक्षपयितारम्। अधरं निकृष्टमसुरं गुहा गुहायां गूढस्थाने नरके वा अकः अकार्षीत्। यः अर्यः अरेः शत्रोः संबन्धीनि पुष्टानि आदत् आदत्ते। तत्र दृष्टान्तः। श्वघ्नीव। श्वभिर्मृगान् हन्तीति श्वघ्नी व्याधः। यथा व्याधो जिघृक्षितं मृगं परिगृह्णाति तद्वत्।

अन्वय– येन इमा विश्व च्यवना कृतानि, यः अधरम् दासम् वर्णम् गुहा अकः, यः श्वघ्नीव लक्षम् जिगीवान्, सः अर्यः पुष्टानि आदत्, जनासः! सः इन्द्रः।

शब्दार्थ– येन = जिसके द्वारा। **इमा** = ये । **विश्वा** = सम्पूर्ण। **च्यवना** = गतिशील, नश्वर। **कृतानि** = कर दी गई। **यः** = जिसने। **अधरम्** = निकृष्ट, नीच। **दासम् वर्णम्** = दास (शूद्र) वर्ण को, दास जाति को। **गुहा** = गुफा में, गूढ स्थान में। **अकः** = कर दिया। **यः** -

जिसने। **श्वघ्नीव** = व्याध (शिकारी) की भाँति, जुआरी की भाँति। **लक्षम्** = लक्ष्य को, दाँव को। **जिगीवान्** = जीते हुए, जीत कर। **अर्यः** = शत्रु के। **पुष्टानि** = धनों को। **आदत्** = ग्रहण किया, छीन लिया। **जनासः** = हे लोगो! **सः** = वह। **इन्द्रः** = इन्द्र।

अनुवाद– जिसके द्वारा ये सम्पूर्ण (वस्तुएँ) गतिशील कर दी गई हैं, जिसने निकृष्ट दास वर्ण को गुफा (या नरक) में कर दिया है, अपने शिकार को जीत लेने वाले शिकारी की भाँति (या दाँव को जीत लेने वाले जुआरी की भाँति) जिसने शत्रु के धनों को छीन लिया है, हे लोगों! वह इन्द्र है।

व्याकरण– इमा, विश्वा, च्यवना- प्र. बहुवचन (वैदिक रूप) = इमानि, विश्वानि, च्यवनानि; लौकिक रूप। **गुहा**- (वैदिक रूप)= गुहायाम्, सप्तमी के प्रत्यय का लोप हो गया है। **अकः** - (वैदिक रूप) = ✓ कृ + लुङ्, प्र.पु. एकव.। **जिगीवान्** - ✓ जि + क्वसु, प्र. एक व.। वैदिक संधि के नियमविशेष से नकार अनुनासिक हो गया अतः जिगीवाँ। **अर्यः** -(वैदिक रूप)=अरेः, षष्ठी एकव.। **आदत्** - (वैदिक रूप) आ + ✓दा + लुङ् प्र. पु. एक.।

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवामिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ।।५।।

पदपाठ– यम्। स्म। पृच्छन्ति। कुह। सः। इति। घोरम्। उत। ईम्। आहुः। न। एषः। अस्ति। इति। एनम्। सः। अर्यः। पुष्टीः। विजःऽइव। आ। मिनाति। श्रत्। अस्मै। धत्त। सः। जनासः। इन्द्रः।।५।।

सायणभाष्य– अपश्यन्तो जनाः घोरं शत्रूणां घातकं यं पृच्छन्ति स्म कुह सेति। स इन्द्रः कुत्र वर्तते। इति। सेति। 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' इति सोर्लोपे गुणः। न क्वचिदसौ तिष्ठतीति मन्यमानः एनम् इन्द्रम् आहुः एषः इन्द्र न अस्तीति। तथा च मन्त्रः– 'नेन्द्रः' अस्तीति नेम उत्व आह' (ऋ.सं. ८/१००/३) इति। ईम् इति पूरणः। सः इन्द्र विज इव। इवशब्द एवार्थे। उद्वेजक एव सन्। अर्यः अरेः सबन्धीनि पुष्टीः पोषकाणि गवाश्वादीनि धनानि आ मिनाति सर्वतो हिनस्ति। मीङ्हिंसायाम्'। 'मीनातेर्निगमे' इति ह्रस्वः। तस्मात् श्रदस्मै इन्द्राय धत्त। स इन्द्रोऽस्तीति विश्वासमत्र कुरुत। यद्यप्यसौ विशेषतोऽस्माभिर्न दृश्यते तथापि अस्तीति विश्वासं कुरुत। एवं निर्धारणीयमहिमोपेतः सः इन्द्रः नाहमिति।

अन्वय– यं घोरम् सः कुह इति पृच्छन्ति, उत एनम् एषः न अस्ति इति आहुः सः विजः इव अर्यः पुष्टीः आमिनाति अस्मै श्रत् धत्त, जनासः! सः इन्द्रः।

शब्दार्थ– यम् घोरम्- जिस भयंकर (देवता) के विषय में। **सः** = वह। **कुह** = कहाँ। **इति** = ऐसा, इस प्रकार। **पृच्छन्ति** = पूछते हैं। **उत** = और। **ईम्** = पाद की पूर्ति हेतु निपात। **एनम्** = जिसके (इसके) विषय में। **एषः** = यह। **न** = नहीं। **अस्ति** = है। **इति** = ऐसा, इस प्रकार। **आहुः** = कहते हैं। **सः** = वह। **विजः इव** = विजेता की भाँति, जुआरी की तरह। **अर्यः** = शत्रु के। **पुष्टीः** = धन को, सम्पत्ति को। **आमिनाति** = नष्ट कर देता है, छीन लेता है। **अस्मै** = इसके लिए, इसमें! **श्रत्** = श्रद्धा। **धत्त** = धारण करो। **जनासः** = हे मनुष्यो! **सः** = वह। **इन्द्रः** = इन्द्र है।

अनुवाद– जिस भयंकर (देवता) के विषय में 'वह कहाँ है?' ऐसा (लोग) पूछते हैं; और जिसके विषय में 'यह नहीं है' इस प्रकार (भी) लोग कहते हैं, वह (देवता) विजेता की भाँति शत्रु के धन को पूर्णतः नष्ट कर देता है (बलपूर्वक छीन लेता है); हे लोगो! वह इन्द्र है। इसमें श्रद्धा धारण करो।

व्याकरण– कुह्- किम् + ह (वैदिक)। **सेति-** सः + इति, विसर्ग का लोप होकर गुणसंधि हुई। **पृच्छन्ति-** प्रच्छ् + लट्, प्र.पु.बहु.। **आहुः** - **ब्रू** (आह) लट् या लिट् प्र. पु. बहु। **अर्यः** - (वैदिक रूप) अरि + षष्ठी एकव. अरेः। **पुष्टीः** - ✓ पुष् + क्तिन् + द्वि. बहुव.। **मिनाति** - ✓ मी + लट्, प्र. पु. एकव. (वैदिक रूप)। **धत्त** - ✓ धा + लोट् म. पु. बहुव.।

यो र॒ध्रस्य॑ चोदि॒ता यः कृ॒शस्य॒ यो ब्र॒ह्मणो॒ नाध॑मानस्य की॒रेः।
यु॒क्तग्रा॑व्णो॒ योऽवि॒ता सु॑शि॒प्रः सु॒तसो॑मस्य॒ स जना॑स इन्द्रः॥६॥

पदपाठ– यः। र॒ध्रस्य॑। चो॒दि॒ता। यः। कृ॒शस्य॑। यः। ब्र॒ह्मणः॑। नाध॑मानस्य। की॒रेः। यु॒क्तऽग्रा॑व्णः। यः। अ॒वि॒ता। सु॒ऽशि॒प्रः। सु॒तऽसो॑मस्य। सः। ज॒ना॒सः॒। इन्द्रः॑॥६॥

सायण-भाष्य– यो रध्रस्य। 'रध् हिंसासंराद्धयोः।' समृद्धस्य चोदिता धनानां प्रेरयिता भवति। यः च कृशस्य च दरिद्रस्य च, यः च नाधमानस्य। नाधृणाधृयाच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु'। याचमानस्य कीरेः। करोतेः कीर्तयतेर्वा। स्तोतुः ब्रह्मणः ब्राह्मणस्य च धनानां प्रेरयिता। यः च सुशिप्रः शोभनहनुः सुशीर्षको वा सन् युक्तग्राव्णः सुतसोमस्य अभिषुतसोमस्य यजमानस्य अविता रक्षिता भवति सः एव इन्द्रः नाहमिति।

अन्वय– यः रध्रस्य चोदिता, यः कृशस्य, यः नाधमानस्य कीरेः ब्रह्मणः सुशिप्रः, यः युक्तग्राव्णः सुतसोमस्य अविता, जनासः! सः इन्द्रः।

शब्दार्थ– यः = जो। **रध्रस्य** = समृद्ध का, धनवान् का। **चोदिता** = प्रेरक, प्रेरणा देने वाला। **यः** = जो। **कृशस्य** = दरिद्र का, निर्धन का। **यः** = जो। **नाधमानस्य** = याचना करने वाले। **कीरेः** = स्तुति करने वाले का, स्तुतिगायक का। **ब्रह्मणः** = पुरोहित का। **सुशिप्रः** = सुन्दर हनु (ठोड़ी) वाला, सुन्दर ओष्ठ वाला, सुन्दर बालों वाला। **यः** = जो। **युक्तग्राव्णः** = पत्थरों को तैयार किये हुए का, पत्थरों को संयोजित करने वाले का। **सुतसोमस्य** = सोम रस को निचोड़ने वाले का, सोम को पीस लेने वाले का। **अविता** = रक्षक। **जनासः** = हे लोगों! **सः** = वह। **इन्द्रः** = इन्द्र।

अनुवाद– जो समृद्धिशाली व्यक्ति का प्रेरक है, जो निर्धन का (प्रेरक है); जो याचना करने वाले तथा स्तुति करने वाले पुरोहित का (प्रेरक) है; सुन्दर हनु वाला (अथवा सुन्दर ओष्ठ वाला) जो (सोम पीसने के लिये) पत्थरों को तैयार करने वाले तथा सोम रस को निचोड़ने वाले (यजमान) का रक्षक है, हे लोगों! वह इन्द्र है।

व्याकरण– नाधमानस्य–✓नाध् + शानच् + ष. एक व.। **कीरेः–** ✓कृ + इ; वैदिक रूप। **अविता–** ✓अव + तृच् + प्र. एक व.।

यस्याश्वा॑सः प्र॒दिशि॒ यस्य॒ गावो॒ यस्य॒ ग्रामा॒ यस्य॒ विश्वे॒ रथा॑सः।
यः सूर्यं॒ य उ॒षसं॑ ज॒जान॒ यो अ॒पां ने॒ता स जना॑स॒ इन्द्रः॑॥७॥

पदपाठ– यस्य॑। अश्वा॑सः। प्र॒ऽदिशि॑। यस्य॑। गाव॑ः। यस्य॑। ग्रामा॑ः। यस्य॑। विश्वे॑। रथा॑सः। यः। सूर्य॑म्। यः। उ॒षस॑म्। ज॒जान॑। यः। अ॒पाम्। ने॒ता। सः। ज॒ना॒स॒ः इन्द्र॑ः।।७।।

सायणभाष्य– यस्य सर्वान्तर्यामितया वर्तमानस्य प्रदिशि प्रदेशनेऽनुशासने अश्वासः अश्वा वर्तन्ते। यस्य अनुशासने गावः। यस्य अनुशासने ग्रामाः। ग्रसन्तेऽत्रेति ग्रामा जनपदाः। यस्य आज्ञायां विश्वे सर्वे रथासः रथा वर्तन्ते। यः च वृत्रं हत्वा सूर्यं जजान जनयामास। यः च मेघभेदनद्वारा अपां नेता प्रेरकः सः इन्द्रः इत्यादि प्रसिद्धम्।

अन्वय– यस्य प्रदिशि अश्वासः, यस्य गावः यस्य ग्रामाः, यस्य विश्वे रथासः, यः सूर्यम् यः उषसम् जजान, यः अपाम् नेता, जनासः सः इन्द्रः।

शब्दार्थ– यस्य = जिसके। **प्रदिशि** = अनुशासन में, आज्ञा में। **अश्वासः** = घोड़े। **यस्य** = जिसके। **गावः** = गायें। **यस्य** = जिसके। **ग्रामः** = ग्राम, गाँव। **यस्य** = जिसके। **विश्वे** = सम्पूर्ण। **रथासः** = रथ। **यः** = जो। **सूर्यम्** = सूर्य को। **यः** = जो। **उषसम्** = उषा को। **जजान** = उत्पन्न किया। **यः** = जो। **अपाम्** = जलों का। **नेता** = ले आने वाला, बरसाने वाला। **जनासः** = हे लोगों! **सः** = वह। **इन्द्रः** = इन्द्र।

अनुवाद– जिसके अनुशासन (आज्ञा) में घोड़े हैं; जिसके (अनुशासन में) गायें हैं; जिसके (अनुशासन में) ग्राम हैं; जिसके (अनुशासन में) सम्पूर्ण रथ हैं; जिसने सूर्य को (उत्पन्न किया है); जिसने उषा को उत्पन्न किया है; जो (बादलों में से) जलों को लाने वाला (बरसाने वाला) है, हे लोगों! वह इन्द्र है।

व्याकरण– विश्वेः– विश्व शब्द के प्र. ब. का वैदिक रूप लौकिक संस्कृत में विश्वानि बनता है। **अश्वासः, रथासः–** अश्वाः, रथाः, का वैदिक रूप। **जजान–** ✓जन् + लिट् प्र. पु. एक व.। **नेता–** ✓नी + तृच्, प्र. एक व.।

यं क्रन्द॑सी संय॒ती वि॒ह्वये॑ते॒ परेऽव॑र उ॒भया॑ अ॒मित्रा॑ः।
स॒मा॒नं चि॒द्रथ॑मातस्थि॒वांसा॒ नाना॑ हवेते॒ स जना॑स॒ इन्द्र॑ः।।८।।

पदपाठ– यम्। क्रन्द॑सी॒ इति॑। सं॒य॒ती इति॑ स॒म्ऽय॒ती॒। वि॒ह्वये॑ते॒ इति॑ वि॒ऽह्वये॑ते। परे॑। अव॑रे। उ॒भया॑ः। अ॒मित्रा॑ः। स॒मा॒नम्। चि॒त्। रथ॑म्। आ॒त॒स्थि॒ऽवांसा॑। नाना॑। ह॒वे॒ते॒ इति॑। सः। ज॒ना॒सः। इन्द्र॑ः।।८।।

सायणभाष्य– यं क्रन्दसी रोदसी शब्दं कुर्वाणं मानुषी दैवी च द्वे सेने वा संयती परस्परं संगच्छन्त्यौ यमिन्द्रं विह्वयेते स्वरक्षार्थं विविधमाह्वयतः। परे उत्कृष्टाः अवरे अधमाश्च उभयाः उभयविधाः अमित्राः शत्रवः यमाह्वयन्ति। समानम् इन्द्ररथसदृशं रथम् आतस्थिवांसा आस्थितौ द्वौ रथिनौ तमेवेन्द्रं नाना पृथक्-पृथक् हवेते आह्वयेते। यद्वा समानमेकरथमारूढाविन्द्राग्नी हवेते यज्ञार्थं यजमानैः पृथगाहूयेते तयोरन्यतरः सः इन्द्रः नाहमिति।

अन्वय– क्रन्दसी संयती यम् विह्वयेते, परे अवरे उभयाः अमित्राः समानम् रथम् आतस्थिवांसा नाना हवेते, जनासः! सः इन्द्रः।

शब्दार्थ– क्रन्दसी = शब्द (क्रन्दन) करती हुई, सिंहनाद करती हुई, जोर-जोर से चिल्लाती हुई। **संयती** = परस्पर युद्ध करती हुई, एक साथ गमन करती हुई। **यम्** = जिसको। **विह्वयेते** = विविध प्रकार से आह्वान करती हैं, बुलाती हैं, पुकारती हैं। **परे** = उत्कृष्ट, शक्तिशाली, बलवान्। **अवरे** = निम्न श्रेणी के, निर्बल। **उभयाः** = दोनों, दोनों ओर के। **अमित्राः** = शत्रु। **समानम्** = सदृश, एक ही प्रकार के, एक। **रथम्** = रथ पर। **आतस्थिवांसा** = बैठे हुए। **नाना** = अनेक प्रकार से, विभिन्न प्रकार से, पृथक्-पृथक्। **हवेते** = आह्वान करते हैं, बुलाते हैं। **जनासः** = हे मनुष्यों! **सः** = वह। **इन्द्रः** = इन्द्र।

अनुवाद– सिंहनाद करती हुई तथा परस्पर युद्ध करती हुई (शत्रुओं की सेनाएँ) जिस देवता को विविध प्रकार से पुकारती हैं, (जिसको) बलवान् एवं निर्बल दोनों प्रकार के शत्रु (अपनी सहायता के लिये) बुलाते हैं; जिसको एक ही प्रकार के रथ पर बैठे हुए (दो योद्धा) (अथवा एक ही रथ पर बैठे हुए सारथि तथा योद्धा) विभिन्न प्रकार से बुलाते हैं, हे लोगों! वह इन्द्र है।

व्याकरण– क्रंन्दसी- नपुंसकलिङ्ग 'क्रन्दस्' का प्र. द्वि.। **संयती**- सम् + ✓इ + शतृ + ङीप् प्र. द्वि.। **विह्वयेते**- वि + ✓ह्वे + लट् प्र. पु. द्वि. (आ.)। **आतस्थिवांसा**- आ + ✓ स्था + क्वसु प्र. द्वि.। **हवेते**- ✓ हू + लट् प्रथम पु. द्वि.।

यस्मा॒न्न ऋ॒ते वि॒जय॑न्ते॒ जना॑सो॒ यं युध्य॑माना॒ अव॑से॒ हव॑न्ते।
यो विश्व॑स्य प्रति॒मानं॑ ब॒भूव॒ यो अ॑च्युत॒च्युत्स॒ जना॑स॒ इन्द्रः॑।।९।।

पदपाठ– यस्मा॑त्। न। ऋ॒ते। वि॒ऽजय॑न्ते। जना॑सः। यम्। युध्य॑मानाः। अव॑से। हव॑न्ते। यः। विश्व॑स्य। प्र॒ति॒ऽमान॑म्। ब॒भूव॑। यः। अ॒च्यु॒त॒ऽच्यु॒त्। सः। ज॒ना॒सः॒। इन्द्रः॑।।९।।

सायणभाष्य– यस्मात् ऋते जनासः जनाः न विजयन्ते विजयं न प्राप्नुवन्ति। अतः युध्यमाना युद्धं कुर्वाणा जना अवसे स्वरक्षणाय यम् इन्द्रं हवन्ते आह्वयन्ति। यः च विश्वस्य सर्वस्य जगतः प्रतिमानं प्रतिनिधिः बभूव। यः च अध्युतच्युत् अच्युतानां क्षयरहितानां पर्वतादीनां च्यावयिता सः इन्द्रः इत्यादि प्रसिद्धम्।

अन्वय– यस्मात् ऋते जनासः न विजयन्ते, युध्यमानाः अवसे यं हवन्ते, यः विश्वस्य प्रतिमानम् बभूव, यः अच्युतच्युत् जनासः! सः इन्द्रः।

शब्दार्थ– यस्मात् = जिसके। **ऋते** = बिना। **जनासः** = लोग। **न** = नहीं। **विजयन्ते** = विजय प्राप्त करते हैं। **युध्यमानाः** = युद्ध करते हुए। **अवसे** = रक्षा के लिये। **यं** = जिसको। **हवन्ते** = आह्वान करते हैं, बुलाते हैं। **यः** = जो। **विश्वस्य** = सबका, सम्पूर्ण जगत् का। **प्रतिमानम्** = प्रतिनिधि, मार्गदर्शक, रक्षक। **बभूव** = है, हो गया है। **यः** = जो। **अच्युतच्युत्** = अचल को चल बना देने वाला, स्थिर को गतिमान् (चलायमान) कर देने वाला; क्षयरहित को विनष्ट करने वाला। **जनासः** = हे मनुष्यों! **सः** = वह। **इन्द्रः** = इन्द्र।

अनुवाद– जिसके बिना (अर्थात् जिसकी सहायता के बिना) लोग विजय नहीं प्राप्त करते हैं, युद्ध करते हुए (लोग) रक्षा के लिए जिसको बुलाते हैं, जो सम्पूर्ण लोगों का प्रतिनिधि (रक्षक, मार्ग-प्रदर्शक) है ; जो अचल (पदार्थों) को चल बना देने वाला (अथवा जो स्थिर को भी अस्थिर कर देने वाला) है, हे लोगों! वह इन्द्र है।

व्याकरण– यस्मात् ऋते- ऋते के योग में पञ्चमी। **जनासः-** वैदिक रूप=जनाः, प्र. बहु.। **विजयन्ते-** वि + ✓जि + लट्, प्र. बहु. (आ.)। **युध्यमानाः-** ✓युध् (श्यन्) + शानच् + प्र. बहु.। **अवसे-** ✓अव् + असेन् तुमर्थक वैदिक प्रत्यय। **हवन्ते-** ✓हू या ✓ह्वे + लट्, प्र. पु. बहु. (आ.)। **प्रतिमानम्–**प्रति + ✓ मा + ल्युट् (अन)। **बभूव–**✓भू + लिट्, प्र. पु. एक व.।

यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः।।१०।।

पदपाठ– यः। शश्वतः। महि। एनः। दधानान्। अमन्यमानान्। शर्वा। जघान। यः। शर्धते। न। अनुऽददाति। शृध्याम्। यः। दस्योः। हन्ता। सः। जनासः। इन्द्रः।।१०।।

सायणभाष्य– यः महि महत् एनः पापं दधानान् शश्वतः बहून् अमन्यमानान् आत्मानमजानत इन्द्रमपूजयतो वा जनान् शर्वा शृणाति शत्रूननेनेति शरुर्वज्रः। तेनायुधेन जघान। हन्तेर्लिटि रूपम्। यः च शर्धति उत्साहं कुर्वति अनात्मज्ञाय जनाय शृध्याम् उत्साहनीयं कर्म नानुददाति न प्रयच्छति। अनुपर्वात् 'डुदाञ् दाने' जौहोत्यादिकः। 'अभ्यस्तानामादिः' (पा. ४।१।८९) 'तिङि चोदात्तवति' इति गतेर्निघातः। यः च दस्योः उपक्षपयितुः शत्रोः हन्ता घातकः सः इन्द्रः इत्यादि पूर्ववत्।

अन्वय– यः महि एनः दधानान् अमन्यमानान् शश्वतः शर्वा जघान, य शर्धति शृध्याम् न अनुददाति, यः दस्योः हन्ता, जनासः! सः इन्द्रः।

शब्दार्थ– यः = जिसने। **महि** = महान्, बड़े, भारी। **एनः** = पाप को। **दधानान्** = धारण करने वाले। **अमन्यमानान्** = अपमान करने वाले, (इन्द्र को) न मानने वाले, इन्द्र की सत्ता में विश्वास न करने वाले। **शश्वतः** = अनेक, बहुत। **शर्वा** = वज्र से। **जघान** = मार डाला। **यः** = जो। **शर्धते** = हिंसा करने वाले, दर्पयुक्त। **शृध्याम्** = हिंसा से युक्त कर्म, दर्प। **न** = नहीं। **अनुददाति** = सहन करता है, क्षमा करता है। **यः** = जो। **दस्योः** = दस्यु का, असुर का। **हन्ता** = वध करने वाला, मारने वाला। **जनासः** = हे मनुष्यों! **सः** = वह। **इन्द्रः** = इन्द्र।

अनुवाद– जिसने महान् पाप को धारण करने वाले तथा अपमान करने वाले बहुत से (व्यक्तियों) को वज्र से मार डाला ; जो दर्पयुक्त (व्यक्ति) के दर्प को सहन नहीं करता है, जो असुर का वध करने वाला है, हे मनुष्यों (लोगों)! वह इन्द्र है।

व्याकरण– दधानान्- ✓धा + शानच, द्वि. बहु.। **अमन्यमानान्-** ✓मन् (श्यन्) + शानच्, न मन्यमानान्=अमन्यमानान्, द्वि. बहु.। **जघान-** ✓हन् + लिट्, प्र. पु. एक व.। **शर्धते-** ✓शृध + शतृ + च. एक. व.। **अनुददाति-** अनु + ✓ दा + लट्, प्र. पु. एक व.। **हन्ता-** ✓ हन् + तृच् + प्र. एक व.।

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः।।११।।

पदपाठ– यः। शम्बरम्। पर्वतेषु। क्षियन्तम्। चत्वारिंश्याम्। शरदि। अनुऽअविन्दत्। ओजायमानम्। यः। अहिम्। जघान। दानुम्। शयानम्। सः। जनासः। इन्द्रः।।११।।

सायणभाष्य– यः पर्वतेषु क्षियन्तम् इन्द्रभिया बहून् संवत्सरान् प्रच्छन्नो भूत्वा पर्वतगुहासु निवसन्तं शम्बरम् एतन्नामकं मायाविनमसुरं चत्वारिंश्यां शरदि चत्वारिंशे संवत्सरे अन्वविन्दत् अन्विष्यालभत। लब्ध्वा च यः ओजायमानम्। 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च', 'ओजसोऽप्सरसो नित्यम्' (पा. सू. ३.१.११) इति सकारलोपः। बलमाचरन्तम् अहिम् आहन्तारं दानुं दानवं शयानं शम्बरमसुरं जघान हतवान् सः इन्द्रः नाहमिति।

अन्वय– यः पर्वतेषु क्षियन्तं शम्बरं चत्वारिंश्यां शरदि अन्वविन्दत्, यः ओजायमानं शयानं दानुम् अहिं जघान, जनासः! सः इन्द्रः।

शब्दार्थ– यः = जिसने। **पर्वतेषु** = पर्वतों पर। **क्षियन्तम्** = निवास करते हुए। **शम्बरम्** = शम्बर (नामक असुर) को। **चत्वारिंश्याम्** = चालीसवें। **शरदि** = शरद् (वर्ष) में। **अन्वविन्दत्** = प्राप्त किया, खोज निकाला। **यः** = जिसने। **ओजायमानम्** = ओज (बल) को प्रदर्शित करते हुए, पराक्रम का प्रदर्शन करने वाले। **शयानम्** = लेटे हुए। **दानुम्** = दनु के पुत्र को। **अहिम्** = अहि को। **जघान** = मार डाला। **जनासः** = हे लोगों! **सः** = वह। **इन्द्रः** = इन्द्र।

अनुवाद– जिसने पर्वतों पर निवास करते हुए शम्बर (नामक असुर) को चालीसवें वर्ष में खोज निकाला, जिसने ओज (बल) का प्रदर्शन करते हुए तथा (जल को घेर कर) लेटे हुए दनु-पुत्र (दानव) अहि को मार डाला, हे लोगों ! वह इन्द्र है।

व्याकरण– क्षियन्तम्- ✓क्षि + शतृ + द्वि. एक व.। **✓अविन्दत्-** ✓विद् + लङ्, प्र. पु. एक. व.। **ओजायमानम्-** ओजस् + क्यङ् (ओजाय, नामधातु) + शानच् + द्वि. एक व.। **शयानम्-** ✓शी + शानच् + द्वि. एक व.। **जघान-** ✓हन् + लिट्, प्र. पु. एक व.।

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः।।१२।।

पदपाठ– यः। सप्तऽरश्मिः। वृषभः। तुविष्मान्। अवऽअसृजत्। सर्तवे। सप्त। सिन्धून्। यः। रौहिणम्। अस्फुरत्। वज्रऽबाहुः। द्याम्। आऽरोहन्तम्। सः। जनासः। इन्द्रः।।१२।।

सायणभाष्य– यः सप्तरश्मिः सप्तसंख्याकाः पर्जन्याः रश्मयो यस्य ते च रश्मयः। 'वराहवः स्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः श्वापयो गृहमेधाश्चेत्येते ये चेमेऽशिमिविद्विषः पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति वृष्टिभि' (तै. आ. १.९.४.५) इति तैत्तिरीयारण्यके ह्याम्नाताः। वृषभः वर्षकः तुविष्मान् वृद्धिमान् बलवान् वा सप्त सर्पणस्वभावान् सिन्धून् अपः सर्तवे सरणाय अवासृजत् अवसृष्टवान्। यद्वा गङ्गाद्याः सप्त मुख्या नदीरसृजत्। यः च वज्रबाहुः सन् द्यां दिवम् आरोहन्तं रौहिणम् असुरम् अस्फुरत् जघान। 'स्फुर स्फुरणे' तुदादिः।।

अन्वय– सप्तरश्मिः वृषभः तुविष्मान् यः सप्त सिन्धून् सर्तवे अवासृजत् , यः वज्रबाहुः द्याम् आरोहन्तं रौहिणम् अस्फुरत् , जनासः ! सः इन्द्रः।

शब्दार्थ– सप्तरश्मिः = सात किरणों वाले, सात मेघों (पर्जन्यों) से समन्वित। **वृषभः** = वर्षा करने वाले, कामना की पूर्ति करने वाले। **तुविष्मान्** = बलवान्। **यः** = जिसने। **सप्त**

= सात। **सिन्धून्** = नदियों को। **सर्तवे** = बहने के लिए। **अवासृजत्** = मुक्त किया, विसर्जित किया, छोड़ा। **यः** = जो। **वज्रबाहुः** = हाथ में बज्र को धारण करने वाला, बज्र के समान हाथों वाला। **द्याम्** = द्युलोक में। **आरोहन्तम्** = आरोहरण करते हुए, चढ़ते हुए। **रौहिणम्** = रौहिण (नामक असुर) को। **अस्फुरत्** = मार डाला। **जनासः** = हे लोगो ! **सः** = वह। **इन्द्रः** = इन्द्र।

अनुवाद– सात किरणों वाले (अथवा सात मेघों से समन्वित), वर्षा करने वाले (अथवा कामना की पूर्ति करने वाले) और बलशाली जिस (देवता) ने सात नदियों को बहने के लिए प्रवाहित किया, हाथ में बज्र को धारण करने वाला (अथवा हाथ में बज्र को उठाकर) जो द्युलोक में चढ़ते हुए रौहिण (नामक असुर) को मार डाला, हे लोगो ! वह इन्द्र है।

व्याकरण– सर्तवे = ✓ सृ + तवे (तुमर्थक वैदिक प्रत्यय)। **असृजत्** = ✓ सृज् + लङ्, प्र. पु. एकव.। **आरोहन्तम्** = आ + ✓ रुह + शतृ + द्वि. एकव.। **अस्फुरत्** = ✓ स्फुर् + यङ्, प्र. पु. एकव.।

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो बज्रबाहु र्यो बज्रहस्तः स जनास इन्द्रः।।१३।।

पदपाठ– द्यावा। चित्। अस्मै। पृथिवी इति। नमेते इति। शुष्मात्। चित्। अस्य। पर्वताः। भयन्ते।। यः। सोमऽपाः। निऽचितः। बज्रऽबाहुः। यः। बज्रऽहस्तः। सः। जनासः। इन्द्रः।।१३।।

सायणभाष्य– अस्मै इन्द्राय द्यावापृथिवी। इतरेतरापेक्षया द्विवचनं 'प्र मित्रयोर्वरुणयोः' (ऋ. सं. ७.६६.१) इतिवत्। नमेते स्वयमेव प्रह्वीभवतः। 'णमु प्रह्वत्वे'। कर्मकर्तरि 'न दुहस्नुनमां यक्चिणो' इति यकः प्रतिषेधः। चित् अपि च अस्य इन्द्रस्य शुष्मात् बलात् पर्वताः भयन्ते विभ्यति। यः सोमपाः सोमस्य पाता निचितः सर्वैः। यद्वा अन्येभ्योऽपि देवेभ्यो दृढाङ्गः। बज्रबाहुः बज्रसदृशबाहुः। यः च बज्रहस्तः बज्रयुक्तः सः इन्द्रः इत्यादि प्रसिद्धम्।

अन्वय– अस्मै द्यावापृथिवी चित् नमेते, अस्य शुष्मात् पर्वताः चित् भयन्ते, यः बज्रबाहु निचितः सोमपाः, यः बज्रहस्तः, जनासः! सः इन्द्रः।

शब्दार्थ– अस्मै = इसके लिए, इसके समक्ष। **द्यावा** = द्युलोक। **पृथिवी** = पृथिवीलोक। **चित्** = भी। **नमेते** = झुक जाते हैं। **अस्य** = इसके। **शुष्मात्** = बल से, पराक्रम के सामने। **पर्वताः** = पर्वत। **चित्** = भी। **भयन्ते** = डर जाते है। **यः** = जो। **बज्रबाहुः** = बज्र के समान (कठोर) भुजाओं वाला। **निचितः** = प्रसिद्ध, विख्यात। **सोमपा** = सोम का पान करने वाला, सोमपायी। **यः** = जो। **बज्रहस्तः** = हाथ में बज्र को धारण करने वाला। **जनासः** = हे लोगो ! **सः** = वह। **इन्द्रः** = इन्द्र।

अनुवाद– इस (जिस) के समक्ष द्युलोक (आकाश तथा पृथिवी) भी झुक जाते हैं, इसके (जिसके) पराक्रम के सामने पर्वत भी डर जाते हैं, जो बज्र के समान (कठोर) भुजाओं वाला, प्रसिद्ध सोम-पान-कर्ता (सोमपायी) है, जो हाथ में बज्र को धारण करने वाला है, हे लोगो ! वह इन्द्र है।

व्याकरण– **नमेते** = ✓ नम् + लट्; प्र. पु. द्वि. (आ.)। **भयन्ते** = वैदिक रूप = बिभ्यति; ✓ भी + लट् प्र. पु. बहु. (आ.)। **निचितः** = नि + ✓ चि + क्त प्रथमा एक.।

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः।। १४।।

पदपाठ– यः। सुन्वन्तम्। अवति। यः। पचन्तम्। यः। शंसन्तम्। यः। शशमानम्। ऊती। यस्य। ब्रह्म। वर्धनम्। यस्य। सोमः। यस्य। इदम्। राधः। सः। जनासः। इन्द्रः।। १४।।

सायणभाष्य– यः सुन्वन्तं सोमाभिषवं कुर्वन्तं यजमानम् अवति रक्षति। यः पुरोडाशादीनि हवींषि पचन्तं यः च ऊती ऊतये। 'सुपां सुलुक्' (पा. सू. ७.१.३९) इति चतुर्थ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः। स्वरक्षायै शस्त्राणि शंसन्तं यः च शशमानम् अवति स्तोत्रं कुर्वाणं रक्षति। ब्रह्म परिवृढं स्तोत्रं यस्य वर्धनं बृद्धिकरं भवति। तथा यस्य सोमः बृद्धिहेतुर्भवति। यस्य च इदम् अस्मदीयं राधः पुरोडाशादिलक्षणमन्नं बृद्धिकरं भवति। सः इन्द्रः इत्यादि प्रसिद्धम्।

अन्वय– यः सुवन्तम् अवति, यः पचन्तम्, यः ऊती शंसन्तम्, यः शशमानम् अवति, ब्रह्म यस्य वर्धनम्, सोमः यस्य, यस्य इदं राधः, जनासः ! सः इन्द्रः।

शब्दार्थ– **यः** = जो। **सुवन्तम्** = सोम रस को निकालते हुए की, सोम रस को निचोड़ते हुए की। **यः** = जो। **ऊती** = रक्षा के लिए। **शंसन्तम्** = स्तुति करते हुए की। **यः** = जो। **शशमानम्** = स्तोत्र पाठ करते हुए की। **अवति** = रक्षा करता है। **ब्रह्म** = स्तोत्र। **यस्य** = जिसकी। **वर्धनम्** = वृद्धि करने वाला। **सोमः** = सोम। **यस्य** = जिसकी। **इदम्** = यह। **राधः** = पुरोडाश आदि अन्न, धन। **जनासः** = हे मनुष्यो, लोगो ! **सः** = वह। **इन्द्रः** = इन्द्र।

अनुवाद– जो (देवता) सोम रस को निचोड़ते हुए (व्यक्ति) की रक्षा करता है, जो (हवि को) पकाते हुए (व्यक्ति) की, जो (अपनी) रक्षा के लिए (देव) स्तुति करते हुए (व्यक्ति) की, जो स्तोत्र-पाठ करते हुए (व्यक्ति) की (रक्षा करता है), स्तोत्र जिसकी वृद्धि करने वाला है); पुरोडाश आदि अन्न जिसकी वृद्धि करने वाला है, हे लोगो ! वह इन्द्र है।

व्याकरण– **सुन्वन्तम्** = ✓ सु + (श्नु) + शतृ, द्वि. एकव.। **अवति** = ✓ अव् + लट्, प्र. पु. एकव.। **पचन्तम्** = ✓ पच् + शतृ + द्वि. एकव.। **ऊती** = वैदिक रूप, ✓ ऊतये, ✓ अव् + क्तिन् + च. (या–ऊत्या तृ.) एकव.। **शंसन्तम्** = ✓ शंस् + शतृ. + द्वि. एकव.। **शशमानम्** = ✓ शस् + कानच् + द्वि. एकव.। **वर्धनम्** = ✓ बृध् + ल्युट् (अन) + द्वि. एक व.।

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम।। १५।।

पदपाठ– यः। सुन्वते। पचते। दुध्रः। आ। चित्। वाजम्। दर्दर्षि। सः। किल। असि। सत्यः। वयम्। ते। इन्द्र। विश्वह। प्रियासः। सुऽवीरासः। विदथम्। आवदेम।। १५।।

सायणभाष्य– इदानीमृषिः साक्षात्कृतमिन्द्रं प्रति ब्रूते। हे इन्द्र यः दुध्रः दुर्धरः सन् सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते पुरोडाशादिहवींषि पचते यजमानाय वाजम् अन्नं बलं वा आ दर्दर्षि भृशं प्रापयसि सः तादृशस्त्वं सत्यः यथार्थभूतः असि न पुनर्नास्तीति बुद्धियोग्योऽसि। किल इति प्रसिद्धौ। ते तव प्रियासः सुवीरासः कल्याण-पुत्रपौत्राः सन्तः वयं विश्वह सर्वेष्वहःसु विदथं स्त्रोत्रम् आ वदेम ब्रूयाम।

अन्वय– दुध्रः यः सुन्वते पचते वाजम् आ दर्दर्षि, सः किल सत्यः असि, इन्द्र ते प्रियासः वयं विश्वह विदथम् आवदेम।

शब्दार्थ– दुध्रः = दुर्धर, भयानक। **यः** = जो। **सुन्वते** = निचोड़ने वाले के लिए, सोम रस निकालते हुए (व्यक्ति) के लिए। **पचते** = (हवि को) पकाने वाले के लिए। **वाजम्** = अन्न, धन, बल। **आ दर्दर्षि** = पुनः पुनः प्रदान करते हो। **सः** = वह। **किल** = निश्चित रूप से। **सत्यः** = सत्य, यथार्थ। **असि** = हो। **इन्द्रः** = हे इन्द्रः ! **ते** = तुम्हारे। **प्रियासः** = प्रिय। **वयम्** = हम लोग। **विश्वह** = सभी दिनों में, सर्वदा। **सुवीरासः** = उत्तम वीर पुत्र-पौत्रों से युक्त होते हुए। **विदथम्** = स्तोत्र, स्तुति। **आवदेम** = बोलें, गायें।

अनुवाद– (हे इन्द्र !) जो भयानक (तुम) (सोम रस को) निचोड़ते हुए (व्यक्ति) के लिए तथा (हवि) पकाने वाले (व्यक्ति) के लिए अन्न (अथवा धन) को बार-बार प्रदान करते हो, वह (तुम) निश्चित रूप से सत्य हो। हे इन्द्रः ! तुम्हारे प्रिय हम लोग सभी दिनों में (सर्वदा) शोभन पुत्र-पौत्रों से युक्त होकर (तुम्हारे लिए) स्तोत्रगान करें।

व्याकरण– सुन्वते = ✓ सु (श्नु) + शतृ + च. ए.। **पचते** = ✓ पच् + शतृ + च. एक.। **दर्दर्षि** = ✓ दृ + यङ् प्रत्यय + लट् म. पु. एकवचन। प्रियासः तथा सुवीरासः शब्द क्रमशः प्रिय तथा सुवीर शब्दों के प्रथमा बहुवचन के वैदिक रूप हैं। **वदेम** = ✓ वद् + विधिलिङ्, उ.पु. बहुवचन।

●

उषस्सूक्तम् (ऋग्वेद संहिता ३ ।६१)

देवता- उषा ऋषि-वामदेव छन्द-त्रिष्टुप् ।

सं.पा.-१

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।
पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिरनुव्रतं चरसि विश्ववारे।।१।।

पदपाठ– उषः। वाजेन। वाजिनि। प्रऽचेताः। स्तोमम्। जुषस्व। गृणतः। मघोनि। पुराणी। देवि। युवतिः। पुरम्ऽधिः। अनु। व्रतम्। चरसि। विश्ववारे।।१।।

सायणभाष्य– वाजेन वाजिनि अन्नेनान्नवति। मघोनि धनवति हे उषः प्रचेताः प्रकृष्टज्ञानवती सती त्वं गृणतः त्वं स्तोत्रं कुर्वतः स्तोतुः स्तोमं स्तोत्रं जुषस्व सेवस्व। यद्वा वाजेन हविर्लक्षणेनान्नेन सह स्तोमं जुषस्वेति सम्बन्धः। विश्ववारे विश्वैः सर्वैः वरणीयेः हे उषः देवि पुराणी पुरातनी। युवतिः इत्युपमा। तद्वच्छोभमाना। पुरंधिः पुरु बहुधीः स्तोत्रलक्षणं कर्म यस्याः सा बहुस्तोत्रवती। पुरंधिर्बहुधीः इति यास्कः, पुरन्धिः शोभमाना वा। एवंविध-गुणोपेता त्वम् अनुव्रतं यज्ञकर्माभिलक्ष्य चरसि यष्टव्यतया वर्तसे।। १।।

अन्वय– वाजेन वाजिनि मघोनि उषः प्रचेताः गृणतः स्तोमं जुषस्व। विश्ववारे देवि पुराणी युवतिः पुरंधिः व्रतम् अनुचरसि।

शब्दार्थ– वाजेन = अन्न के द्वारा। **वाजिनि** = अन्नवती। **मघोनि** = धनवती। **उषः** = हे उषा। **प्रचेता** = प्रकृष्टज्ञानवती। **गृणतः** = स्तुति करते हुए की। **स्तोमम्** = प्रार्थना को। **जुषस्व** = स्वीकार करो, सेवन करो। **विश्ववारे** = हे सबके द्वारा चाही जाने वाली। **देवि** = देबी। **पुराणी** = पुरातनी, प्राचीन। **युवतिः** = युवति (के समान)। **पुरन्धिः** = अति बुद्धिमती, अधिक प्रकार से स्तुत होने वाली। **अनुव्रतम्** = व्रत को लक्ष्य करके, यज्ञ को लक्ष्य करके। **चरसि** = विचरण करती हो, वर्तमान रहती हो।

अनुवाद– अन्न के द्वारा अन्नवती (तथा) धनवती हे उषा! प्रकृष्टज्ञान सम्पन्न (तुम) स्तुति करते हुए (व्यक्ति) की प्रार्थना को स्वीकार करो। हे सबके द्वारा चाही जाने वाली देवी (उषा)! पुरातनी युवति की भाँति, अनेक प्रकार से स्तुत होने वाली (तुम) (इस) यज्ञ को लक्ष्य करके विचरण करती हो।

व्याकरण– प्रचेताः = प्र उपसर्ग + ✓ चित् + तृच् प्रत्यय + प्र.ब.व.। **गृणतः** = ✓ गृ + श्ना + शतृ प्रत्यय + ष.ए.व.। **जुषस्व** = ✓ जुष् + लोट् + म.पु.ए.व.। **चरसि** = ✓ चर् + लट् + म.पु.ए.व.।

सं. पा.-२

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये।।२।।

पदपाठ– उषः। देवि। अमर्त्या। वि। भाहि। चन्द्रऽरथा। सूनृता। ईरयन्ती। आ। त्वा। वहन्तु। सुऽयमासः। अश्वाः। हिरण्यवर्णाम्। पृथुऽपाजसः। ये।। २।।

सायणभाष्य– हे उषो देवि अमर्त्या मरणधर्मरहिता चन्द्ररथा सुवर्णमयरथोपेता सूनृता प्रियसत्यरूपा वाचः ईरयन्ती उच्चारयन्ती। तादृशी त्वं वि भाहि सूर्यकिरणसम्बन्धात् विशेषेण दीप्यस्व, पृथुपाजसः प्रभूतबलयुक्ता अरुणवर्णा ये अश्वाः विद्यन्ते सुयमासः सुष्टु नियन्तुं शक्या रथो योजितास्तेऽश्वाः हिरण्यवर्णां त्वा त्वाम् आ वहन्तु।

अन्वय– उषः देवि अमर्त्या चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती वि भाहि। पृथुपाजसः सुयमासः ये अश्वाः हिरण्यवर्णां त्वा आवहन्तु।।

शब्दार्थ– उषः देवि = हे उषा देवि। **अमर्त्या** = मरणधर्म से रहित, अमर। **चन्द्ररथा** = सुवर्णमय रथ वाली। **सूनृता** = प्रिय एवं सत्य वाणी को। **ईरयन्ती** = उच्चारण करती हुई। **वि** = विशेष रूप से। **भाहि** = प्रकाशित हो जाओ, सुशोभित हो जाओ। **पृथुपाजसः** = प्रभूत बल से युक्त। **सुयमासः** = अच्छी प्रकार नियन्त्रित होने योग्य। **ये** = जो। **अश्वाः** = घोड़े। **हिरण्यवर्णाम्** = स्वर्णिम रंग वाली। **त्वा** = तुमको। **आ वहन्तु** = ले आवे।

अनुवाद– हे उषा देवि! मरणधर्म से रहित, सुवर्णमय रथ वाली, प्रिय एवं सत्य वाणी को (का) उच्चारण करती हुई (तुम) विशेष रूप से प्रकाशित हो जाओ। प्रभूत बल से युक्त अच्छी प्रकार नियन्त्रित होने योग्य जो (तुम्हारे) घोड़े (हैं), (वे) स्वर्णिम रंग वाली तुमको (इस यज्ञस्थल में) ले आवें।

व्याकरण– भाहि = ✓ भा + लोट् म.पु.ए.व.। **ईरयन्ती** = ✓ ईर् + णिच् प्रत्यय + शतृ प्रत्यय + ङीप् प्रत्यय प्र.ए.व.। **वहन्तु** = ✓ वह् + लोट् + प्र.पु.ब.व.। **सुयमासः** = सुयम शब्द के प्र.व.व. का वैदिक रूप। सुयम शब्द से जस् प्रत्यय लगने पर 'आज्जसेरसुक्' सूत्र से असुक् (अस्) का आगम हो जाता है।

सं. पा.-३

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।
समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व।। ३।।

पदपाठ– उषः। प्रतीची। भुवनानि। विश्वा। ऊर्ध्वा। तिष्ठसि। अमृतस्य। केतुः।। समानम्। अर्थम्। चरणीयमाना। चक्रम्ऽइव। नव्यसि। आ। ववृत्स्व।।। ३।।

सायणभाष्य– हे उषः देवि सर्वाणि भुवनानि प्रतीची। प्रति आभिमुख्येनाञ्चति प्राप्नोतीति प्रतीची। अमृतस्य मरणधर्मरहितस्य सूर्यस्य केतुः प्रज्ञापयित्री त्वम् ऊर्ध्वा नमस्युन्नता तिष्ठसि। नव्यसि पुनः पुनर्जायमानतया नवतरे हे उषो देवि, अर्थम् अर्यति गम्यतेऽस्मिन्नित्यर्थो मार्गः। समानम् एकमार्गमुदयात् प्राचीनकाललक्षणं चरणीयमाना चरितुमिच्छन्ती त्वम् आ ववृत्स्व पुनस्तस्मिन् मार्गे

आवृत्ता भव। तत्र दृष्टान्तः। चक्रमिव। यथा नभसि चरितुः सूर्यस्य रथाङ्गं पुनः पुनरावतति तद्वत्।। ३।।

अन्वय– उषः विश्वा भुवनानि प्रतीची अमृतस्य केतुः ऊर्ध्वा तिष्ठसि नव्यसि समानं चरणीयमाना चक्रमिव आ ववृत्स्व।।

शब्दार्थ– उषः = हे उषा (देवि)!। **विश्वा** = सम्पूर्ण। **भुवनानि** = लोकों को (के)। **प्रतीची** = सम्मुख। **अमृतस्य** = मरणधर्म से रहित का। **केतुः** = ज्ञान कराने वाली। **ऊर्ध्वा** = ऊपर। **तिष्ठसि** = स्थित रहती हो। **नव्यसि** = सर्वदा नवीन रहने वाली। **समानम्** = एक ही। **अर्थम** = मार्ग। **चरणीयमाना** = विचरण करती हुई। **चक्रमिव** = चक्र की भाँति। **आ ववृत्स्व** = बार-बार आती रहो।

अनुवाद– हे उषा (देवि)!। सम्पूर्ण लोकों के सम्मुख पहुँचने वाली (तथा) मरणधर्म से रहित (सूर्य के आगमन) का ज्ञान कराने वाली (तुम) ऊपर (आकाश में) स्थित रहती हो। (प्रतिदिन एक बार उदित होने के कारण) सर्वदा नवीन रहने वाली (तुम), एक ही मार्ग (पर) विचरण करती हुई, चक्र की भाँति बार-बार आती रहो।

व्याकरण– प्रतीची = प्रति उपसर्ग + ✓ अञ्च् + क्विन् प्रत्यय। प्रति आभिमुख्येन अञ्चति प्राप्नोति इति – सायण। **तिष्ठसि** = ✓ स्था + लट् + म.पु. एकवचन। **नव्यसि** = ✓ नव् + लट् + म.पु.ए.व.। **चरणीयमाना** = ✓ चर् + अनीयर् प्रत्यय = चरणीय + शानच् टाप् + प्र.ए.व.। **ववृत्स्व** = ✓ वृत् + यङ्लुङन्त प्रत्यय लोट् म.पु.ए.व.।

सं.पा. – ४

अव॒ स्यूमे॑व चिन्व॒ती म॒घोन्यु॒षा या॑ति स्वस॑रस्य पत्नी॑।
स्व१॒॑र्जन॑न्ती सु॒भगा॑ सु॒दंसा॒ आन्ता॑द्दि॒वः प॑प्रथ॒ आ पृ॑थि॒व्याः।। ४।।

पदपाठ– अव॑। स्यूम॑ऽइव। चि॒न्व॒ती। म॒घोनी॑। उ॒षा। या॒ति॒। स्वस॑रस्य। पत्नी॑। स्वः॑। जन॑न्ती। सु॒ऽभगा॑। सु॒ऽदंसाः॑। आ। अन्ता॑त्। दि॒वः। प॒प्र॒थे॒। आ। पृ॒थि॒व्याः।।४।।

सायणभाष्य– येयम् उषा स्यूमेव वस्त्रमिव विस्तृतं तमः अवचिन्वती अवचयमपक्षयं प्रापयन्ती मघोनी धनवती स्वसरस्य सुष्ठुवस्यति क्षिपति तम इति स्वसरा सूर्यो वासरो वा। तस्य पत्नी सती याति गच्छति। स्वः स्वकीयं तेजः जनन्ती जनयन्ती सुभगा सुधना सौभाग्ययुक्ता वा सुदंसा शोभनाग्निहोत्रकर्मा सेयमुषा दिवः द्युलोकस्य आ अन्तात् पृथिव्याः च आ अन्तात् अवसानात् पप्रथे प्रथते प्रकाशते इत्यर्थः।

अन्वय– स्वसरस्य पत्नी मघोनी उषा स्यूम इव अवचिन्वती याति स्वः जनन्ती सुभगा सुदंसा दिवः आ अन्तात् पृथिव्याः (अन्तात्) पप्रथे।

शब्दार्थ– स्वसरस्य = सूर्य की, दिन की। **पत्नी** = स्त्री। **मघोनी** = धनवाली, धन से युक्त। **उषा** = उषा देवी। **स्यूम इव** = वस्त्र की भाँति। **अवचिन्वती** = नष्ट करती हुई। **याति** = जाती है, गमन करती है। **स्वः** = अपने। **जनन्ती** = उत्पन्न करती हुई। **सुभगा** = सुन्दर धनवाली, सौभाग्य युक्त। **सुदंसा** = सुन्दर अग्निहोत्र (यज्ञ) कराने वाली। **दिवः** = द्यु लोक के। **आ अन्तात्** = अन्त तक। **पृथिव्याः** = पृथ्वी के। **पप्रथे** = फैलती है, प्रकाशित हो जाती है।

अनुवाद– सूर्य की स्त्री, धन से युक्त उषा देवी वस्त्र की भाँति (फैले हुए अन्धकार को) नष्ट करती हुई गमन करती है। अपने (तेज को) उत्पन्न करती हुई सुन्दर धन वाली (एवं) सुन्दर अग्नि होत्र कर्म (यज्ञ-विशेष) कराने वाली (उषा देवी) द्युलोक के अन्त तक एवं पृथिवी के (अन्त तक) फैलती है (अर्थात् प्रकाशित हो जाती है)।

व्याकरण– चिन्वती = ✓चि + शतृ प्रत्यय + ङीप् प्र. ए. व.। **जनन्ती** = ✓जन् + णिच् प्रत्यय + शतृ प्रत्यय + ङीप् प्र. ए. व.। लौकिक संस्कृत में 'जनयन्ती' रूप बनता है। **पप्रथे** = ✓प्रथ् + लिट् + प्र. ए. व. (आ. प.)।

सं. पा. - ५

अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिम्।
ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत्प्ररोचना रुरुचे रण्वसंदृक्॥५॥

पदपाठ– अच्छ। वः। देवीम्। उषसम्। विऽभातीम्। प्र। वः। भरध्वम्। नमसा। सुऽवृक्तिम्। ऊर्ध्वम्। मधुधा। दिवि। पाजः। अश्रेत्। प्र। रोचना। रुरुचे। रण्वऽसंदृक्॥५॥

सायणभाष्य– हे स्तोतारः वः युष्मान् अच्छ अभिलक्ष्य विभातीं शोभमानाम् उषसं देवीं प्रति वः युष्माकं सम्बन्धिना नमसा नमस्कारेण सह सुवृक्तिं शोभनां स्तुतिं प्रभरध्वं यूयं कुरुत। मधुधा मधुराणि स्तुतिलक्षणानि वाक्यानि दधतीति। मधु सोमः। तं धारयतीति वा। यद्वा। मधुधादित्यधात्री। यद्वा। अवग्रहाभावादव्युत्पन्नावयवम् अखण्डमिदं पदम्, उषो नाम सेयमुषा दिवि नभसि ऊर्ध्वं पाजः ऊर्ध्वाभिमुखं पाजस्तेजः अश्रेत् श्रयति तथा रोचना रोचनशीला रण्वसंदृक् रमणीयदर्शनोषाः प्र रुरुचे प्रकर्षेण यद्वा रोचना लोकान् प्ररुरुचे प्रकर्षेण स्वतेजसा दीपयति।

अन्वय– वः अच्छ विभातीं उषसं देवीं वः नमसा सुवृक्तिं प्रभरध्वम्। मधुधा दिवि ऊर्ध्वं पाजः अश्रेत्। रण्वसंदृक् रोचना प्ररुरुचे।

शब्दार्थ– वः = तुम लोगों को। **अच्छ** = लक्ष्य बनाकर। **विभातीं** = प्रकाशित होने वाली, शोभायमान। **उषसं देवीम्** = उषा देवी को। **वः** = तुम्हारी। **नमसा** = नमस्कार के द्वारा, नमनयुक्त। **सुवृक्तिम्** = सुन्दर स्तुति को। **प्रभरध्वम्** = भर दो, कर दो। **मधुधा** = मधु या सोम को धारण करने वाली। **दिवि** = द्युलोक में। **ऊर्ध्वं** = ऊपर की ओर। **पाजः** = तेज को। **अश्रेत्** = आश्रित करती है, प्रसारित करती है। **रण्वसंदृक्** = रमणीय दर्शन वाली, मनोहर दर्शन से युक्त। **रोचना** = लोकों को। **प्ररुरुचे** = अध्यधिक प्रकाशित कर देती है, अधिक प्रकाश करती है।

अनुवाद– (हे स्तोतागण!) तुम लोगों को लक्ष्य बनाकर प्रकाशित होने वाली उषा देवी को (के लिए) (तुम लोग) नमन-युक्त अपनी सुन्दर स्तुति को भर दो (अर्थात् अर्पित कर दो) ; मधु (सोम अथवा सूर्य) को धारण करने वाली (उषा देवी) द्युलोक में ऊपर की ओर तेज को आश्रित करती है (प्रसारित करती है)। रमणीय दर्शन से युक्त (उषा देवी) लोकों को अत्यधिक प्रकाशित कर देती है।

व्याकरण– विभातीम् = वि उपसर्ग +✓भा + शतृ प्रत्यय + ङीप् प्रत्यय द्वि. ए. व.। **भरध्वम्** = ✓भृ + लोट् लकार म. पु. ब. व. (आ. प.)। **रोचना** = ✓रुच् + ल्युट् प्रत्यय (अन) + टाप्। **अश्रेत्** = ✓श्रि + लङ् + प्र. पु. ए. व. वैदिक रूप। **रुरुचे** = ✓रुच् + लिट् लकार प्र. पु. ए. व.।

सं. पा. - ६

ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात्।
आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः।।६।।

पदपाठ– ऋतऽवरी। दिवः। अर्कैः। अबोधि। आ। रेवती। रोदसी इति। चित्रम्। अस्थात्। आऽयतीम्। अग्ने। उषसम्। विऽभातीम्। वामम्। एषि। द्रविणम्। भिक्षमाणः।।६।।

सायणभाष्य– ऋतावरी सत्यवती येयमुषा दिवः द्युलोकात् अर्कैः तेजोभिः अबोधि सर्वैर्ज्ञायते। ततः रेवती धनवती येयं रोदसी द्यावापृथिव्यौ चित्रं नानाविधरूपयुक्तं यथा भवति तथा अस्थात् सर्वतो व्याप्य तिष्ठति। हे अग्ने आयतीं त्वदभिमुखमागच्छन्तीं विभातीं भासमानाम् उषसम् उषोदेवीं भिक्षमाणः हवींषि याचमानस्त्वं वामं वननीयं द्रविणम् अग्निहोत्रादिलक्षणं धनम् एषि प्राप्नोषि।

अन्वय– ऋतावरी दिवः अर्कैः अबोधि। रेवती रोदसी चित्रम् अस्थात्। अग्ने! आयतीं विभातीम् उषसम् भिक्षमाणः वामं द्रविणम् एषि।

शब्दार्थ– ऋतावरी = सत्य नियमों वाली, सत्यवती। **दिवः** = द्युलोक से। **अर्कैः** = तेजों के द्वारा। **अबोधि** = जानी जाती है। **रेवती** = धनयुक्त, धनवती। **रोदसी** = द्युलोक एवं पृथ्वी लोक को। **चित्रम्** = विविध रूपों में, विविध प्रकार से। **अस्थात्** = स्थित रहती है। **अग्ने!** = हे अग्नि देव!। **आयतीम्** = आती हुई। **विभातीम्** = प्रकाशित होती हुई। **उषसम्** = उषा देवी से। **भिक्षमाणः** = याचना करते हुए। **वामम्** = वरण करने योग्य। **द्रविणम्** = धन को। **एषि** = प्राप्त करते हो।

अनुवाद– सत्यवती (उषा) द्युलोक से (प्रसारित) तेजों के द्वारा जानी जाती है। धनवती (उषा देवी) द्युलोक एवं पृथिवी लोक को विविध प्रकार से (व्याप्त करके) स्थित रहती है। हे अग्नि (देव! तुम अपने सम्मुख) आती हुई, प्रकाशित होती हुई उषा (देवी) से याचना करते हुए वरण करने योग्य धन को प्राप्त करते हो।

व्याकरण– अस्थात् = ✓स्था + लङ् + प्र. पु. ए. व.। **अबोधि** = ✓बुध् + लङ् + प्र. पु. ए. व., कर्मवाच्य। **आयतीम्** = आङ् (आ) उपसर्ग +✓इण् (इ) + शतृ प्रत्यय + ङीप् + द्वि. ए.। **विभातीम्** = वि उपसर्ग +✓भा + शतृ प्रत्यय + ङीप् + द्वि. ए.। **भिक्षमाणः** = ✓भिक्ष् + शानच् प्रत्यय + प्र. ए.। **एषि** = ✓इष् + लट् + म. पु. ए. व.।

सं. पा. - ७

ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन्वृषा मही रोदसी आ विवेश।
मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानुं विदधे पुरुत्रा।।७।।

पदपाठ– ऋतस्य॑। बुध्ने। उषसा॑म्। इषण्यन्। वृषा॑। मही इति॑। रोद॑सी इति॑। आ। विवेश। मही। मित्रस्य॑। वरु॑णस्य। माया। चन्द्राऽईव। भानुम्। विऽदुधे। पुरुत्रा।।७।।

सायणभाष्य– वृषा वृष्टिद्वारा अपां प्रेरक आदित्यः ऋतस्य अग्निहोत्रादिकर्मकरणे सत्यभूतस्याहनः बुध्ने मूले उषसामिषण्यन् प्रेरणं कुर्वन् मही महत्यौ रोदसी द्यावापृथिव्यौ आ विवेश स्वतेजोभिः सर्वतः प्रविष्टवान्। यद्वा वृषा वर्षितेषण्यन् सर्वतो गच्छन्नुषसां सम्बन्धी रश्मिसमूहो रोदसी द्यावापृथिव्यौ विष्टवानिति योजनीयम्। ततः उषा मही महती मित्रस्य वरुणस्य मित्रावरुणयोः माया प्रभारूपा सती चन्द्रेव सुवर्णानीव भानुं स्वप्रभां पुरुत्रा बहुषु देशेषु विदधे विदधाति सर्वत्र प्रसारयति।

अन्वय– वृषा ऋतस्य बुध्ने उषसाम् इषण्यन् मही रोदसी आ विवेश। मित्रस्य वरुणस्य मही माया चन्द्रा इव भानुं पुरुत्रा विदधे।

शब्दार्थ– वृषा = वृष्टि के द्वारा जलों का प्रेरक। **ऋतस्य** = प्राकृतिक नियम के, सत्य के। **बुध्ने** = मूल में। **उषसाम्** = उषा को। **इषण्यन्** = प्रेरित करता हुआ। **मही** =महान्। **रोदसी** = द्युलोक एवं पृथ्वी लोक में। **आ विवेश** = सर्वत्र व्याप्त हो गया है। **मित्रस्य** = मित्र की। **वरुणस्य** = वरुण की। **मही** = महती। **माया** = शक्ति स्वरूपा, प्रभा के स्वरूप वाली। **चन्द्रा इव** = सुवर्णों की भाँति, स्वर्णिम कान्ति के समान। **भानुम्** = सूर्य को। **पुरुत्रा** = अनेक स्थानों में। **विदधे** = प्रसारित कर देती है।

अनुवाद– वृष्टि के द्वारा जलों का प्रेरक (सूर्य) प्राकृतिक नियमों (दिन) के मूल में उषा को प्रेरित करता हुआ, महान् द्युलोक एवं पृथिवी लोक में सर्वत्र व्याप्त हो गया है। मित्र एवं वरुण (देवताओं) की महती प्रभा के स्वरूप वाली (अथवा शक्तिस्वरूपा उषा) स्वर्णिम कान्ति के समान सूर्य को अनेक स्थानों में प्रसारित कर देती है।

व्याकरण– इषण्यन् = ✓ इष् + णिच् + शतृ, प्र. ए. व.। **विवेश** = ✓विश् + लिट् + प्र. पु. ए. व.। **विदधे** = वि उपसर्ग + ✓धा + लिट् + प्र. पु. ए. व.।

●

पर्जन्यसूक्तम् (ऋग्वेद ५.८३)

देवता- पर्जन्य ऋषि-अत्रि

छन्द-१,५,६,७,८,१०, त्रिष्टुप्। २,३,४ जगती, ९ अनुष्टुप्।

सं.पा. - १

अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास।
कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम्।।१।।

पदपाठ– अच्छ। वद। तवसम्। गीःऽभिः। आभिः। स्तुहि। पर्जन्यम्। नमसा। आ। विवास। कनिक्रदत्। वृषभः। जीरऽदानुः। रेतः। दधाति। ओषधीषु। गर्भम्।।१।।

सायणभाष्य– हे स्तोत: तवसं बलवन्तं पर्जन्यं अच्छ अभिप्राप्य वद प्रार्थय। पर्जन्यशब्दो यास्केन बहुधा निरुक्तः- 'पर्जन्यस्तृपेराद्यन्त विपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परो जेता वा जनयिता वा प्रार्जयिता वा 'रसानाम्' (निरु. १०/१०) इति। आभिः गीर्भिः स्तुवाग्भिः स्तुहि। नमसा अन्नेन हविर्लक्षणेन आ विवास सर्वतः परिचर। यः पर्जन्यः वृषभः अपां वर्षिता जीरदानुः क्षिप्रदानः कनिक्रदत् गर्जनशब्दं कुर्वन् ओषधीषु गर्भं गर्भस्थानीयं रेतः उदकं दधाति स्थापयति तं स्तुहि।।

अन्वय– आभिः गीर्भिः तवसम् अच्छ वद, नमसा पर्जन्यं स्तुहि ; आ विवास ; जीरदानुः वृषभः कनिक्रदत् ओषधीषु गर्भं रेतः दधाति।

शब्दार्थ– आभिः गीर्भिः = इन स्तुतियों के द्वारा। **तवसम्** = बलशाली को (की)। **अच्छ** = प्रार्थना, सम्मुख होकर। **वद** = बोलो। **नमसा** = नमस्कार के द्वारा, हविरूप अन्न के द्वारा। **पर्जन्यं स्तुहि** = पर्जन्य की स्तुति करो। **आ विवास** = सभी ओर से सेवा करो, प्रसन्न करने की इच्छा करो। **जीरदानुः** = शीघ्र देने वाला। **वृषभः** = इच्छाओं की पूर्ति करने वाला, वर्षा करने वाला। **कनिक्रदत्** = गरजता हुआ। **ओषधीषु** = ओषधियों में, वनस्पतियों में। **गर्भम्** = गर्भ रूप वाले, गर्भस्वरूप। **रेतः** = बीज, जल। **दधाति** = धारण करता है।

अनुवाद– (हे स्तोता) इन स्तुतियों द्वारा बलशाली (पर्जन्य देव) की प्रार्थना बोलो (करो)। हविरूप अन्न के द्वारा स्तुति करो (तथा) सभी ओर से (उस पर्जन्य देव की) सेवा करो। शीघ्र देने वाला, वर्षा करने वाला (पर्जन्य) गरजता हुआ वनस्पतियों में गर्भस्वरूप जल को धारण करता है।

व्याकरण– वद = ✓वद् + लोट् म. पु. ए. व.। **स्तुहि** = ✓स्तु + लोट् म. पु. ए. व.। **विवास** = वि +✓वस् + म. पु. ए. व.। **कनिक्रदत्** = ✓क्रन्द् + यङ् तुङन्त + शतृ प्रत्यय प्र. ए. व.। **दधाति** = ✓धा + लट् + प्र. पु. ए. व.।

सं पा. - २

वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महाबधात्।
उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः।।२।।

पदपाठ– वि। वृक्षान्। हन्ति। उत। हन्ति। रक्षसः। विश्वम्। बिभाय। भुवनम्। महाऽवधात्। उत। अनागाः। ईषते। वृष्ण्यऽवतः। यत्। पर्जन्यः। स्तनयन्। हन्ति। दुःऽकृतः।।२।।

सायणभाष्य– अयं मन्त्रो निरुक्ते स्पष्टं व्याख्यातः; तदेवात्र लिख्यते– 'पर्जन्यो विहन्ति वृक्षान्विहन्ति च रक्षांसि सर्वाणि चास्मद्भूतानि विभ्यति महाबधात् महान् ह्यस्य बधः। अप्यनपराधो भीतः पलायते वर्षकर्मवतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः पापकृतः (निरु. १०/११) इति।।

अन्वय– पर्जन्यः वृक्षान् विहन्ति उत रक्षसः हन्ति। महाबधात् विश्वं भुवनं विभाय यत् स्तनयन् दुष्कृतः हन्ति अनागाः वृष्ण्यावतः ईषते।।

शब्दार्थ– पर्जन्यः = पर्जन्य देव। **वृक्षान्** = वृक्षों को। **विहन्ति** = नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। **उत्** = और। **रक्षसः** = राक्षसों को, असुरों को। **हन्ति** = मार डालता है। **महावधात्** = शक्तिशाली आयुधों वाले से। **विश्वं भुवनम्** = सम्पूर्ण लोक। **विभाय** = डरता है। **यत्** = जब। **स्तनयन्** = गर्जन करता हुआ। **दुष्कृतः** = बुरे कर्म करने वाले लोगों को, अपराधियों को। **हन्ति** = मारता है। **अनागाः** = पाप कर्म न करने वाला व्यक्ति। **वृष्ण्यावतः** = शक्तिशाली से, पराक्रमी के सामने से। **ईषते** = दूर भाग जाता है।

अनुवाद– पर्जन्य देव वृक्षों को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है और राक्षसों को मार डालता है शक्तिशाली आयुधों वाले (पर्जन्य) से सम्पूर्ण लोक डरता है। जब गर्जन करता हुआ (पर्जन्य) अपराधियों को मारता है (तब) पाप कर्म न करने वाला व्यक्ति भी शक्तिशाली (पर्जन्य) से दूर भाग जाता है।

व्याकरण– विहन्ति = वि उपसर्ग +✓हन् + लट् प्र. पु. ए. व.। **विभाय** = ✓भी + लिट् प्र. पु. ए. व.। **स्तनयन्** = ✓स्तन् (गर्जन करना) + शतृ प्रत्यय प्र. ए. व.। **ईषते** = ✓ईष् + लट् प्र. पु. ए. व.।

सं. पा. - ३

रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान्कृणुते वर्ष्याँ३ अह।
दूरात्सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं१ नभः।।३।।

पदपाठ– रथीऽइव। कशया। अश्वान्। अभिऽक्षिपन्। आविः। दूतान्। कृणुते। वर्ष्यान्। अह।। दूरात्। सिंहस्य। स्तनथाः। उत्। ईरते। यत्। पर्जन्यः। कृणुते। वर्ष्यम्। नभः।।

सायणभाष्य– रथीव रथस्वामीव। स यथा कशया अश्वान् अभिक्षिपन् दूतान् भटान् आविष्करोति तद्वदसौ पर्जन्योऽपि कशया अश्वान् मेघान् अभिक्षिपन् अभिप्रेरयन् वर्ष्यान् वर्षकान् दूतान् दूतवत् वृष्टिप्रेरकान् मेघान् मरुतो वा आविः कृणुते प्रकटयति। अह इति पूरणः। एवं सति

सिंहस्य। सहतेर्हिंसतेर्वा शब्दकर्मणः सिंहशब्दः। अवर्षणेनाभिभवितुः शब्दयितुर्वा मेघस्य स्तनथाः गर्जनशब्दाः दूरात् उदीरते उद्गच्छन्ति। कदा। यत् यदा पर्जन्यः नभः अन्तरिक्षं वर्ष्यं वर्षोपेतं कृणुते करोति तदा।।३।।

अन्वय– कशया अश्वान् अभिक्षिपन् रथी इव अहं वर्ष्यान् दूतान् आविष्कृणुते यत् पर्जन्यः नभः वर्षम् कृणुते, दूरात् सिंहस्य स्तनथाः उदीरते।।

शब्दार्थ– कशया = कोड़े से। **अश्वान्** = घोड़ों को। **अभिक्षिपन्** = हाँकते हुए, प्रेरित करते हुए। **रथी इव** = रथस्वामी की भाँति। **अह** = पादपूरणार्थक निपात। **वर्ष्यान्** = वर्षा करने वाले, वर्षा से सम्वन्धित। **दूतान्** = दूतों को। **आविष्कृणुते** = प्रकट करता है। **यत्** = जब। **पर्जन्यः** = पर्जन्य देव। **नभः** = आकाश को। **वर्षम्** = वर्षा से युक्त। **कृणुते** = करते हैं। **दूरात्** = दूर से। **सिंहस्य** = सिंह के। **स्तनथाः** = गर्जन, गरजने की ध्वनि। **उदीरते** = उठती है, सुनाई पड़ती है।

अनुवाद– कोड़े से घोड़ों को प्रेरित करते हुए रथ-स्वामी की भाँति (पर्जन्य देव) वर्षा से सम्बन्धित दूतों (बादलों) को प्रकट करता है। जब पर्जन्य (देव) आकाश को वर्षा सें युक्त करते हैं (तब) दूर से सिंह के गरजने की ध्वनि (के समान ध्वनि) सुनाई पड़ती है।

व्याकरण– कशया = ✓कश् + अच् प्रत्यय + टाप् प्रत्यय तृ. ए.। **अभिक्षिपन्** = अभि +✓क्षिप् + शतृ प्रत्यय प्र. ए. व.। **कृणुते** = ✓कृ + लट् (आ. प.) प्र. पु. ए. व. (वैदिक रूप) लौकिक संस्कृत में 'कुरुते' रूप बनता है। **उदीरते** = उत् उपसर्ग +✓ईर् आ. प. लट् + प्र. पु. ए. व.। **वर्ष्यां ३ अह** तथा **वर्ष्यं १ नभः** = कम्प स्वरित के रूप। इनके सम्बन्ध में विशेष विवरण 'वैदिक स्वर' नामक परिशिष्ट में देखें।

सं. पा. - ४

प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति।।४।।

पदपाठ– प्र। वाताः। वान्ति। पतयन्ति। विऽद्युतः। उत्। ओषधीः। जिहते। पिन्वते। स्व १ रिति स्वः। इरा। विश्वस्मै। भुवनाय। जायते। यत्। पर्जन्यः। पृथिवीम्। रेतसा। अवति।।

सायणभाष्य– 'प्र वाताः' इति चतुर्थी पर्जन्यस्य चरोर्याज्या। सूत्रितं च – 'प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत इत्यग्न्याधेय प्रभृति' (आश्व. श्रौ. २/१५) इति। प्र वान्ति वाताः वृष्ट्यर्थम्। पतयन्ति गच्छन्ति समन्तात् संचरन्ति विद्युतः। ओषधीः ओषधयः उत् जिहते उद्गच्छन्ति प्रवर्धन्ते। स्वः अन्तरिक्षं पिन्वते क्षरति। इरा भूमिः विश्वस्मै सर्वस्मै भुवनाय सर्वजगद्धिताय जायते समर्थाः भवति। कदैवमिति। यत् यदा पर्जन्यः देवः पृथिवीं रेतसा उदकेन अवति रक्षति अभिगच्छति वा तदैवं भवति।।४।।

अन्वय– यत् पर्जन्यः पृथिवीं रेतसा अवति, वाताः प्रवान्ति, विद्युतः पतयन्ति, ओषधीः उज्जिहते, स्वः पिन्वते, विश्वस्मै भुवनाय इरा जायते।

शब्दार्थ– यत् = जब। **पर्जन्यः** = पर्जन्य देव। **पृथिवीम्** = पृथिवी को। **रेतसा** = जल के द्वारा। **अवति** = सींचता है, रक्षा करता है। **वाताः** = हवायें। **प्रवान्ति** = तेज चलती हैं। **विद्युतः** = बिजलियाँ। **पतयन्ति** = गिरती हैं। **ओषधीः** = वनस्पतियाँ। **उज्जिहते** = अङ्कुरित होती हैं, बढ़ती हैं। **स्वः** = आकाश। **पिन्वते** = उड़ेलता है। **विश्वस्मै** = सम्पूर्ण। **भुवनाय** = लोक के लिए, प्राणियों के लिए। **इरा** = पृथिवी, अन्न। **जायते** = समर्थ होता है, उत्पन्न होती है।

अनुवाद– जब पर्जन्य देव पृथिवी को जल के द्वारा सींचता है, (तब) हवायें तेज चलती हैं, बिजलियाँ गिरती हैं, वनस्पतियाँ अङ्कुरित होती हैं, आकाश (जल) उड़ेलता है, सम्पूर्ण लोक के लिए पृथिवी (खाद्य पदार्थ प्रदान करने के लिये) समर्थ होती है।

व्याकरण– वान्ति = ✓वा लट् + प्र. पु. ब. व.। **पतयन्ति** = ✓पत् लट् + प्र. पु. ब. व.। **उज्जिहते** = उत् उपसर्ग +✓हा + लट् प्र. पु. ए. व ; आ. प.। **पिन्वते** = ✓पिन्व् + लट् प्र. पु. ए. व. आ. प.। **अवति** = ✓अव् + लट् प्र. पु. ए. व.। **जायते** = ✓जन् + लट् + प्र. पु. ए. व.।

सं. पा. - ५

यस्य॑ व्र॒ते पृ॑थि॒वी नन्न॑मीति॒ यस्य॑ व्र॒ते श॒फव॒ज्जर्भु॑रीति।
यस्य॑ व्र॒ते ओष॑धीर्वि॒श्वरू॑पाः॒ स नः॑ पर्जन्य॒ः महि॒ शर्म॑ यच्छ।।५।।

पदपाठ– यस्य॑। व्र॒ते। पृ॒थि॒वी। नन्न॑मीति। यस्य॑। व्र॒ते। श॒फऽव॑त् जर्भु॑रीति। यस्य॑। व्र॒ते। ओष॑धीः। वि॒श्वऽरू॑पाः। सः। नः॒ प॒र्ज॒न्य॒ः। महि॑। शर्म॑। य॒च्छ॒।।

सायणभाष्य– यस्य पर्जन्यस्य व्रते कर्मणि पृथिवी नन्नमीति अत्यर्थं नमति सर्वेषामधो भवति। यस्य व्रते शफवत् पादोपेतं गवादिकं जर्भुरीति भ्रियते पूर्यते गच्छतीति वा। यस्य व्रते कर्मणि ओषधीः ओषधयः विश्वरूपाः नानारूपाः भवन्ति। हे पर्जन्यः सः महांस्त्वं नः अस्मभ्यं महि शर्म महत् सुखं यच्छ प्रयच्छ।।

अन्वय– यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति यस्य व्रते शफवत् जर्भुरीति, यस्य व्रते ओषधीः विश्वरूपाः सः पर्जन्यः नः महि शर्म यच्छ।।

शब्दार्थ– यस्य = जिसके। **व्रते** = आज्ञा में, वर्षा रूप कर्म में। **पृथिवी** = पृथिवी। **नन्नमीति** = अत्यन्त झुक जाती है। **शफवत्** = खुरों वाला, पैरों वाला। **जर्भुरीति** = विचरण करता है, प्रसन्नता से उछलता है। **ओषधीः** = ओषधियाँ, वनस्पतियाँ। **विश्वरूपाः** = विविध रूपों वाली। **पर्जन्यः** = हे पर्जन्य देव। **सः** = वह। **नः** = हमारे लिए। **महि** = महान्। **शर्म** = सुख। **यच्छ** = प्रदान करो।

अनुवाद– जिसकी आज्ञा में पृथिवी अत्यन्त झुक जाती है, जिसकी आज्ञा में खुरों वाला (पशुसमुदाय) विचरण करता है, जिसकी आज्ञा में वनस्पतियाँ विविध रूपों वाली (हो जाती हैं)। हे पर्जन्य देव! वह (तुम) हमारे लिए महान् सुख प्रदान करो।

व्याकरण– नन्नमीति = ✓नम् + यङ्लुगन्त + लट् लकार प्र.पु.ए.व.। **जर्भुरीति** = ✓भुर् + यङ्लुङन्त + लट् लकार प्र.पु.ए.व.। **यच्छ** = ✓यम् + लोट् लकार म.पु.ए.व.।

सं. पा. - ६

दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्रपिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः।
अर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेह्यपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः।।६।।

पदपाठ– **दिवः। नः। वृष्टिम्। मरुतः। ररीध्वम्। प्र। पिन्वत। वृष्णः। अश्वस्य। धाराः।। अर्वाङ्। एतेन। स्तनयित्नुना। आ। इहि। अपः। निऽसिञ्चन्। असुरः। पिता नः।।६।।**

सायणभाष्य– हे मरुतः यूयं दिवः अन्तरिक्षसकासात् नः अस्मदर्थं वृष्टिं ररीध्वं दत्त। वृष्णः वर्षकस्य अश्वस्य व्यापकस्य मेघस्य सम्बन्धिन्यः धाराः उदकधाराः प्रपिन्वत प्रक्षरत। हे पर्जन्य त्वं एतेन स्तनयित्नुना गर्जता मेघेन सह अर्वाङ् अस्मदभिमुखान् एहि आगच्छ। किं कुर्वन्। अपः अम्भांसि निषिञ्चन् स देवः असुरः उदकानां निरसितापि सन् नः अस्माकं पिता पालकश्च।

अन्वय– मरुतः दिवः नः वृष्टिं ररीध्वम्, वृष्णः अश्वस्य धाराः प्रपिन्वत। नः पिता असुरः अपः निषिञ्चन् एतेन स्तनयित्नुना अर्वाङ् एहि।

शब्दार्थ– **मरुतः** = हे मरुतो!। **दिवः** = अन्तरिक्ष से। **नः** = हमारे लिए। **वृष्टिम्** = वर्षा को। **ररीध्वम्** = दे दो, प्रदान कर दो। **वृष्णः** = वर्षा करने वाले। **अश्वस्य** = व्यापक मेघ की। **धाराः** = धाराओं को। **प्रपिन्वत** = प्रवाहित करो, गिरा दो। **नः** = हमारे। **पिता** = पालन करने वाले। **असुरः** = प्राण देने वाले। **अपः** = जलों को। **निषिञ्चन्** = छिड़कते हुए, गिराते हुए। **एतेन स्तनयित्नुना** = इस गरजते हुए के साथ। **अर्वाङ्** = (हमारी) ओर। **एहि** = आओ।

अनुवाद– हे मरुतो! अन्तरिक्ष से हमारे लिए वर्षा को प्रदान कर दो। वर्षा करने वाले व्यापक मेघ की धाराओं को प्रवाहित करो। हमारे पालन करने वाले (एवं) प्राण देने वाले (तुम) जलों को छिड़कते हुए इस गरजते हुए (मेघ) के साथ (हमारी) ओर आओ।

व्याकरण– **ररीध्वम्** = ✓रा देने अर्थ में + लट् लकार म. पु. ब. व.। **प्रपिन्वत** = प्र उपसर्ग +✓पिन्व् + लोट् लकार म. पु. ब. व.। **निषिञ्चन्** = नि उपसर्ग +✓सिञ्च् + शतृ प्रत्यय प्र. ए. व.। **असुरः** = असून् प्राणान् राति ददाति इति असुरः। **एहि** = आङ् (आ) उपसर्ग +✓इ + लोट् म. पु. ए. व.।

सं. पा. - ७

अभि क्रन्द स्तनय गर्भमा धा उदन्वता परि दीया रथेन।
दृतिं सु कर्ष विषितं न्यञ्चं समा भवन्तूद्वतो निपादाः।।७।।

पदपाठ– **अभि। क्रन्द। स्तनय। गर्भम्। आ। धाः। उदन्ऽवता। परि। दीय। रथेन।। दृतिम्। सु। कर्ष। विऽसितम्। न्यञ्चम्। समाः। भवन्तु। उत्ऽवतः। निऽपादाः।।७।।**

सायणभाष्य– अभि भूम्यभिमुखं क्रन्द शब्दय। तदेव पुनरुच्यते। दाढ्र्याय। स्तनय गर्ज। गर्भं गर्भस्थानीयमुदकम् ओषधीषु आ धाः आधेहि। तदर्थम् उदन्वता उदकवता रथेन परि

दीय परितो गच्छ। दृतिं दृतिवदुदकधारकं मेघं विषितं विशेषेण सितं बद्धं न्यञ्चं न्यक् अधोमुखं सु सुष्ठु कर्ष आकर्ष वृष्ट्यर्थम्। यद्वा। विषितं विमुक्तबन्धनमेवं कर्ष। एवं कृते उद्वतः ऊर्ध्ववन्तः उन्नतप्रदेशाः निपादाः न्यग्भूतपादा निकृष्टपादा वा निम्नोन्नतप्रदेशाः समाः एकस्थाः। भवन्तु उदकपूर्णा भवन्त्वित्यर्थः।।

अन्वय– अभि क्रन्द, स्तनय, गर्भम् आ धाः, उदन्वता रथेन परि दीय, विषितं दृतिं न्यञ्चम् सु कर्ष। उद्वतः निपादाः समाः भवन्तु।

शब्दार्थ– अभि = अभिमुख होकर। **क्रन्द** = शब्द करो, क्रन्दन करो। **स्तनय** = गर्जन करो। **गर्भम्** = गर्भ को। **आ धाः** = स्थापित करो, धारण कराओ। **उदन्वता** = जल युक्त। **रथेन** = रथ से। **परि दीय** = चारो ओर घूमो, सभी ओर जाओ। **विषितम्** = विशिष्ट रूप से बँधे हुए। **दृतिम्** = चर्मनिर्मित जलपात्र विशेष को। **न्यञ्चम्** = नीचे की ओर, अधोमुख करके। **सु** = भली-भाँति। **कर्ष** = खींचो, उड़ेलो। **उद्वतः** = उन्नत स्थान। **निपादाः** = निचले स्थान। **समाः** = समान। **भवन्तु** = हो जाँय।

अनुवाद– (हे पर्जन्य देव) (भूमि की ओर) अभिमुख होकर शब्द करो (तथा) गर्जन करो। (ओषधियों में) गर्भ (रूप जल) को स्थापित करो। जल युक्त रथ से चारो ओर घूमो। विशिष्ट रूप से बँधे हुए चर्मनिर्मित जलपात्र को अधोमुख करके भली-भाँति उड़ेलो। (जिससे) उन्नत स्थान (तथा) निम्न स्थान समान हो जाँय।। ७।।

व्याकरण– क्रन्द = ✓ क्रन्द् + लोट् + म.पु.ए.व.। **स्तनय** = ✓ स्तन् + लोट् + म.पु.ए.व.। **धाः** = ✓ धा + लुङ् + म.पु.ए.व.। **दीया** = ✓ दी + लोट् + म.पु.ए.व. छान्दस् दीर्घता। **विषितम्** = वि उपसर्ग + ✓ सि + क्त प्रत्यय। **कर्ष** = ✓ कृष् + लोट् + म.पु. ए.व.। **न्यञ्चम्** = नि उपसर्ग + ✓ अञ्च् का रूप।

सं. पा. - ८

म॒हान्तं॒ कोश॒मुद॑चा॒ नि षि॑ञ्च॒ स्यन्द॑न्तां कु॒ल्या विषि॑ताः पु॒रस्ता॑त्।
घृ॒तेन॒ द्यावा॑पृथि॒वी व्यु॑न्धि सुप्र॒पा॒णं भ॑वत्व॒घ्न्याभ्यः॑।। ८।।

पदपाठ– म॒हान्त॑म्। कोश॑म्। उत्। अ॒च॒। नि। सि॒ञ्च॒। स्यन्द॑न्ताम्। कु॒ल्याः। विऽसि॑ताः। पु॒रस्ता॑त्।। घृ॒तेन॑। द्यावा॑पृथि॒वी इति॑। वि। उ॒न्धि॒। सु॒ऽप्र॒पा॒नम्। भ॒व॒तु॒। अ॒घ्न्याभ्यः॑।। ८।।

सायणभाष्य– हे पर्जन्य त्वं महान्तं प्रवृद्धं कोशं कोशस्थानीयं मेघम् उदच उद्गच्छ। उद्गमय वा। तथा कृत्वा निषिञ्च नीचैः क्षारय। कुल्याः नद्यः विषिताः विष्यूताः सत्यः स्यन्दन्तां प्रवहन्तु पुरस्तात् पूर्वाभिमुखम्। प्रायेण नद्यः प्राच्यः स्यन्दन्ते घृतेन उदकेन द्यावापृथिवी दिवं च पृथिवीं च व्युन्धि क्लेदय अत्यधिकम्। अघ्न्याभ्यः गोभ्यः सुप्रपाणं सुष्ठु प्रकर्षेण पातव्यमुदकं भवतु।। ८।।

अन्वय– महान्तं कोशम् उदच, निषिञ्च। कुल्याः विषिताः पुरस्तात् स्यन्दन्ताम्। घृतेन द्यावापृथिवी वि उन्धि। अघ्न्याभ्यः सु प्रपाणं भवतु।। ८।।

शब्दार्थ– महान्तम् = विशाल, महान्। **कोशम्** = (जल के) भण्डार स्वरूप को। **उदच** = ऊपर ले जाओ। **निषिञ्च** = नीचे की ओर बरसाओ। **कुल्याः** = नदियाँ, नालियाँ। **विषिताः** = बन्धन रहित होती हुईं। **पुरस्तात्** = पूर्व की ओर, सामने की ओर। **स्यन्दन्ताम्** = प्रवाहित हो जाँय। **घृतेन** = जल से। **द्यावापृथिवी** = द्युलोक और पृथिवी को। **वि उन्धि** = विशेष रूप से सिक्त कर दो। **अघ्न्याभ्यः** = अबध्यों के लिए, बध न किये जाने योग्य के लिए। **सुप्रपाणम्** = भली भाँति पीने योग्य। **भवतु** = हो जाय।

अनुवाद– (हे पर्जन्य देव) विशाल, (जल के) भण्डार स्वरूप (मेघ) को ऊपर ले जाओ (तथा उसको) नीचे की ओर बरसाओ। नदियाँ बन्धन-रहित होती हुईं सामने की ओर प्रवाहित हो जायँ। जल से द्युलोक एवं पृथिवी लोक को विशेष रूप से सिक्त कर दो। बध न किये जाने योग्य (गायों) के लिए भली-भाँति पीने योग्य (पर्याप्त जल) हो जाय।

व्याकरण– उदच = उत् उपसर्ग + ✓ अच् (अञ्च्) + लोट् + म.पु.ए.व., छान्दस् दीर्घता। **निषिञ्च** = नि उपसर्ग + ✓ सिञ्च् + लोट् + म.पु.ए.व.। **स्यन्दन्ताम्** = ✓ स्यन्द् + लोट् + प्र.पु.ब.व. आत्मनेपद। **उन्धि** = ✓ उद् (उन्द्) + लोट् + म.पु.ए.व.।

यत्पर्जन्य कनिक्रदत्स्तनयन् हंसि दुष्कृतः।
प्रतीदं विश्वं मोदते यत्किं च पृथिव्यामधि।।९।।

पदपाठ– यत्। पर्जन्य। कनिक्रदत्। स्तनयन्। हंसि। दुःऽकृतः। प्रति। इदम्। विश्वम्। मोदते। यत्। किम्। च। पृथिव्याम्। अधि।।९।।

सायण-भाष्य– हे पर्जन्य यत् यदा त्वं कनिक्रदत् अत्यर्थं शब्दयन् स्तनयन् दुष्कृतः पापकृतो मेघान् हंसि विदारयसि तदानीम् इदं विश्वं जगत् प्रति मोदते। विश्वं विशेष्यते। यत्किञ्च पृथिव्यामधि भूम्यामधिष्ठितं यच्चराचरात्मकं तदिदं विश्वं मोदते हृष्यति। वृष्टेः सर्वजगत्प्रीतिकारणत्वं प्रसिद्धम्।

अन्वय– पर्जन्य! यत् कनिक्रदत् स्तनयन् दुष्कृतः हंसि इदं विश्वं यत् किंच पृथिव्यां अधि मोदते।

अन्वय– पर्जन्य! = हे पर्जन्य देव। **यत्** = जब। **कनिक्रदत्** = शब्द करते हुए। **स्तनयन्** = गर्जन करते हुए। **दुष्कृतः** = दुष्कर्म करने वालों को। **हंसि** = मारते हो, बध करते हो। **इदम्** = यह। **विश्वम्** = सम्पूर्ण, संसार। **यत्** = जो। **किञ्च** = कोई भी। **पृथिव्याम् अधि** = पृथ्वी पर है। **मोदते** = प्रसन्न होता है, आनन्दित होता है।

अनुवाद– हे पर्जन्य देव! जब (तुम) तीव्र शब्द करते हुए (तथा) गर्जन करते हुए दुष्कर्म करने वालों को (का) बध करते हो (तब) यह सम्पूर्ण संसार जो कोई भी पृथिवी पर है, आनन्दित होता है।

व्याकरण– हंसि = ✓हन् + लट् + म. पु. ए. व.। **मोदते** = ✓मुद् + लट् + प्र. पु. ए. व.।

सं. पा. - १०

अवर्षीर्वर्षमुदु षू गृभायाकर्धन्वान्यत्यैतवा उ।
अजीजन ओषधीर्भोजनाय कमुत प्रजाभ्योऽविदो मनीषाम्।।१०।।

पदपाठ– अवर्षीः। वर्षम्। उत्। ॐ इति। सु। गृभाय। अकः। धन्वानि। अतिऽएतवै। ॐ इति। अजीजनः। ओषधीः। भोजनाय। कम्। उत। प्रऽजाभ्यः। अविदः। मनीषाम्।।१०।।

सायणभाष्य– इयमतिवृष्टिविमोचनी। हे पर्जन्य त्वम् अवर्षीः वृष्टवानसि। वर्षमुदु षू गृभाय उत्कृष्टं सु सुष्ठु गृभाय गृहाण। परिहरेत्यर्थः। धन्वानि निरुदकप्रदेशान् अकः जलवतः कृतवानसि। किमर्थम् अत्येतवा उ अतिक्रम्य गन्तुम्। ओषधीः अजीजनः उत्पादय। किमर्थम्। भोजनाय धनाय भोगाय वा कम् इत्ययं 'शिशिरं जीवनाय कम्' इतिवद् पादपूरणः (निरु. १/१०)। उत अपि च प्रजाभ्यः सकाशात् मनीषां स्तुतिम् अविदः प्राप्तवानसि।

अन्वय– वर्षम् अवर्षीः। उत उ सु गृभाय। धन्वानि अति एतवै अकः। भोजनाय कम् ओषधीः अजीजनः उत प्रजाभ्यः मनीषाम् अविदः।

शब्दार्थ– वर्षम् = वर्षा को। **अवर्षीः** = बरसा दी। **उत** = और। **उ** = पादपूरणार्थक निपात। **सु** = पूर्ण रूप से, सुष्ठुरूपेण। **गृभाय** = ग्रहण करो, रोक दो। **धन्वानि** = जलविहीन प्रदेशों को, मरुस्थलों को। **अति एतवै** = पार करने योग्य, अतिक्रमण करके पहुँचने के लिए। **अकः** = कर दिया, बना दिया। **भोजनाय** = भोग करने के लिए। **ओषधीः** = वनस्पतियों को। **अजीजनः** = उत्पन्न कर दिया है। **उत** = और। **प्रजाभ्यः** = प्राणियों से, लोगों से। **मनीषाम्** = प्रशंसा को, प्रार्थना को। **अविदः** = प्राप्त कर लिया।

अनुवाद– (हे पर्जन्य देव) तुम वर्षा को बरसा दिये (कर चुके)। अब इसको पूर्ण रूपेण रोक दो। जल विहीन प्रदेशों को (तुमने) पार करके पहुँचने योग्य बना दिया। भोग करने के लिए वनस्पतियों को उत्पन्न कर दिया है, तथा लोगों से प्रशंसा (भी) प्राप्त कर लिया है।

व्याकरण– अवर्षीः = ✓वृष् + लुङ् म. पु. ए. व.। **गृभाय** = ✓ग्रभ् + लट् या लोट् लकार म. पु. ए. व. कतिपय विद्वान् ✓ग्रह् धातु का वैदिक रूप स्वीकार करते हैं। **एतवै** = ✓इण् (इ) धातु + तुमर्थक 'तवै' प्रत्यय। वेद में 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में 'से, असे, अध्यै, 'तवै' आदि अनेक प्रत्यय दिखलाई पड़ते हैं। **अकः** = ✓कृ + लुङ् + म. पु. ए. व. वैदिक रूप। **अजीजनः** = ✓जन् + लुङ् + म. पु. ए. व.। **अविदः** = ✓विद् + लुङ् + म. पु. ए. व.।

●

उषःसूक्तम् (ऋग्वेद ७।७७)

ऋषि-वसिष्ठ देवता-उषा छन्द-त्रिष्टुप्

उपो रुरुचे युवतिर्न योषा विश्वं जीवं प्रसुवन्ती चरायै।
अभूदग्निः समिधे मानुषाणामकर्ज्योतिर्बाधमाना तमांसि।।१।।

पदपाठ– उपो इति। रुरुचे। युवतिः। न। योषा। विश्वम्। जीवम्। प्रऽसुवन्ती। चरायै। अभूत्। अग्निः। सम्ऽइधे। मानुषाणाम्। अकः। ज्योतिः। बाधमाना। तमांसि।।१।।

सायणभाष्य– इयमुषा उपो समीप एव सूर्यस्य रुरुचे दीप्यते। युवतिः यौवनोपेता योषा न योषिदिव। सा यथा वस्त्राभरणादिना पत्युः समीपे प्रदीप्यते तद्वत्। किं कुर्वंती। विश्वं सर्वजीवं जीवसंघं चरायै संचाराय प्रसुवन्ती प्रेरयन्ती। किं च अग्निः मानुषाणां मनुष्याणामर्थाय समिधे अभूत् समिन्धनीयोऽभवत्। कृत्यार्थे केन्। समिद्धः सन् तमांसि अन्धकारान् बाधमाना बाधमानं बाधकं ज्योतिः तेजःसंघम् अकः अकार्षीत्। अथवा औषसं ज्योतिस्तमांसि बाधमाना बाध्यमानान्यकः अकरोत्।।

अन्वय– विश्वं जीवं चरायै प्रसुवन्ती युवतिः योषा न उपो रुरुचे। अग्निः मानुषाणां समिधे अभूत्, तमांसि बाधमाना ज्योतिः अकः।

शब्दार्थ– विश्वम् = सब, सम्पूर्ण। **जीवम्** = जीवों को, प्राणियों को। **चरायै** = विचरण (संचरण) करने के लिए, चलने-फिरने के लिए, कर्म (कार्य) करने के लिए। **प्रसुवन्ती** = प्रेरित करती हुई। **युवतिः योषा न** = युवती स्त्री (प्रेमिका) के समान। **उपो रुरुचे** = (सूर्य के) समीप में प्रकाशित हुई है। **अग्निः मानुषाणाम्** = अग्नि मनुष्यों के (लिए)। **समिधे** = प्रज्ज्वलित करने के लिए, जलाने के लिए। **अभूत्** = हुआ, हो गया। **तमांसि बाधमाना** = अन्धकार को बाधित करती हुई, भगाती हुई, दूर करती हुई। **ज्योतिः अकः** = ज्योति (प्रकाश) कर दी, प्रकाश फैला दिया।

अनुवाद– सम्पूर्ण जीवों (प्राणियों) को चलने-फिरने के लिए (कार्य करने के लिए) प्रेरित करती हुई (यह उषा) युवती स्त्री (प्रेमिका) के समान (सूर्य के) समीप में प्रकाशित हुई है। (अर्थात् जिस प्रकार युवती स्त्री वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित होकर पति के समीप सुशोभित होती है, उसी प्रकार उषा सूर्य के समीप चमकी है)। अग्नि मनुष्यों के लिए प्रज्ज्वलित करने अर्थात् जलाने के योग्य हो गया है, अन्धकार को भगाती हुई (उषा ने) ज्योति कर दी (प्रकाश फैला दिया)।

व्याकरण– **चरायै** = ✓ चर् (चलना) + अच् + टाप् = चरा, चतुर्थी, एक.। **प्रसुवन्ती** = प्र + ✓ सू (प्रेरित करना) + शतृ + ङीप् प्र. एक व.। **न**-वेद में उपमा तथा निषेध अर्थ, दोनों में प्रयुक्त होता है। **रुरुचे** = ✓ रुच् (चमकना) + लिट् प्र. पु., एक.। **समिधे** = सम् + ✓ इध् (इन्ध्) (प्रज्ज्वलित होना) + तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में 'से' (ए) प्रत्यय। **अभूत्** = ✓ भू (होना) + लुङ्, प्र.पु., एक.। **बाधमाना** = ✓ बाध् (बाधित करना) + शानच्, प्र.एक.। **अकः** = ✓ कृ (करना) + लुङ्, प्र.पु., एक.।

विश्वं॑ प्र॒ती॒ची स॒प्रथा॒ उद॑स्था॒द्रुश॒द्वासो॒ बिभ्र॑ती शु॒क्रम॑श्वैत्।
हिर॑ण्यवर्णा सु॒दृशी॑कसंदृ॒ग्गवां॑ मा॒ता ने॒त्र्यह्ना॑मरोचि।। २।।

पदपाठ– **विश्व॑म्। प्र॒ती॒ची। स॒ऽप्र॑थाः। उत्। अ॒स्था॒त्। रुश॑त्। वासः॑। बिभ्र॑ती। शु॒क्रम्। अ॒श्वै॒त्। हिर॑ण्यऽवर्णा। सु॒दृशी॑कऽसंदृक्। गवा॑म्। मा॒ता। ने॒त्री। अह्ना॑म्। अ॒रो॒चि॒।। २।।**

सायणभाष्य– विश्वं कृत्स्नं जगत् प्रति प्रतीची अभिमुखी सप्रथाः सर्वतः पृथतरा अस्थात् उदगच्छत्। उदिता च रुशत् दीप्तं शुक्रं तेजोमयं वासः वसनीयं तेजःसमूहं बिभ्रती धारयन्ती अश्वैत् वर्धते। हिरण्यवर्णा हितरमणीयवर्णोपेता सुदृशीकसंदृक्। सन्दर्शयतीति संदृक् तेजः। सुष्ठु दर्शनीयं संदृक् तेजो यस्याः सा तादृशीं गवां वाचां गवामेव वा माता निर्मात्री। उषःकाले हि पक्षिमनुष्यादीनां वाचो निर्गच्छन्ति। गवामपि तस्मिन् काले तन्निर्मातृत्वम्। अथवा रश्मीनां निर्मात्री अरोचि रोचते अह्नां नेत्री दिवसानां प्रापयित्री।

अन्वय– विश्वं प्रतीची सप्रथाः उत् अस्थात्, रुशत् शुक्रम् वासः बिभ्रती अश्वैत्, हिरण्यवर्णा सुदृशीकसंदृक् गवां माता अह्नां नेत्री अरोचि।

शब्दार्थ– **विश्वं प्रतीची** = संसार के सम्मुख, सभी के सम्मुख। **सप्रथाः** = विस्तार के साथ, बहुत विस्तृत होकर, सभी ओर फैली हुई। **उत् अस्थात्** = ऊपर को उठी है, उठ खड़ी हुई है। **रुशत्** = चमकते हुए। **वासः** = वस्त्र। **बिभ्रती** = धारण करती हुई, पहनती हुई। **अश्वैत्** = प्रकाशित हुई है, चमकी है। **हिरण्यवर्णा** = सुवर्ण (सोने) के रंग वाली, सुनहरे रंग की। **सुदृशीकसंदृक्** = सुन्दरमुखी, सुन्दर मुख वाली, दर्शनीय तेज वाली। **गवां माता** = गायों की (या सूर्य की किरणों की या वाणी की) माता या निर्माण करने वाली (प्रातःकाल ही गायें चरने के लिए निकलती हैं, सूर्य की किरणें भी निकलती हैं, पक्षी, मनुष्य आदि की वाणी निकलती है)। **अह्नां नेत्री** = दिनों का नेतृत्व करने वाली, दिनों को ले जाने वाली, दिन करने वाली। **अरोचि** = प्रकाशित हुई है, चमकी है।

अनुवाद– (यह उषा) सम्पूर्ण संसार के सम्मुख (अपने) विस्तार के साथ (अर्थात् बहुत विस्तृत होकर) उठ खड़ी हुई है। चमकीला और शुभ्रवस्त्र पहनकर (यह) प्रकाशित हुई है। सुवर्ण के रंग वाली, सुन्दर मुख वाली (अथवा दर्शनीय तेज वाली), गायों (अथवा किरणों अथवा वाणी) की माता (निर्माण करने वाली) तथा दिनों का नेतृत्व करने वाली (दिन करने वाली) (उषा) चमक गई है (प्रकाशित हो गई है)।

व्याकरण– **अस्थात्**– ✓स्था (स्थित होना) + लङ्, प्र.पु., एक.। **रुशत्** - ✓रुश् (चमकना) + शतृ प्रथमा एक.। **बिभ्रती** - ✓भृ (धारण करना) + शतृ + ङीप् प्र. एक व.। **अश्वैत्** – ✓श्वित् (चमकना) + लुङ् प्र. पु. एक.। **हिरण्यवर्णा** - हिरण्यवत् वर्णः यस्याः सा (बहु.)। **सुदृशीकसंदृक्** - सुदृशीकं संदृक् यस्याः सा (बहु.)। **अरोचि** - ✓रुच् (चमकना) + लङ् प्र.पु.ए एक.।

दे॒वा॒नां चक्षुः॑ सु॒भगा॒ वह॑न्ती श्वे॒तं नय॑न्ती सु॒दृशी॑क॒मश्व॑म्।
उ॒षा अ॑दर्शि र॒श्मिभि॒र्व्य॑क्ता चि॒त्राम॑घा॒ विश्व॒मनु॒ प्रभू॑ता।।३।।

पदपाठ– दे॒वाना॑म्। चक्षुः॑। सु॒ऽभगा॑। वह॑न्ती। श्वे॒तम्। नय॑न्ती। सु॒ऽदृशी॑कम्। अश्व॑म्। उ॒षा। अ॒द॒र्शि॒। र॒श्मिऽभिः॑। विऽअ॑क्ता। चि॒त्रऽम॑घा। विश्व॑म्। अनु॑। प्रऽभू॑ता।।३।।

सायणभाष्य– देवानां चक्षुः चक्षुःस्थानीयं तेजः वहन्ती धारयन्ती सुभगा शोभनधना सुदृशीकं सुदर्शनम् अश्वं सर्वदा गन्तारमादित्यं नयन्ती प्रापयन्ती। श्वेतं श्वेतवर्णोपेतं सूर्यम्। प्रकाशयुक्तं कुर्वतीत्यर्थः। कीदृश्युषा। रश्मिभिः स्कीयैः व्यक्ता अदर्शि दृश्यते च। चित्रामघा विश्वमनु सर्वजगदनुलक्ष्य प्रभूता प्रबुद्धा। सर्वजगद्व्यवहारायेत्यर्थः।।

अन्वय– देवानां चक्षुः वहन्ती सुदृशीकम् श्वेतम् अश्वम् नयन्ती सुभगा चित्रामघा उषा रश्मिभिः विश्वम् अनु प्रभूता अदर्शि।

शब्दार्थ– देवानां चक्षुः = देवताओं के नेत्र (सूर्य) को। **वहन्ती** = लाती हुई। **सुदृशीकम्** = सुन्दर। **श्वेतम्** = श्वेत; शुभ्र रंग के। **अश्वम्** = अश्व (सूर्य) को। **नयन्ती** = ले जाती हुई; नेतृत्व करती हुई। **सुभगा** = सुन्दरी, सौभाग्यवती। **चित्रामघा** = विचित्र (अद्भुत) धन (मघ) वाली। **उषाः** = उषा। **रश्मिभिः व्यक्ता** = किरणों से अभिव्यक्त (प्रकाशित) होकर। **विश्वम् अनुप्रभूता अर्दिश** = सम्पूर्ण (जगत्) को व्याप्त करके (अर्थात् सर्वव्यापक होकर) दिखलाई पड़ रही है।

अनुवाद– देवताओं के नेत्र (सूर्य) को लाती हुई, सुन्दर एवं श्वेत अश्व (सूर्य) को (अपने पीछे) ले जाती हुई सुन्दरी (सौभाग्यवती) तथा विचित्र धन वाली उषा (अपनी) किरणों से अभिव्यक्त (प्रकाशित) होकर, सम्पूर्ण (जगत्) को व्याप्त करके (अर्थात् सर्वव्यापक रूप में) दिखलाई पड़ रही है।

व्याकरण– वहन्ती - ✓वह् (ले जाना) + शतृ + ङीप्। **नयन्ती** - ✓नी (ले जाना) + शतृ + ङीप्। **सुभगा** - शोभनं भगं यस्याः सा, बहु.। **चित्रामघा** - चित्रं मघं यस्याः सा (बहु.)। **व्यक्ता** - वि + ✓अञ्च् + क्त + टाप्। **प्रभूता** - प्र + ✓ भू+ क्त + टाप्। **अदर्शि** - ✓दृश् + लुङ् + प्र. पु., एक. कर्मवाच्य।

अन्ति॑वामा दू॒रे अ॒मित्र॑मुच्छो॒र्वीं गव्यू॑ति॒मभ॑यं कृधी नः।
या॒वय॒ द्वेष॒ आ भ॑रा॒ वसू॑नि चो॒दय॒ राधो॑ गृण॒ते म॑घोनि।।४।।

पदपाठ– अन्ति॑ऽवामा। दू॒रे। अ॒मित्र॑म्। उ॒च्छ॒। उ॒र्वीम्। गव्यू॑तिम्। अभ॑यम्। कृ॒धि॒। न॒ः। या॒वय॑। द्वेषः॑। आ। भ॒र॒। वसू॑नि। चो॒दय॑। राधः॑। गृ॒ण॒ते। म॒घो॒नि॒।।४।।

सायणभाष्य– हे उषः अन्तिवामा। अन्ति अस्मदन्तिके वामं वननीयं धनं यस्याः सा अन्तिवामा। त्वम् अमित्रम् अस्मच्छत्रुं दूरे अस्मत्तो विप्रकृष्टदेशे वर्तमानं कृत्वा व्युच्छ विभाहि। यथामित्रं दूरे भवति तथा व्युच्छेत्यर्थः। तथा उर्वी गव्यूर्तिं भूमिम् अभयं नः अस्माकं कृधि कुरु। किंच द्वेषः अस्मद्द्वेष्टॄन् यावय अस्मत्तः पृथक् कुरु। वसूनि शत्रूणां धनानि आ भर आहर। राधः धनं चोदय प्रेरय गृणते स्तुवते मह्यं हे मघोनि धनवति।।

अन्वय– अन्तिवामा! अमित्रं दूरे उच्छ, नः उर्वीं गव्यूतिम् अभयं कृधि, द्वेषः यावय, वसूनि आ भर, मघोनि! गृणते राधः चोदय।

शब्दार्थ– अन्तिवामा = (हमारे) समीप में धनों को रखने वाली! **अमित्रं दूरे उच्छ** = शत्रु को दूर (भगाकर) चमको। **नः** = हमको, हमारे लिए। **उर्वीं गव्यूतिम्** = विस्तृत भूमि (चरागाह)। **अभयं** = अभय। **कृधि** = करो। **द्वेषः** = द्वेष करने वाले शत्रुओं को। **यावय** = पृथक् करो। **वसूनि आ भर** = (उन शत्रुओं के) धनों को (हमारे लिए) ले आओ। **मघौनि** = हे धनवती! **गृणते** = स्तोता (स्तुति करने वाले) के लिए। **राधः** = धन। **चोदय** = प्रेरित करो, भेजो।

अनुवाद– हे धन को (हमारे) समीप में रखने वाली (उषा)! शत्रु को दूर (भगाकर) चमको (अपने प्रकाश से शत्रु को दूर भगा दो, ऐसी चमको कि शत्रु भाग जायँ)। (हमारे लिए) विस्तृत भूमि (या चरागाह) और अभय प्रदान करो। द्वेष करने वाले शत्रुओं को (हमसे) पृथक् (अर्थात् दूर) कर दो तथा (उन शत्रुओं के) धनों को (हमारे लिए) ले आओ। हे धनवती! स्तोता (स्तुति करने वाले) के लिए धन भेजो।

व्याकरण– अन्तिवामा - अन्ति अन्तिके वामं यस्याः सा (बहु.) **उच्छ** - ✓वस् (अथवा उच्छ् - सायण) चमकना, +लोट्, म. पु., एक. **कृधि** - कुरु का छान्दस् रूप; ✓कृ + लोट् म. पु. एक.। **द्वेषः** - द्वितीया बहुवचन में द्विषः के स्थान पर छान्दस् रूप द्वेषः प्रयुक्त हुआ है। **यावय** - ✓ यु (पृथक् करना) + णिच् + लोट्, म. पु., एक.। **भर** - ✓भृ + लोट्, म. पु. एकव. **गृणते** - ✓गृ + शतृ, चतुर्थी, एक.।

अस्मे श्रेष्ठेभिर्भानुभिर्वि भाह्युषो देवि प्रतिरन्ती न आयुः।
इषं च नो दधती विश्ववारे गोमदश्वावद्रथवच्च राधः।।५।।

पदपाठ– अस्मे इति। श्रेष्ठेभिः। भानुऽभिः। वि। भाहि। उषः। देवि। प्रऽतिरन्ती। नः। आयुः।। इषम्। च। नः। दधती। विश्वऽवारे। गोऽमत्। अश्वऽवत्। रथऽवत्। च। राधः।।५।।

सायणभाष्य– हे उषो देवि अस्मे अस्मभ्यं श्रेष्ठेभिः प्रशम्यैः भानुभिरश्मिभिः प्रकाशैः विभाहि प्रकाशय। किं कुर्वती नः अस्माकम् आयुः आयुष्यं प्रतिरन्तीवर्धयन्ती। हे विश्ववारे विश्वैः सम्भजनीये देवि नः अस्मभ्यम् इषम् अन्नं गोमत् गोभिर्बहुभिरुपेतम् अश्वावत् अश्वैरुपेतं रथवत् रथैरुपेतं राधः धनं दधती विभाहीति।

अन्वय– विश्ववारे उषः देवि! नः आयुः प्रतिरन्ती च नः इषं गोमत् अश्ववत् रथवत् च राधः दधती अस्मे श्रेष्ठेभिः भानुभिः विभाहि।

शब्दार्थ– विश्ववारे उषो देवि = हे सभी के द्वारा स्पृहणीय (चाही गयी) उषा देवि! **नः आयुः प्रतिरन्ती** = हमारी आयु को बढ़ाती हुई। **च** = और। **इषं गोमत् अश्ववत् रथवत् च राधः दधती** = हमारे लिए अन्न को तथा गायों, अश्वों और रथों से युक्त धन को प्रदान करती हुई। **अस्मे** = हमारे लिए। **श्रेष्ठेभिः भानुभिः** = श्रेष्ठ किरणों से। **विभाहि** = प्रकाशित हो जाओ, चमको।

अनुवाद– हे सभी के द्वारा स्पृहणीय (चाही गयी) उषा देवि! हमारी आयु को बढ़ाती हुई और हमारे लिए अन्न को तथा गायों, अश्वों और रथों से युक्त धन को प्रदान (धारण) करती हुई तुम हमारे लिए (अपनी) श्रेष्ठ किरणों से प्रकाशित हो जाओ (चमको)।

व्याकरण– प्रतिरन्ती - प्र ✓ तृ शतृ ङीप्। **दधती** - ✓ धा शतृ ङीप्। **श्रेष्ठेभिः** - श्रेष्ठ शब्द का तृ. बहु. व.; **श्रेष्ठेभिः** = श्रेष्ठैः (लौकिक संस्कृत)। वेद में कभी-कभी 'बहुलं छन्दसि' सूत्र से भिस् (भिः) को ऐस् (ऐः) आदेश का अभाव हो जाता है। **विभाहि** - वि ✓ भा लोट्, म. पु., एकवचन।

यां त्वा दिवो दुहितर्वर्धयन्त्युषः सुजाते मतिभिर्वसिष्ठाः।
सास्मासु धा रयिमृष्वं बृहन्तं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।।६।।

पदपाठ– याम्। त्वा। दिवः। दुहितः। वर्धयन्ति। उषः। सुऽजाते। मतिऽभिः। वसिष्ठाः। सा। अस्मासु। धाः। रयिम्। ऋष्वम्। बृहन्तम्। यूयम्। पात। स्वस्तिऽभिः। सदा। नः।।६।।

सायणभाष्य– हे दिवो दुहितः उषः सुजाते शोभन जनने यां त्वां मतिभिः स्तोत्रैः वसिष्ठाः वर्धयन्ति सा त्वम् अस्मासु वसिष्ठेषु ऋष्वं प्रदीप्तं बृहन्तं महान्तं रयिं धनं धाः देहि।

अन्वय– दिवो दुहितां सुजाते उषः! यां त्वां वसिष्ठाः मतिभिः वर्धयन्ति सा अस्मासु ऋष्वं बृहन्तं रयिं धाः, यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात।

शब्दार्थ– दिवो दुहितः = हे द्युलोक की पुत्रि! **सुजाते उषः** = हे सुन्दर जन्म वाली (उत्तम कुल में उत्पन्न) उषा। **यां त्वा** = जिस तुमको। **वसिष्ठाः** = वसिष्ठ के वंशज, वसिष्ठ कुल के ऋषि। **मतिभिःवर्धयन्ति** = स्तुतियों से बढ़ाते हैं। **सा** = वह तुम। **अस्मासु ऋष्वं बृहन्तं रयिं धाः** = हममें उत्तम और महान् धन रखो, हमें उत्तम और महान् धन प्रदान करो। **यूयम्** = तुम लोग। **स्वस्तिभिः सदा नः पात** = (अपने) कल्याणों (आशीर्वादों) से हमारी रक्षा करो।

अनुवाद– हे द्युलोक की पुत्री, सुन्दर जन्म वाली उषा! जिस तुमको वसिष्ठ के वंशज (अपनी) स्तुतियों से बढ़ाते हैं, वह तुम हममें उत्तम और महान् धन रखो। (हे देवताओं) तुम (अपने) कल्याणों (आशीर्वादों) से हमारी सदैव रक्षा करो।

व्याकरण– धाः - ✓धा का छान्दस् रूप। **पात** - ✓पा + लोट् +म. पु., बहु.।

वरुणसूक्तम् (ऋग्वेद ७/८६)

देवता - वरुण छन्द - त्रिष्टुप् ऋषि - वसिष्ठ

धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी।
प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम।।१।।

पदपाठ– धीरा। तु। अस्य। महिना। जनूंषि। वि। यः। तस्तम्भ। रोदसी इति। चित्। उर्वी इति।। प्र। नाकम्। ऋष्वम्। नुनुदे। बृहन्तम्। द्विता। नक्षत्रम्। पप्रथत्। च। भूम।।१।।

सायणभाष्य– 'धीरा त्वस्य' इत्यष्टर्चं षोडशं सूक्तं वसिष्ठस्यार्षं त्रैष्टुभं वरुणदेवत्यम्। ....। अस्य वरुणस्य जनूंषि जन्मानि महिना महिम्ना तु क्षिप्रं धीरा धीराणि धैर्यवन्ति भवन्ति। यः वरुणः उर्वी विस्तीर्णे रोदसी चित् द्यावापृथिव्यावपि वि तस्तम्भ विविधं स्तब्धे स्वकीये स्थाने स्थिते अकरोत्। यश्च बृहन्तं महान्तं नाकम् आदित्यं नक्षत्रं च ऋष्वं दर्शनीयं द्विता द्वैधं प्र नुनुदे प्रेरयति स्म। अहनि सूर्यं दर्शनीयं प्रेरयति रात्रौ नक्षत्रं तथेति द्विप्रकारः। भूम भूमिं च यः पप्रथत् अप्रथयत् विस्तारितवान्। तस्यास्य वरुणस्येत्यन्वयः।।१।।

अन्वय– अस्य जनूंषि तु महिना धीरा यः उर्वी रोदसी चित् तस्तम्भ। ऋष्वं बृहन्तं नाकं नक्षत्रं द्विता नुनुदे, भूम च पप्रथत्।।

शब्दार्थ– अस्य = इस (वरुण) का। **जनूंषि** = जन्म। **तु** = वस्तुतः **महिना** = महानता के कारण, महिमा के कारण। **धीरा** = धैर्यवान्, स्थिर। **यः** = जिसने। **उर्वी** = विस्तृत। **रोदसी** = द्युलोक एवं पृथिवी लोक को। **चित्** = भी। **वि तस्तम्भ** = विविध रूप से स्थिर किया है। **ऋष्वम्** = दर्शनीय। **बृहन्तम्** = महान्, विशाल। **नाकम्** = आदित्य को। **नक्षत्रम्** = नक्षत्रों को। **द्विता** = दो प्रकार से। **प्र नुनुदे** = प्रेरित किया है। **भूम** = पृथिवी को। **च** = और। **पप्रथत्** = विस्तृत किया है।

अनुवाद– इस (वरुण) का जन्म वस्तुतः (इसकी) महानता के कारण स्थिर है (अर्थात् वरुण अविनाशी है) जिसने विस्तृत द्युलोक एवं पृथिवी लोक को भी विविध रूप से (अपने-अपने स्थान पर) स्थिर किया है। (जिसने) दर्शनीय एवं महान् आदित्य (सूर्य) को (तथा) नक्षत्रों को दो प्रकार से प्रेरित किया है (अर्थात् दिन में सूर्य को तथा रात्रि में नक्षत्रों को प्रकाश वितरित करने के लिए प्रेरित किया है), पृथिवी को और विस्तृत किया है।

व्याकरण– धीरा = धीराणि का वैदिक रूप 'सुपां' सुलुक् ... पा. सू. (७/१/३९) से 'णि' लोप। **महिना** = महिमन् शब्द के तृ.ए.व. का वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में महिम्ना

बनता है। **जनूंषि** = ✓ जन् धातु + उ प्रत्यय = जनू + प्र.ब.व.। **तस्तम्भ** = ✓ स्तम्भ् + लिट् + प्र.पु.ए.व। **नुनुदे** = ✓ नुद् + लिट् + प्र.पु.ए.व.। **बृहन्तम्** = ✓ बृह् + शतृ + द्वि. ए. व.। **पप्रथत्** = ✓ प्रथ् + लिट् प्र.पु.ए.व.।

उत स्वया तन्वा३ संवदेतत्कदा न्व १ न्तर्वरुणे भुवानि।
किं में हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्।।२।।

पदपाठ– उत। स्वया। तन्वा। सम्। वदे। तत्। कदा। नु। अन्तः। वरुणे। भुवानि।। किम्। मे। हव्यम्। अहृणानः। जुषेत। कदा। मृळीकम्। सुऽमनाः। अभि। ख्यम्।। २।।

सायण-भाष्य– वरुणं शीघ्रं दिदृक्षमाण ऋषिरनया वितर्कयति उतेति विचिकित्सायाम्। उत किं स्वया तन्वा आहोस्वित् तत् तेन वरुणेन सह संवदे। कदा नु कदा खलु वरुणे देवे अन्तः भुवानि अन्तर्भूतो भवानि। वरुणस्य चित्तसंलग्नो भवानीत्यर्थः। अपि च मे मदीयं हव्यं स्तोत्रं हविर्वा अहृणानः अक्रुध्यन् वरुणः किं केन हेतुना जुषेत सेवेत। सुमनाः शोभनमनस्कः सन्नहं कदा कस्मिन् काले मृळीकं सुखयितारं वरुणम् अभिख्यम् अभिपश्येयम्।। २।।

अन्वय– उत स्वया तन्वा तत् संवदे। वरुणे अन्तः कदा भुवानि। किम् अहृणानः मे हव्यं जुषेत। सुमनाः कदा मृळीकम् अभिख्यम्।। २।।

शब्दार्थ– उत = क्या। **स्वया** = अपने। **तन्वा** = शरीर के द्वारा। **तत्** = उससे। **संवदे** = वार्तालाप करूँगा। **वरुणे** = वरुण के। **अन्तः** = हृदय में, अन्तः करण में। **कदा** = कब। **भुवानि** = होऊँगा। **किम्** = क्या। **अहृणानः** = क्रोधरहित होता हुआ। **मे** = मेरी। **हव्यम्** = हविष्य को, प्रार्थना को। **जुषेत** = सेवन करेगा, स्वीकार करेगा। **सुमनाः** = सुन्दर मन वाला, प्रसन्नचित्त। **कदा** = कब। **मृळीकम्** = दयालु को, सुख प्रदान करने वाले को। **अभिख्यम्** = समक्ष देखूँगा, दर्शन करूँगा।

अनुवाद– क्या (मैं) अपने शरीर के द्वारा उस (वरुण) से वार्तालाप करूँगा? (मैं) वरुण के अन्तःकरण में कब होऊँगा? क्या क्रोध-रहित होता हुआ (वह वरुण) मेरी प्रार्थना को स्वीकार करेगा? प्रसन्नचित्त (होकर मैं) कब सुख प्रदान करने वाले (वरुण) का दर्शन करूँगा?

व्याकरण– स्वया = 'स्व' शब्द के तृ.ए. का वैदिक रूप। **तन्वा** = तनु शब्द के तृ.ए. का वैदिक रूप। **संवदे** = सम् उपसर्ग + ✓ वद् + लट् + उ.पु.ए.व. वैदिकरूप। **भुवानि** = ✓ भू + लेट् लकार + उ.पु.एक.ब. यह लकार केवल वेद में ही प्राप्त है। **अहृणानः** = नञ् (अ) ✓ हृ + शानच् + प्र.ए.व.। **जुषेत** = ✓ जुष् + विधिलिङ् + प्र.पु.ए.व. (आ.प.)। **मृळीकम्** = ✓ मृड् + ईकन् प्रत्यय + द्वि.ए.व.। जब दो स्वरों के मध्य में 'डकार' वर्ण आता है तो वह ळकार के रूप में परिवर्तित हो जाता है। **सुमनाः** = सु + मनाः, शोभनमनस्कः (सायण)। **अभिख्यम्** = अभि + ✓ ख्या + लुङ् + उ.पु.ए.व.।

पृच्छे तदेनों वरुण दिदृक्षूपों एमि चिकितुषों विपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते।। ३।।

पदपाठ– पृच्छे। तत्। एनः। वरुण। दिदृक्षुः। उपो इति। एमि। चिकितुषः। विऽपृच्छम्।। समानम्। इत्। मे। कवयः। चित्। आहुः। अयम्। ह। तुभ्यम्। वरुणः। हृणीते।। ३।।

सायणभाष्य– हे वरुण तदेनः पापं पृच्छे त्वां पृच्छामि। दिदृक्षुः। छान्दसः सुलोपः। द्रष्टुमिच्छन्नहम्। येन पापेन हेतुना त्वदीयैः पाशैर्बद्धोऽस्मि पृष्टः सन् तत्पापं कथय। अहं विपृच्छं विविधं प्रष्टुम्। चिकितुषो विदुषो नो जनाश्च। मे मह्यम्। समानमित् समानमेवैकरूपमेवाहुः अकथयन्। यदाहुस्तदाह- हे स्तोतः। तुभ्यं अयं ह अयमेव वरुणो हृणीते क्रुध्यति। अतः क्रोधं परित्यज्यास्मान् पाशेभ्यो मोचय।। ३।।

अन्वय– वरुण! दिदृक्षुः तत् एनः पृच्छे। विपृच्छं चिकितुषः उपो एमि। कवयः चित् मे समानम् आहुः। अयं वरुणः ह तुभ्यं हृणीते।।

शब्दार्थ– वरुण = हे वरुण। **दिदृक्षुः** = देखने की इच्छा वाला। **तत्** = उस। **एनः** = पाप को। **पृच्छे** = पूछता हूँ। **विपृच्छम्** = विविध रूप से पूछने के लिए। **चिकितुषः** = विद्वानों के। **उपो** = समीप में। **एमि** = जाता हूँ। **कवयः** = बुद्धिमानों ने, विद्वान् लोगों ने। **चित्** = भी। **मे** = मुझसे, मुझे। **समानम्** = एक जैसा। **इत्** = ही। **आहुः** = कहा। **अयम्** = यह। **वरुणः** = वरुण। **ह** = ही। **तुभ्यम्** = तुम्हारे ऊपर, तुम्हारे लिए। **हृणीते** = क्रोध करता है।

अनुवाद– हे वरुण! देखने की इच्छा वाला (मैं) उस पाप को (तुमसे) पूछता हूँ। विविध रूप से पूछने के लिए (मैं) विद्वानों के समीप में जाता हूँ। बुद्धिमान् लोगों ने भी मुझसे एक जैसा ही कहा (उत्तर दिया) (कि) यह वरुण ही तुम्हारे लिए क्रोध करता है।

व्याकरण– दिदृक्षुः = ✓ दृश् + सन् प्रत्यय, प्र.ए.। **पृच्छे** = ✓ प्रच्छ् + लट् + उ.पु.ए.व. (आत्मने पद) वैदिक रूप। **विपृच्छम्** = वि उपसर्ग + ✓ प्रच्छ् + अम् प्रत्यय तुमुन् के अर्थ में। **चिकितुषः** = ✓ चित् या ✓ कित् + क्वसु प्रत्यय + द्वि.व.व.। **एमि** = ✓ इ + लट् + उ.पु.ए.व.। **उपो एमि** = इस स्थल पर 'एचोऽयवायावः' (पा.सू. ६।१।७८) से सन्धि कार्य प्राप्त होने पर भी नहीं हुआ क्योंकि ओकार प्रगृह्य संज्ञक स्वर है अतः प्रकृतिभाव हो गया है। **आहुः** = ✓ ब्रू (आह) लट् अथवा लिट् + प्र.पु.ब.व.। **हृणीते** = ✓ हृ + लट् + प्र.पु. ए.व. (आ.प.)।

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर ईयाम।। ४।।

पदपाठ– किम्। आगः। आस। वरुण। ज्येष्ठम्। यत्। स्तोतारम्। जिघांससि। सखायम्।। प्र। तत्। मे। वोचः। दुःदुभ। स्वधाऽवः। अव। त्वा। अनेना। नमसा। तुरः। इयाम।। ४।।

सायणभाष्य– हे वरुण ज्येष्ठम् अधिकं किमाग आस कोऽपराधो मया कृतो बभूव। यत् येन आगसा सखायं मित्रभूतं सन्तं स्तोतारं जिघांससि हन्तुम् इच्छसि। हे दूळभ दुर्दभान्यैर्बाधितुम- शक्यस्वधावः तेजस्विन् हे वरुण तत् आगः मे महयं प्र वोचः प्रब्रूहि। एवं सति तस्य प्रायश्चित्तं कृत्वा अनेनाः अपापः सन्नहं तुरः त्वरमाणः शीघ्रः नमसा नमस्कारेण हविषा वा त्वाम् अव इयाम उपगच्छेयम्।। ४।।

अन्वय– वरुण! किं ज्येष्ठम् आगः आस यत् स्तोतारं सखायं जिघांससि। दूळभ स्वधावः तत् मे प्रवोचः अनेनाः तुरः नमसा त्वा इयाम्।। ४।।

शब्दार्थ– वरुण = हे वरुण। **किम्** = कौन सा, क्या। **ज्येष्ठम्** = महान्, बड़ा। **आगः** = अपराध, पाप। **आस** = था। **यत्** = जिसके कारण। **स्तोतारम्** = स्तुति करने वाले। **सखायम्** = मित्र को। **जिघांससि** = मारने की इच्छा करते हो। **दूळभ** = हे दुर्दमनीय, हे कभी न सताये जाने वाले। **स्वधावः** = शक्तिशाली। **तत्** = उसे। **मे** = मुझसे, मुझको। **प्रवोचः** = भलीभाँति कहो, ठीक-ठीक बतलाओ। **अनेनाः** = पापरहित होकर। **तुरः** = शीघ्र। **नमसा** = नमस्कार के द्वारा, हविष् के साथ। **त्वा** = तुम्हारे पास। **इयाम** = पहुँच जाऊँ।

अनुवाद– हे वरुण (वह) कौन सा महान् अपराध था, जिसके कारण स्तुति करने वाले मित्र को (मुझको) मारने की इच्छा करते हो। हे कभी न सताये जाने वाले (एवं) शक्तिशाली (वरुण) उसे मुझसे भली-भाँति कहो (जिससे) पापरहित होकर (मैं) शीघ्र हविष् के साथ (अथवा प्रार्थना के साथ) तुम्हारे पास पहुँच जाऊँ।

व्याकरण– ज्येष्ठम् = प्रशस्य + इष्ठन् प्रत्यय द्वि.ए.व. 'ज्य च' (पा.सू. ५।३।६१) से प्रशस्य शब्द को 'ज्य' आदेश होकर ज्य + इष्ठन्-ज्येष्ठम् रूप बनता है। **आस** = ✓ अस् + लिट् + प्र.पु.ए.व.। **स्तोतारम्** = ✓ स्तु + तृच् प्रत्यय + द्वि.ए.व. **जिघांससि** = ✓ हन् + सन् प्रत्यय + लट् + म.पु.ए.व.। **दूळभ** = दुर् + ✓ दभ् + खल् प्रत्यय सम्बोधन ए.व.। दो स्वरों के मध्य आने वाला डकार ळकार में परिवर्तित हो जाता है। **स्वधावः** = स्वधा + वतुप् प्रत्यय सम्बोधन ए.व. **प्र वोचः** = प्र + ✓ वच् + लुङ् + म.पु.ए.व. वैदिक रूप। **इयाम** = ✓ इ + विधिलिङ् उ.पु.ए.।

अव॑ द्रु॒ग्धानि॒ पित्र्या॑ सृजा॒ नोऽव॒ या व॒यं च॑कृ॒मा त॒नूभिः॑।
अव॑ राजन्पशु॒तृपं॒ न ता॒युं सृ॒जा व॒त्सं न दाम्नो॒ वसि॑ष्ठम्।।५।।

प्रदपाठ– अव॑। द्रु॒ग्धानि॑। पित्र्या॑। सृ॒ज॒। नः॒। अव॑। या। व॒यम्। च॒कृ॒म। त॒नूभिः॑। अव॑। रा॒ज॒न्। प॒शु॒ऽतृप॑म्। न। ता॒युम्। सृ॒ज। व॒त्सम्। न। दाम्नः॑। वसि॑ष्ठम्।। ५।।

सायणभाष्य– हे वरुण! पित्र्या पितृतः प्राप्तानि नः अस्मदीयानि द्रुग्धानि द्रोहान् बन्धनहेतुभूतान् अव सृज विमुञ्च। अस्मत्तो विश्लेषय। वयं च या यानि द्रोहजातानि तनूभिः शरीरैः चकृम कृतवन्तः स्म तानि च अव सृज। हे राजन् राजमान वरुण पशुतृपं न तायुं स्तैन्यप्रायश्चित्तं कृत्वावसाने घासादिभिः पशूनां तर्पयितारं स्तेनमिव दाम्नः रजोः वत्सं न वत्समिव च वसिष्ठं मां बन्धकात् पापात् अव सृज विमुञ्च।। ५।।

अन्वय– (हे वरुण)! नः पित्र्या सृजा द्रुग्धानि अव सृज। वयं च तनूभिः या चकृमा (तानि अव सृज)। हे राजन्! पशुतृपं तायुं न, दाम्नः वत्सं न वसिष्ठं (अवसृज)।

शब्दार्थ– हे वरुण = हे वरुण देव। **नः** = हमारे। **पित्र्या** = पिता द्वारा (प्राप्त कराये गये)। **द्रुग्धानि** = बन्धनों को, पापों को। **अव सृज** = छोड़ दो, विनष्ट कर दो, अलग कर दो, मुक्त कर दो। **वयम्** = हमलोग। **तनूभिः** = (अपने) शरीरों से, अंगों से। **या** = जिन पापों को। **चकृमा** = किया है। **राजन्** = हे राजन् वरुण। **पशुतृपं** = पशुओं को तृप्त करने वाले। **तायुम्**

= चोर के। **न** = समान। **दाम्नः** = बन्धन से। **वसिष्ठम्** = मुझ वशिष्ठ को। **अवसृज** = मुक्त कर दो, छोड़ दो।

अनुवाद– हे वरुण देव! हमारे पिता द्वारा प्राप्त कराये गये पापों को (बन्धनों को) हमसे अलग कर दो तथा हम लोगों ने अपने शरीरों से जिन पापों को किया है (उनसे भी हमको मुक्त कर दो)। हे राजन् (वरुण देव)! पशुओं को (उनके दूध को दुहकर प्रायश्चित्त स्वरूप घासादि खिला कर) तृप्त करने वाले। चोर के समान मुझ वसिष्ठ को (पाप के) बन्धन से मुक्त कर दो।

व्याकरण– पित्र्या = पितृ शब्द के तृ. एक वचन का वैदिक रूप, कुछ लोग पञ्चमी का रूप भी स्वीकार करते हैं। **द्रुग्धानि** = द्रुग्ध शब्द के द्वितीया बहु. का रूप। **अवसृज** = ✓ सृज् लोट् लकार म.पु. एकवचन। **तनूभिः** = तनु शब्द का तृ. बहुवचन। **चकृम** = ✓ कृ लेट् लकार अथवा लुङ् लकार उ.पु. बहुवचन छान्दस् दीर्घता। **दाम्नः** = दामन् शब्द के पञ्चमी एकवचन का रूप।

न स स्वो दक्षो॑ वरुण॒ ध्रुति॒ः सा सुरा॑ म॒न्युर्वि॒भीद॑को अचि॒त्तिः।
अस्ति॒ ज्याया॒न् कनी॑यस उपा॒रे स्वप्न॑श्चनेदनृ॑तस्य प्रयोता।। ६।।

पदपाठ– न। सः। स्वः। दक्षः। व॒रु॒ण॒। ध्रुतिः। सा। सुरा॑। म॒न्युः। वि॒ऽभीदकः। अ॒चित्तिः।। अस्ति॑। ज्याया॑न्। कनी॑यसः। उ॒प॒ऽअ॒रे। स्वप्नः। च॒न। इत्। अनृ॑तस्य। प्र॒ऽयो॒ता।। ६।।

सायणभाष्य– हे वरुण सः स्वो दक्षः पुरुषस्य स्वभूतं तद्बलं पापप्रवृत्तौ कारणं न भवति। किं तर्हि ध्रुतिः स्थिरा उत्पत्ति समय एव निर्मिता दैवगतिः कारणम्। 'ध्रुगतिस्थैर्ययोः' इति धातुः सा च ध्रुतिर्वक्ष्यमाणरूपा। सुरा प्रमादकारिणी मन्युः क्रोधश्च गुर्वादिविषयः सन्ननर्थहेतुः विभीदकः द्यूतसाधनोऽक्षः। स च द्यूतेषु पुरुषं प्रेरयन्ननर्थहेतुर्भवति। अचित्तिः अज्ञानमविवेक कारणम्। अतः ईदृशीदैवक्लृप्तिरेव पुरुषस्य पाप-प्रवृत्तौ कारणम्। अपि कनीयसः अल्पस्य हीनस्य पुरुषस्य पापप्रवृत्तौ उपार उपागते समीपे नियन्तृत्वेन स्थितः ज्यायान् अधिक ईश्वरः अस्ति। स एव तं पापे प्रवर्तयति। तथा चाम्नातम्– 'एष ह्येवासाधुकर्म कारयति तं यमधो निनीषे' (को.उ.३.८) इति। एवं च सति स्वप्नश्चन स्वप्नोऽपि अनृतस्य पापस्य प्रयोता प्रकर्षेण मिश्रयिता भवति। इत् इति पूरकः। स्वप्ने कृतैरपि कर्मभिः बहूनि पापानि जायन्ते किमु वक्तव्यं जाग्रति कृतैः कर्मभिः पापान्युत्पद्यन्त इति। अतो ममापराधो दैवागत इति हे वरुण त्वया क्षन्तव्य इति भावः।

अन्वय– (हे) वरुण सः स्वः दक्षः न, सा ध्रुतिः सुरा मन्युः विभीदकः अचित्तिः कनीयसः उपारे ज्यायान् अस्ति। स्वप्नः चन इत् अनृतस्य प्रयोता।

शब्दार्थ– वरुण = हे वरुण (देव)। **सः** = वह। **स्वः** = अपनी। **दक्षः** = शक्ति। **न** = नहीं। **सा** = वह। **ध्रुतिः** = दैवगति, संयोग। **सुराः** = मदिरा। **मन्युः** = क्रोध। **विभीदकः** = जुए का पासा। **अचित्तिः** = अज्ञान, अविवेक। **कनीयसः** = निम्नस्तरीय लोगों के, अल्पशक्तिशालियों के। **उपारे** = पापकर्म के समीप जाने के लिए, पापकर्म करने के लिए। **ज्यायान्** = बड़े लोग, बड़ा व्यक्ति। **अस्ति** = है। **स्वप्न** = स्वप्न। **चन** = भी। **इत्** = पादपूर्ति के लिए निपात। **अनृतस्य** = बुराई का, पाप का, असत्कार्य का। **प्रयोता** = प्रवृत्त कराने वाला, प्रेरक।

अनुवाद– हे वरुण (देव) वह अपनी शक्ति नहीं (है), वह दैवगति, मदिरा, क्रोध, जुए का पासा (एवम्) अज्ञान (है, जिनसे प्रेरित होकर मनुष्य पापकर्म करता है।) निम्नस्तरीय व्यक्ति के द्वारा पापकर्म करने के लिए (कारण तो) बड़े लोग (ही) हैं। स्वप्न (महत्त्वाकांक्षा) भी बुराई का प्रेरक है।

व्याकरण– ध्रुतिः = ✓ध्रु + क्तिन् प्रत्यय प्र.ए.व.। **कनीयसः** = अल्प (कन्) + ईयसुन् प्रत्यय + प्र.ए.व.। **अचित्तिः** = नञ् (अ) + चित् + क्तिन् प्रत्यय प्र.ए.व.। **उपारे** = उप + ✓ऋ (गतौ) + सप्तमी ए.व.। **प्रयोता** = प्र. + ✓यु. + तृच् + प्र.ए.व.।

अरं' दासो न मीळहुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति।।७।।

पदपाठ– अरम्। दासः। नः। मीळहुषे। कराणि। अहम्। देवाय। भूर्णये। अनागाः।। अचेतयत्। अचितः। देवः। अर्यः। गृत्सम्। राये। कविऽ तरः। जुनाति।।६।।

सायण-भाष्य– मीळ्हुषे सेक्त्रे कामानां वर्षित्रे भूर्णये जगतो भर्त्रे देवाय दानादिगुणयुक्ताय वरुणाय अनागाः तत्प्रसादादपापः सन् अहम् अरम् अलं पर्याप्तं कराणि परिचरणं करवाणि। दासो न यथा भृत्यः स्वामिने सम्यक् परिचरति तद्वत्। अर्यः स्वामी स च देवः अचितः अजानतोऽस्मान् अचेतयत् चेतयतु प्रज्ञापयतु। गृत्सं स्तोतारं च कवित प्राज्ञतरो देवरः राये धनाय धनप्राप्त्यर्थं जुनाति जुनातु प्रेरयतु।।

अन्वय– भूर्णये मीळ्हुषे देवाय अनागाः अहं दासं न अरं कराणि। अर्यः देवः अचितः अचेतयत्ः। कवितरः गृत्सम् राये जुनाति।

शब्दार्थ– भूर्णये = भरण-पोषण करने वाले। **मीळहुषे** = इच्छाओं की पूर्ति करने वाले। **देवाय** = देव के लिए। **अनागाः** = पापरहित। **अहम्** = मैं। **दासम् न** = सेवक के समान। **अरम्** = पर्याप्त। **कराणि** = करूँ। **अर्यः** = स्वामी, श्रेष्ठ। **देवः** = देव। **अचितः** = अज्ञानियों के विवेकहीन लोगों को। **अचेतयत्** = ज्ञान प्राप्त करादे, ज्ञान प्रदान कर दे। **कवितरः** = अत्यधिक ज्ञानी। **गृत्सम्** = स्तुति करने वाले को। **राये** = धन के लिए। **जुनाति** = प्रेरित करें, प्रेरित करता है।

अनुवाद– (जगत् का) भरण-पोषण करने वाले, इच्छाओं की पूर्ति करने वाले (वरुण) देव के लिए (की) पाप रहित (होता हुआ) मैं सेवक के समान पर्याप्त (सेवा) करूँ। (जगत् का) स्वामी (वरुण) देव अज्ञानियों को ज्ञान प्राप्त करा दे। अत्यधिक ज्ञानी (वरुण देव) स्तुति करने वाले को धन के लिए प्रेरित करें।

व्याकरण– मीळहुषे = ✓मिह् + क्वसु = मीळ्ह्वांस् + च.ए.व.। दो स्वरों के मध्य में ढ़कार ळ्हकार में बदल जात है। **कराणि** = कृ + लुङ्लकार उ.पु.एव.। **भूर्णये** = भूर्णि + च.ए.व.। **अचेतयत्** = ✓चित् (संज्ञाने) + णिच् + लङ् प्र.पु.ए.व.। **जुनाति** = ✓जु + लट् + प्र.पु.ए.व.।

अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु।
शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।।८।।

पदपाठ– अ॒यम्। सु। तु॒भ्य॑म्। व॒रु॒ण॒। स्व॒धा॒ऽव॒ः। हृ॒दि। स्तोम॑ः। उप॑ऽश्रितः। चि॒त्। अ॒स्तु॒।। शम्। नः। क्षेमे॑। शम्। ॐ॒ इति॑। योगे॑। नः। अ॒स्तु॒। यू॒यम्। पा॒त॒। स्व॒स्तिऽभि॑ः। सदा॑। नः।।८।।

सायणभाष्य– हे स्वधाव: अन्नवन् वरुण तुभ्यं त्वदर्थं क्रियमाण: अयम् एतत्सूक्तात्मकं स्तोम: स्तोत्रं हृदि त्वदीये हृदये सु सुष्ठु उपश्रित: उपगत: समवेत: अस्तु। चित् इति पूरक:। अप्राप्तस्य प्रापणं योग: प्राप्तस्य रक्षणं क्षेम:। न: अस्मदीये क्षेमे रक्षणे शम् उपद्रवाणां शमनम् अस्तु। योगे च न: अस्मदीये प्रापणे शमु शमनमेवास्तूपद्रवाणाम्। हे वरुणादयो देवा: न: अस्मान् सर्वदा स्वस्तिभि: अविनाशै: पात रक्षत।।

अन्वय– स्वधाव: वरुण तुभ्यम् अयम् स्तोम: हृदि सु उपश्रित: अस्तु। चित् न: क्षेमे शम् न: योगे शम् अस्तु। यूयं सदा स्वस्तिभि: न: पात।

शब्दार्थ– स्वधाव: = हे अन्न को धारण करने वाले, हे शक्तिशाली। **वरुण** = वरुण देव। **तुभ्यम्** = तुम्हारे लिए। **अयम्** = यह। **स्तोम:** = स्तुति, स्तोत्र। **हृदि** = हृदय में। **सु** = भली-भाँति। **उपश्रित:** = स्थित। **अस्तु** = हो जाय। **न:** = हमारे। **क्षेमे** = प्राप्त पदार्थों की रक्षा में। **शम्** = कल्याण। **योगे** = अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति में। **अस्तु** = होवे। **यूयम्** = तुम सब (आप)। **सदा** = सर्वदा। **स्वस्तिभि:** = कल्याणों से, आशीर्वादों के द्वारा। **न:** = हमारी । **पात** = रक्षा करो।

अनुवाद– हे अन्न को धारण करने वाले वरुण देव! तुम्हारे लिए (प्रदान किया गया) यह स्तोत्र (तुम्हारे) हृदय में भली-भाँति स्थित हो जाय। हमारे अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति में कल्याण होवे एवं हमारे प्राप्त पदार्थों की रक्षा में कल्याण होवे। तुम लोग (आप) सर्वदा आशीर्वादों के द्वारा हमारी रक्षा करो।

व्याकरण– तुभ्यम् = युष्मद् शब्द का च.ब.व.। **उपश्रित:** = उप +✓श्रि + क्त प्रत्यय प्र.ए.व.। **पात** = ✓पा + लोट् म. पु.ब.व.। **अस्तु** = ✓अस् + लोट् प्र.पु.ए.व.।

●

अक्षसूक्तम् (ऋग्वेद १०/३४)

ऋषि-ऐलूष कवषः; देवता-अक्ष, कृषिः; छन्द-७ जगती, अवशिष्ट त्रिष्टुप्

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृताना:।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्।।१।।

पदपाठ– प्रावेपाः। मा। वृहतः। मादयन्ति प्रवातेऽजाः। इरिणे। वर्वृतानाः। सोमस्यऽइव। मौजऽवतस्य। भक्षः। विऽभीदकः। जागृविः। मह्यम्। अच्छान्।।१।।

सायणभाष्य– बृहतः महतो विभीतकस्य फलत्वेन सम्बन्धिनः प्रवातेजाः प्रवणे देशे जाताः इरिणे आस्फारे वर्वतानाः प्रवर्तमानाः प्रावेपाः प्रवेपिणः कम्पनशीला अक्षाः मा मां मादयन्ति हर्षयन्ति। किंच जागृविः जयपराजययोर्हर्षशोकाभ्यां कितवानां जागरणस्य कर्त्ता विभीदकः विभीदकविकाराऽक्षो मह्यं माम् अच्छान् अचच्छदत् अत्यर्थं मादयति। तत्र दृष्टान्तः। सोमस्येव यथा सोमस्य मौजवतस्य। मूजवति पर्वते जातो मौजवतः। तस्य। तत्र ह्युत्तमः सोमो जायते। भक्षः पानं यजमानान् देवांश्च मादयति तद्वदित्यर्थः। तथा च यास्कः-'प्रवेपिणो मा महतो विभीतकस्य फलानि मादयन्ति। प्रवातेजाः प्रवणेजा इरिणे वर्तमाना इरिणं निर्ऋणमृणातेरपार्णं भवत्यपरता अस्मादोषधय इति वा। सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो मौजवतो मूजवति जातो मूजवान् पर्वतो मुञ्जवान् मुञ्जो विमुच्यत इषीकयेषीकेषतेर्गतिकर्मण इयमपीतरेषीकैतस्मादेव विभीदको विभेदनाज्जागृविर्जागरणान्मह्यमचच्छदत्' (निरु. ९/८) इति।

अन्वय– प्रवातेजाः बृहतः इरिणे वर्वृताना प्रावेपाः मा मादयन्ति। मौजवतस्य सोमस्य भक्ष इव जागृविः विभीदकः मह्यम् अच्छान्।

शब्दार्थ– प्रवातेजाः = तेज वायु वाले स्थानों में उत्पन्न होने वाले; ढालू प्रदेशों में उत्पन्न होने वाले। **बृहतः** = बड़े (विभीतक वृक्ष) से प्राप्त। **इरिणे** = अक्षफलक (खेलने के फर्श, चौपड़, अक्षपटल) पर। **वर्वृतानाः** = लुढ़कते हुए। **प्रावेपाः** = कम्पनशील, काँपते हुए। मा = मुझको। **मादयन्ति** = आनन्दित (उन्मादित, मस्त) करते हैं। **मौजवतस्य** = मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न होने वाले। **सोमस्य** = सोमरस के। **भक्ष इव** = भक्षण (पान) के समान। **जागृविः** = जगाने वाला, जागृत रखने वाला। **विभीदकः** = बहेड़ा का बीज, अक्ष; जुए का पासा। **मह्यम्** = मुझको। **अच्छान्** = आनन्दित करता है, आह्लादित करता है।

अनुवाद– तेज वायु वाले स्थान में उत्पन्न होने वाले तथा बड़े (विभीतक वृक्ष) से प्राप्त (जुए के पासे) अक्षफलक पर लुढ़कते हुए तथा काँपते हुए मुझको आनन्दित करते हैं। (जुआरियों को) जगाने वाला जुए का पासा (बहेड़े का बीज, अक्ष) मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न होने वाले सोम

के पान (भक्षण) के समान मुझको आनन्दित करता है। (अर्थात् जिस प्रकार मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न होने वाले सोम का पान व्यक्ति को मदोन्मत्त कर देता है, उसी प्रकार जुआड़ियों को रात-दिन जगाने वाला जुए का पासा मुझको अत्यधिक उन्मादित करता है। जो व्यक्ति जुए में जीतता है वह हर्ष से जागता है और जो व्यक्ति जुए में हारता है, वह दुख से जागता है। अतः जुए को जगाने वाला कहा गया है)।

व्याकरण– वर्वृतानाः - ✓वृत् (होना) + यङ्-लुक् + शानच्, प्रथमा बहु.। **मादयन्ति** - ✓मद् (प्रसन्न करना, आनन्दित करना) + णिच् (मादय्) + लट्, प्र.पु.,बहु.। **अच्छान्** - ✓छन्द् (प्रसन्न करना, आनन्दित करना) + लुङ् , प्र.पु., एक.।

न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्।।२।।

पदपाठ– न। मा। मिमेथ। न। जिहीळे। एषा। शिवा। सखिभ्यः। उत। मह्यम्। आसीत्। अक्षस्य। अहम्। एकऽपरस्य। हेतोः। अनुऽव्रताम्। अप। जायाम्। अरोधम्।।२।।

सायणभाष्य– एषा अस्मदीया जाया मा मां कितवं न मिमेथ न चुक्रोध, न जिहीळे न च लज्जितवती। सखिभ्यः अस्मदीयेभ्यः कितवेभ्यः शिवा सुखकरी आसीत् अभूत्। उत अपि च मह्यं शिवासीत्। इत्थम्। अनुव्रताम् अनुकूलां जायाम् एकपरस्य एकः परः प्रधानं यस्य तस्य अक्षस्य हेतोः कारणात् अहम् अप अरोधं परित्यक्तवानस्मीत्यर्थः।

अन्वय– एषा मा न मिमेथ, न जिहीळे, सखिभ्यः उत मह्यम् शिवा आसीत्, अहम् एकपरस्य अक्षस्य हेतोः अनुव्रताम् जायाम् अप अरोधम्।

शब्दार्थ– एषा = यह (मेरी पत्नी)। **मा** = मुझको, मुझसे। **न** = नहीं। **मिमेथ** = कलह (झगड़ा) करती थी। **न** = नहीं। **जिहीळे** = क्रोध करती थी। **सखिभ्यः** = मित्रों के लिए। उत = और। **मह्यम्** = मेरे लिए। **शिवा** = कल्याणकारिणी। **आसीत्** = थी। **अहम्** = मैनें। **एकपरस्य** = एक है प्रधान जिसमें ऐसे, एकमात्र। **अक्षस्य** = अक्ष के। **हेतोः** = कारण। **अनुव्रताम्** = अनुगमन करने वाली, आज्ञाकारिणी। **जायाम्** = पत्नी को। **अप अरोधम्** = परित्याग कर दिया, छोड़ दिया, घर से निकाल दिया।

अनुवाद– यह (मेरी पत्नी) मुझसे कलह (झगड़ा) नहीं करती थी और न मुझ पर क्रोध करती थी। मेरे मित्रों के लिए और मेरे लिए यह कल्याणकारिणी (अच्छा व्यवहार करने वाली) थी। एकमात्र जुए के कारण मैनें अपनी आज्ञाकारिणी पत्नी का परित्याग कर दिया।

व्याकरण– मिमेथ - ✓मिथ् (कलह करना) हिंसा करना + लिट् , प्र.पु.एक.। **जिहीळे** - ✓हीड् (क्रोध करना) + लिट् , प्र.पु., एक.। दो स्वरों के मध्य में आने के कारण ड् का ळ् हो गया है। **अरोधम्** - ✓रुध् (रोकना) + लुङ् , उ.पु., एक.ए वैदिक रूप।

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्।।३।।

पदपाठ– द्वेष्टि। श्वश्रूः। अप। जाया। रुणद्धि। यः। नाथितः। विन्दते। मर्डितारम्। अश्वस्यऽइव। जरतः। वस्न्यस्य। न। अहम्। विन्दामि। कितवस्य। भोगम्।।३।।

सायणभाष्य– श्वश्रूः जायाया माता गृहगतं कितवं द्वेष्टि निन्दतीत्यर्थः। किंच जाया भार्या अप रुणद्धि निरुणद्धि। अपि च नाथितः याचमानः कितवो धनं मर्डितारं धनदानेन सुखयितारं न विन्दते न लभते। इत्थं बुद्ध्या विमृशन् अहं जरतः वृद्धस्य वस्न्यस्य। वस्नं। मूल्यं तदर्हस्य अश्वस्येव कितवस्य भोगं न विन्दामि न लभे।

अन्वय– श्वश्रूः द्वेष्टि, जाया अप रुणद्धि, नाथितः मर्डितारम् न विन्दते। अहम् वस्न्यस्य जरतः अश्वस्य इव कितवस्य भोगम् न विन्दामि।

शब्दार्थ– श्वश्रूः = सास, पत्नी की माता। **द्वेष्टि** = द्वेष करती है। **जाया** = पत्नी। **अप रुणद्धि** = रोकती है, दूर भगा देती है, ढकेल देती है। **नाथितः** = याचना करता हुआ (जुआड़ी)। **मर्डितारम्** = सुख देने वाले को, दया करने वाले को। **न** = नहीं। **विन्दते** = प्राप्त करता है। **अहम्** = मैं। **वस्न्यस्य** = बहुमूल्य बेचे जाने वाले। **जरतः** = बृद्ध। **अश्वस्य इव** = घोड़े के समान। **कितवस्य** = जुआड़ी के। **भोगम्** = उपभोग। **न विन्दामि** = नहीं प्राप्त करता हूँ, नहीं पाता हूँ।

अनुवाद– (जुआड़ी से उसकी) सास द्वेष करती है, उसकी पत्नी उसे दूर भगा देती है। (जुआ खेलने के लिए धन की) याचना करता हुआ जुआड़ी (धन देकर) सुख देने वाले (व्यक्ति) को नहीं प्राप्त करता है। मैं बहुमूल्य वृद्ध घोड़े के समान जुआड़ी को कोई उपभोग नहीं पाता हूँ (जुआड़ी जिस प्रकार बहुमूल्य अश्व भी वृद्ध होने के कारण उपयोग के अयोग्य हो जाता है, इसी प्रकार जुआड़ी व्यक्ति समाज के लिए भार बन जाता है)।

व्याकरण– द्वेष्टि - ✓द्विष् (द्वेष करना) + लट्, प्र.पु. एक.। **रुणद्धि** - ✓रुध् (रोकना) + लट्, प्र.पु. एकव.। **नाथितः** - ✓नाथ् (याचना करना) + क्त प्र.ए.। **मर्डितारम्** - ✓मृड् (सुख देना) + तृच् द्वि.ए.। **विन्दते** - ✓विद् (प्राप्त करना) + लट् + प्र.पु.एक., वैदिक रूप। **जरतः** - ✓जॄ (वृद्ध होना) + शतृ + षष्ठी एकव.। **विन्दामि** - ✓विद् (प्राप्त करना) + लट् + उ. पु. एक.।

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्।।४।।

पदपाठ– अन्ये। जायाम्। परि। मृशन्ति। अस्य। यस्य। अगृधत्। वेदने। वाजी। अक्षः। पिता। माता। भ्रातरः। एनम्। आहुः। न। जानीमः। नयत। बद्धम्। एतम्।।४।।

सायणभाष्य– यस्य कितवस्य वेदने धने वाजी बलवान् अक्षः देवः अगृधत् अभिकाङ्क्षां करोति तस्य अस्य कितवस्य जायां भार्याम् अन्ये प्रतिकितवाः परिमृशन्ति वस्त्रकेशाद्याकर्षणेन संस्पृशन्ति। किंच पिता जननी च भ्रातरः सहोदराश्च एनं कितवम् आहुः वदन्ति न वयमस्मदीयमेनं जानीमः। रज्ज्वा बद्धमेतं कितवं हे कितवाः यूयं नयत यथेष्टदेशं प्रापयेति।

अन्वय– यस्य वेदने वाजी अक्षः अगृधत्, अस्य जायाम् अन्ये परिमृशन्ति, पिता माता भ्रातरः एनम् आहुः न जानीमः बद्धम् एनम् नयत।

शब्दार्थ– यस्य = जिस (व्यक्ति) के। **वेदने** = धन पर। **वाजी** = बलवान्। **अक्षः** = जुए का पासा। **अगृधत्** - लाया गया, लोभ किया। **अस्य** = इस (जुआड़ी) की। **जायाम्** = पत्नी को। **अन्ये** = दूसरे लोग। **परि मृशन्ति** = छूते हैं, छेड़ते हैं, आलिंगन करते हैं, वस्त्र केशादि खोलकर अपमानित करते हैं। **पिता माता भ्रातरः** = पिता, माता एवं भाई। **एनम् आहुः** = इसके विषय में कहते हैं। **न जानीमः** = नहीं जानते हैं। **बद्धम् एनम्** = बँधें हुए इसको। **नयत** = ले जाओ।

अनुवाद– जिस (व्यक्ति) के धन पर बलवान् जुए का पासा ललचाया (ललचाने लगता है) (अर्थात् जो अपने धन को जुए में लगाने लगता है), उस (जुआड़ी) की पत्नी को दूसरे लोग छूते हैं। (आलिंगन करते हैं अथवा वस्त्र केश आदि खींचकर अपमानित करते हैं)। (जुआड़ी के) पिता, माता और भाई इस (जुआड़ी) के विषय में (राजकर्मचारी या ऋणदाता से) कहते हैं कि हम इसको नहीं जानते (इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है)। इसे बाँधकर ले जाओ (अथवा बँधे हुए इसको जहाँ चाहो वहाँ ले जाओ)।

व्याकरण– अगृधत् - ✓गृध् (लालच करना) + लङ्, प्र.पु.एक., वैदिक रूप। **मृशन्ति**-✓मृश् (स्पर्श करना) + लट्, प्र. पु. बहु.। **आहुः** - ✓आह् (कहना) + लिट्, प्र.पु. बहु.। **जानीमः** - ✓ज्ञा (जानना) + लट्, उ. पु. बहु.। **नयत** - ✓नी (ले जाना) + लोट्, म. पु.बहु., छन्दपूर्ति के लिए सं. पा. में 'नयता' हुआ। **वाज्य १ क्षः** - बाजी + अक्षः क्षैप्र सन्धि। **क्षैप्र** स्वरित के बाद उदात्त आने से कम्प।

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽवहीये सखिभ्यः।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रत एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव।।५।।

पदपाठ– यत्। आऽदीध्ये। न। दविषाणि। एभिः। परायत्ऽभ्यः। अव। हीये। सखिभ्यः। निऽउप्ताः। च। बभ्रवः। वाचम्। अक्रत। एमि। इत्। एषाम्। निःऽकृतम्। जारिणीऽइव।।५।।

सायणभाष्य– यत् यदा अहम् आदीध्ये ध्यायामि तदानीम् एभिः अक्षैः न दविषाणि न दूषये न परितपामि। यदा। न दविषाणि न देविष्यामीत्यर्थः। परायद्भ्यः स्वयमेव परागच्छद्भ्यः सखिभ्यः सखिभूतेभ्यः कितवेभ्यः अव हीये अवहितो भवामि। नाहं प्रथममक्षान् विसृजामीति। किंच बभ्रवः बभ्रुवर्णा अक्षाः न्युप्ताः कितवैरवक्षिप्ताः सन्तः वाचमक्रत शब्दं कुर्वन्ति। तदा संकल्पं परित्यज्य अक्षव्यसनेनाभिभूयमानोऽहम् एषाम् अक्षाणां निष्कृतं स्थानं जारिणीव यथा कामव्यसने-नाभिभूयमाना स्वैरिणी संकेतस्थानं याति तद्वत् एमीत् गच्छाम्येव।

अन्वय– यत् आदीध्ये एभिः न दविषाणि परायद्भ्यः सखिभ्य अव हीये, बभ्रवः न्युप्ताः वाचम् अक्रत, एषां निष्कृतं जारिणी इव एमि इत्।

शब्दार्थ– यत् = जब। **आदीध्ये** = विचार करता हूँ, सोचता हूँ, संकल्प (निश्चय) करता हूँ। **एभिः** = इन (पासों से अथवा इन जुआ खेलने वाले मित्रों) के साथ। **न दविषाणि**

= नहीं खेलूँगा, नहीं जाऊँगा। **परायद्भ्यः** = (जुए के स्थान की ओर) जाते हुए। **सखिभ्यः** = (जुआड़ी) मित्रों से। **अव हीये** = छूट जाता हूँ, पीछे रह जाता हूँ, छिप जाता हूँ। **बभ्रवः** = भूरे रंग वाले। **न्युप्ताः** = फेके जाने पर। **वाचम्** = शब्द। **अक्रत्** = किया, करते हैं। **एषाम्** = इन (पासों) के। **निष्कृतम्** = खेलने के स्थान पर। **जारिणी इव** = व्याभिचारिणी स्त्री के समान। **एमि इत्** = जाता ही हूँ।

अनुवाद– जब मैं सोचता हूँ कि इन (पासों) से नहीं खेलूँगा (अथवा- इन जुआड़ियों के साथ नहीं खेलूँगा), तब (जुए के स्थान की ओर) जाते हुए मित्रों से छूट जाता हूँ। किन्तु जब भूरे रंग वाले (पासे) फेंके जाने पर शब्द करते हैं, तब मैं एक व्याभिचारिणी स्त्री के समान इन (पासों) के स्थान पर पहुँच जाता हूँ (अर्थात् जिस प्रकार व्याभिचारिणी स्त्री जार से मिलने के लिए संकेत-स्थल पर पहुँच जाती है, उसी प्रकार मैं जुआघर में पहुँच जाता हूँ)।

व्याकरण– आदीध्ये - आ + ✓धी (विचार करना) आत्मने. + लट्., उ.पु. एक.। **दविषाणि** - ✓दिव् (जुआ खेलना) या ✓दू (जाना), लेट्, उ.पु., एक.। **हीये** - ✓हा (छोड़ना) कर्मवाच्य, लट्, उ.पु.,एक.। **न्युप्ताः** - नि + ✓वप् + क्त प्र. बहु.व.। **अक्रत** - ✓कृ (करना) + लुङ्, प्र.पु., बहु., आत्मने, वैदिक रूप। **एमि** - ✓इ (जाना) + लट्, उ.पु.ए एक.।

सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा३ शूशुजानः।
अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि।।६।।

पदपाठ– सभाम्। एति। कितवः। पृच्छमानः जेष्यामि। इति। तन्वा। शूशुजानः। अक्षासः। अस्य। वि। तिरन्ति। कामम्। प्रतिऽदीव्ने। दधतः। आ। कृतानि।।६।।

सायण-भाष्य– तन्वा शरीरेण शूशुजानः शोशुचानो दीप्यमानः कितवः कोऽत्रास्ति धनिकस्तं जेष्यामीति पृच्छमानः पृच्छन् सभां कितवसम्बन्धिनीम् एति गच्छति। तत्र प्रतिदीव्ने प्रतिदेवित्रे कितवाय कृतानि देवनोपयुक्तानि कर्माणि आ दधतः जयार्थमाभिमुख्येन मर्यादया वा दधतः कितवस्य कामम् इच्छाम् अक्षासः अक्षाः वि तिरन्ति वर्धयन्ति।

अन्वय– तन्वा शूशुजानः कितवः जेष्यामि इति पृच्छमानः सभाम् एति, अक्षासः प्रतिदीव्ने कृतानि दधतः अस्य कामं वि तिरन्ति।

शब्दार्थ– तन्वा = शरीर से। **शूशुजानः** = काँपता हुआ या चमकता हुआ (अर्थात् गर्व को व्यक्त करता हुआ)। **कितवः** = जुआड़ी। **जेष्यामि** = जीतूँगा। **इति** = ऐसा, इस प्रकार। **पृच्छमानः** = पूछता हुआ, सोचता हुआ, विचार करता हुआ। **सभाम्** = द्यूतसभा में, जुआ खेलने के स्थान में, जुआघर में। **एति** = जाता है। **अक्षासः** = जुए के पासे। **प्रतिदीव्ने** = विरोधी (प्रतिद्वन्द्वी) जुआड़ी के लिए। **कृतानि** = कृत नाम की चाल, उत्तम दाँव। **दधतः** = रखते हुए, लाते हुए, प्रदान करते हुए। **अस्य** = इस (जुआड़ी) की। **कामम्** = अभिलाषा को, मनोरथ को। **वि तिरन्ति** = विफल बना देते हैं, विनष्ट कर देते हैं, मिट्टी में मिला देते हैं या बढ़ा देते हैं, वर्धित कर देते हैं।

अनुवाद– शरीर से काँपता हुआ (अथवा गर्व से छाती को फुलाता हुआ) जुआड़ी 'जीतूँगा' ऐसा विचार करता हुआ द्यूतसभा (जुआघर) में जाता है। जुए के पासे विरोधी (प्रतिद्वन्द्वी)

जुआड़ी के लिए (अर्थात् विरोधी जुआड़ी के पक्ष में) उत्तम दाँवों (कृत नामक उत्तम चाल) को रखते (लाते) हुए इस (जुआड़ी) के मनोरथ को विफल बना देते हैं।

व्याकरण– तुन्वा '३ शूशुजानः - जात्य स्वरित, कम्प। **शूशुजानः** - ✓शुज् (चमकना, गर्व करना) + कानच् प्र.ए.। **पृच्छमानः** - ✓प्रच्छ् (पूछना) + शानच्। **अक्षासः** - अक्षाः, प्र.बहु। 'आज्जसेरसुक्' सूत्र से असुक् (अस्) का आगम हुआ है, वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में अक्षाः। **दधतः** - ✓धा (रखना, स्थापित करना) + शतृ,प्र.बहु. अथवा षष्ठी एक.। **तिरन्ति** - ✓तृ (बढ़ाना) + लट्, प्र.पृ.बहु.।

अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा।।७।।

पदपाठ– अक्षासः। इत्। अङ्कुशिनः। निऽतोदिनः। निऽकृत्वानः। तपनाः। तापयिष्णवः। कुमारऽदेष्णाः। जयतः। पुनःऽहनः। मध्वा। सम्ऽपृक्ताः। कितवस्य। बर्हणा।।७।।

सायणभाष्य– अक्षास इत् अक्षा एव अङ्कुशिनः अङ्कुशवन्तः नितोदिनः नितोदितवन्तश्च निकृत्वानः पराजये निकर्तनशीलाश्छेत्तारो वा तपनाः पराजये कितवस्य सन्तापकाः तापयिष्णवः सर्वस्वहारकत्वेन कुटुम्बस्य सन्तापशीलश्च भवन्ति। किंच जयतः कुमारदेष्णाः धनदानेन धान्यतां लम्भयन्तः कुमाराणां दातारो भवन्ति। अपि च मध्वा मधुना सम्पृक्ताः प्रतिकितवेन बर्हणा परिवृद्धेन सर्वस्वहरणेन कितवस्य पुनर्हणः पुनर्हन्तारो भवन्ति।

अन्वय– अक्षासः इत् अङ्कुशिनः नितोदिनः निकृत्वानः तपनाः तापयिष्णवः कुमारदेष्णाः पुनर्हणः कितवस्य बर्हणा मध्वा सम्पृक्ताः।

शब्दार्थ– अक्षासः = जुए के पासे। **इत्** = निश्चय ही। **अङ्कुशिनः** = अङ्कुश वाले। **नितोदिनः** = चाबुक (कोड़े) वाले। **निकृत्वानः** = काटने वाले। **तपनाः** = तपाने (जलाने) वाले। **तापयिष्णवः** = संताप (कष्ट) दिलाने वाले। **कुमारदेष्णाः** = बच्चों के समान (धन) देने वाले। **जयतः** = विजयी का। **पुनर्हणः** = पुनः हनन करने वाले। **कितवस्य** = जुआड़ी की। **बर्हणा** = वृद्धि के द्वारा। **मध्वा** = मधु (शहद) से। **सम्पृक्ताः** = सने हुए।

अनुवाद– जुए के पासे निश्चित ही अङ्कुश वाले हैं (अर्थात् जिस प्रकार अङ्कुश हाथी पर शासन करता है, उसी प्रकार पासे जुआड़ी पर शासन करते हैं– उसे जुआ खेलने के लिए प्रेरित करते हैं), चाबुक (कोड़े) वाले हैं (अर्थात् जिस प्रकार चाबुक घोड़े, बैल आदि को चलाता है, उसी प्रकार पासे जुआड़ी को चलाते हैं– जुआ खेलने के लिए बाध्य करते हैं), काटने वाले (अर्थात् विनाश करने वाले) हैं, ताप देने (जलाने) वाले (अर्थात् संताप देने वाले) हैं, तपवाने (जलवाने) वाले (संताप दिलाने वाले अर्थात् जुआड़ी द्वारा उसके परिवार को कष्ट दिलाने वाले) हैं, बच्चों के समान धन देने वाले (और पुनः ले लेने वाले), विजयी का पुनः हनन करने वाले (जीतने वाले जुआड़ी को फिर मारने वाले अर्थात् जीतने वाले जुआड़ी से पुनः धन छीन लेने वाले, हराकर पुनः धन का नाश करने वाले) तथा जुआड़ी की बृद्धि द्वारा (अर्थात् जुआड़ी के धन की बृद्धि करने के कारण) मधु (शहद) से युक्त (मधु से सने हुए, मीठे, आकर्षक) होते हैं।

व्याकरण– अक्षासः - प्र. बहु., 'आज्जसेरसुक्' सूत्र से असुक् (अस्) का आगम हुआ है, वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में अक्षाः। **अङ्कुशिनः** - अङ्कुश + इनि + (इन्) प्र. बहु.। **निकृत्वानः** - नि +✓ कृत् (काटना) + क्वनिप् प्र. बहु.। **तपनाः** - ✓तप् (तपाना) + ल्युट् (अन्)। **तापयिष्णवः** - ✓तप् + णिच् + इष्णुच्। **जयतः** - ✓जि (जीतना) + शतृ + पञ्चमी या षष्ठी एक व.। **मध्वा** - तृ. एक व., वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में मधुना। **सम्पृक्ताः** - सम् +✓पृच् + क्त प्र. बहु.।

त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति।।८।।

पदपाठ– त्रिऽपञ्चाशः। क्रीळति। व्रातः। एषाम्। देवःऽइव। सविता। सत्यधर्मा। उग्रस्य। चित्। मन्यवे। न। नमन्ते। राजा। चित्। एभ्यः। नमः। इत्। कृणोति।।८।।

सायणभाष्य– एषाम् अक्षाणां त्रिपञ्चाशः व्यधिकञ्चाशत्संख्याकः व्रातः संघः क्रीळति आस्फारे विहरति। आक्षिकाः प्रायेण तावद्भिरक्षैर्दीव्यन्ति हि। तत्र दृष्टान्तः। सत्यधर्मा। सविता सर्वस्य जगतः प्रेरकः सूर्यो देव इव। यथा सविता देवो जगति विहरति तद्वदक्षाणां संघ आस्फारे विहरतीर्त्यः। किंच उग्रस्य चित् क्रूरस्यापि मन्यवे क्रोधाय एते अक्षाः न नमन्ते न प्रह्वीभवन्ति। न वशे वर्तन्ते। तं नमयन्तीत्यर्थः। राजा चित् जगत ईश्वरोऽपि एभ्यः नम इत् नमस्कारमेव देवनवेलायां कृणोति। नावज्ञां करोतीत्यर्थः।।

अन्वय– सत्यधर्मा सविता देवः इव एषाम् त्रिपञ्चाशः व्रातः क्रीळति, उग्रस्य मन्यवे न नमन्ते। राजा चित् एभ्यः नमः कृणोति।

शब्दार्थ– सत्यधर्मा = सत्य नियमों वाले। **सविता देवः** = सवितृ देवता। **इव** = समान। **एषाम्** = इन (इन पासों) का। **त्रिपञ्चाशः** = तिरपन संख्या वाला। **व्रातः** = समूह। **क्रीळति** = खेलता है, उछलता है। **उग्रस्य** = क्रोधी के, प्रचण्ड के, शक्तिशाली के। **मन्यवे** = क्रोध के समक्ष। **न** = नहीं, **नमन्ते** = झुकते हैं। **राजा** = राजा। **चित्** = भी। **एभ्यः** = इनके लिए। **नमः** = नमस्कार। **इत्** = ही। **कृणोति** = करता है।

अनुवाद– सत्य नियमों वाले सवितृ देव के समान इन पासों का तिरपन संख्या वाला समूह (उछलता है)। क्रोधी (व्यक्ति) के क्रोध के समक्ष भी (ये पासे) नहीं झुकते हैं। राजा भी इन्हें नमस्कार ही करता है। (जुआड़ी प्रायः तिरपन पासों से जुआ खेलते हैं। स्वयं नियम का पालन करने वाले सविता के समान पासे भी स्वतन्त्र होते हैं और अपने ही नियम पर चलते हैं अथवा यों कहिए- जिस प्रकार सविता देवता के नियम का उल्लंघन नहीं होता है, उसी प्रकार पासों के नियम का भी उल्लघन नहीं होता है)।

व्याकरण– क्रीळति - ✓क्रीड् (खेलना) + लट्, प्र.पु.ए.। दो स्वरों के मध्य में स्थित ड् का ळ् हो गया है। **नमन्ते** - ✓नम् (झुकना) + लट्, प्र. पु., बहु., वैदिक रूप। **कृणोति** - ✓कृ (करना) + लट्, प्र.पु.एक., वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में करोति।

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गाराः इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति।।९।।

पदपाठ– नीचाः। वर्तन्ते। उपरि। स्फुरन्ति। अहस्तासः। हस्तऽवन्तम्। सहन्ते। दिव्याः। अङ्गाराः। इरिणे। निःऽउप्ताः। शीताः। सन्तः। हृदयम्। निः। दहन्ति।।९।।

सायणभाष्य– अपि चैतेऽक्षाः नीचा नीचीनस्थले वर्तन्ते। तथापि उपरि पराजयात् भीतानां द्यूतकराणां कितवानां हृदयस्योपरि स्फुरन्ति। अहस्तासः हस्तरहिता अप्यक्षाः हस्तवन्तं द्यूतकरं कितवं सहन्ते पराजयकरणेनाभिभवन्ति। दिव्याःदिवि भवा अपकृताः अङ्गाराः अङ्गारसदृशा अक्षाः इरिणे इन्धनरहिते आस्फारे न्युप्ताः शीताः शीतस्पर्शाः सन्तः अपि हृदयं कितवानामन्तःकरणं निर्दहन्ति पराजयजनितसन्तापेन भस्मीकुर्वन्ति।।

अन्वय– नीचाः वर्तन्ते उपरि स्फुरन्ति। अहस्तासः हस्तवन्तम् सहन्ते। इरिणे न्युप्ताः दिव्याः अङ्गाराः शीताः सन्तः हृदयम् निर्दहन्ति।

शब्दार्थ– नीचाः = नीचे। **वर्तन्ते** = रहते हैं, पड़ते हैं, लुढ़कते हैं। **उपरि** = ऊपर। **स्फुरन्ति** = उक्षलते हैं, फड़कते हैं। **अहस्तासः** = हस्तरहित, बिना हाथों के। **हस्तवन्तम्** = हाथों वाले को। । **सहन्ते** = अभिभूत करते हैं, दबा लेते हैं। **इरिणे** = अक्ष-पटल पर। **न्युप्ताः** = फेंके गए। **दिव्याः** = दिव्य, अलौकिक, अद्‌भुत। **अङ्गारा** = अङ्गारे। **शीताः सन्तः** = शीतल होते हुए भी। **हृदयम्** = हृदय को। **निर्दहन्ति** = जलाते हैं।

अनुवाद– ये (पासे) नीचे (= अक्षपटल पर) लुढ़कते (पड़ते) हैं किन्तु ऊपर उछलते (फड़कते) हैं (जुआड़ी के हृदय-पटल के ऊपर प्रभाव डालते हैं- पराजय के भय से जुआड़ी को डराते रहते हैं); हाथों से रहित होते हुए भी हाथों वाले (जुआड़ी) को अभिभूत कर लेते हैं (दबा लेते हैं)। अक्षपटल पर फेंके गये ये दिव्य अङ्गारे (अथवा-दिव्य अङ्गारों के सदृश ये पासे) स्वयं शीतल (ठण्डे) होते भी (जुआड़ी के) हृदय को (पराजय के संताप से) जलाते हैं।

व्याकरण– अहस्तासः - प्र. बहु. वैदिकरूप; अहस्ताः (लौकिक संस्कृत); न विद्येते हस्तौ येषां ते अहस्तासः **सहन्ते** - ✓सह (अभिभूत करना) + लट्, प्र.पु.बहु.। **दिव्याः** - दिवि भवाः दिव्याः, ✓दिव् + यत्। न्युप्ताः नि + वप् + क्त। **निर्दहन्ति** - निर् + ✓दह् + लट् प्र. पु., बहु. व.।

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति।।१०।।

पदपाठ– जाया। तप्यते। कितवस्य। हीना। माता। पुत्रस्य। चरतः। क्व। स्वित्। ऋणऽवा। बिभ्यत्। धनम्। इच्छमानः अन्येषाम्। अस्तम्। उप। नक्तम्। एति।।१०।।

सायणभाष्य– क्व स्वित् क्वापि चरतः निर्वेदाद्गच्छतः कितवस्य जाया भार्या हीना परित्यक्ता सती तप्यते वियोगजसन्तापेन सन्तप्ता भवति। माता जनन्यपि पुत्रस्य क्वापि चरतः कितवस्य सम्बन्धाद्धीना तप्यते। पुत्रशोकेन सन्तप्ता भवति। ऋणावा अक्षपराजयादृणवान् कितवः सर्वतो बिभ्यद्धनं स्तेयजनितम् इच्छमानः कामयमानः अन्येषां ब्राह्मणादीनाम् अस्तं गृहम्। 'अस्तं पस्त्यम्' इति गृहनामसु पाठात्। नक्तं रात्रौ उप एति चौर्यार्थमुपगच्छति।

अन्वय– कितवस्य हीना जाया तप्यते, क्व स्वित् चरतः पुत्रस्य माता, ऋणावा बिभ्यत धनम् इच्छमानः नक्तम् अन्येषाम् अस्तम् उप एति।

शब्दार्थ– कितवस्य = जुआड़ी की। **हीना** = आश्रयहीना, परित्यक्ता। **जाया** = पत्नी। **तप्यते** = सन्तप्त (दुःखी) होती है। क्व **स्वित्** = कहीं। **चरतः** = विचरण करते हुए, घूमते, भटकते हुए। **पुत्रस्य माता** = पुत्र की माता। **ऋणावा** = ऋणी, ऋण से युक्त। **बिभ्यत्** = डरता हुआ। **धनम् इच्छमानः** = धन को चाहता हुआ। **नक्तम्** = रात्रि में। **अन्येषाम्** = दूसरों के। **अस्तम्** = घर। **उप एति** = जाता है, पहुँचता है।

अनुवाद– जुआरी की आश्रयहीना पत्नी (दुःखी) रहती है; कहीं घूमते हुए (इधर-उधर भटकते हुए) (जुआड़ी) पुत्र की माता भी दुःखी रहती है। ऋणी (जुआड़ी) (ऋणदाता से) डरता हुआ तथा धन की इच्छा (कामना, अभिलाषा) करता हुआ (चोरी करने के लिए) रात्रि में दूसरों के घर जाता है।

व्याकरण– हीना - ✓हा (छोड़ना) + क्त + टाप्, प्र. एक.। **तप्यते** - ✓तप् (जलना, सन्तप्त होना) + लट् प्र.पु.एक., कर्मकर्तृवाच्य। **चरतः** - ✓चर् (विचरण करना) + शतृ। **बिभ्यत्** - ✓भी (डरना) शतृ। **इच्छमानः** - ✓इष् + (इच्छ) शानच् प्र. एक व.।

स्त्रियं॑ दृ॒ष्ट्वाय॑ कित॒वं त॑ता॒पा॒न्येषां॑ जा॒यां सु॒कृ॑तं च॒ योनि॑म्।
पू॒र्वा॒ह्णे अश्वा॑न्युयु॒जे हि ब॒भ्रून्त्सो अ॒ग्नेरन्ते॑ वृष॒लः प॑पाद।।११।।

पदपाठ– स्त्रिय॑म्। दृ॒ष्ट्वाय॑। कि॒त॒वम्। त॒ता॒प॒। अ॒न्येषा॑म्। जा॒याम्। सु॒ऽकृ॑तम्। च॒। योनि॑म्। पू॒र्वा॒ह्णे। अश्वा॑न्। यु॒यु॒जे। हि। ब॒भ्रून्। सः। अ॒ग्नेः। अन्ते॑। वृ॒ष॒लः। प॒पा॒द।।११।।

सायणभाष्य– कितवं कितवः। विभक्तिव्यत्ययः। अन्येषां स्वव्यतिरिक्तानां पुरुषाणां जायां जायाभूतां स्त्रियं नारीं सुखेन वर्तमानां सुकृतं सुष्ठुकृतं योनिं गृहं च दृष्ट्वाय तज्जाया दुःखिता गृहं चासंस्कृतमिति ज्ञात्वा तताप तप्यते। पुनः पूर्वाह्णे प्रातःकाले बभ्रून् बभ्रुवर्णान् अश्वान् व्यापकानक्षान् युयुजे युनक्ति। पुनश्च वृषलः वृषलकर्मा सः कितवो रात्रौ अग्नेरन्ते समीपे पपाद शीतार्तः सन् शेते।

अन्वय– कितवम् स्त्रियम् अन्येषाम् जायाम् सुकृतम् योनिम् दृष्टवाय तताप पूर्वाह्णे बभ्रून् युयुजे, वृषलः अग्नेः अन्ते पपाद।

शब्दार्थ– कितवम् = कितवः (विभक्तिव्यत्यय से कर्ता के स्थान पर कर्म का प्रयोग हुआ), जुआड़ी। **स्त्रियम्** = (अपनी) पत्नी को। **अन्येषाम्** = दूसरों की। **जायाम्** = पत्नी को; जातावेकवचनम्। **सुकृतम्** = सुनिर्मित, सुसज्जित। **योनिम्** = घर को। **दृष्ठवाय** = देखकर। **तताप** = संतप्त (दुःखी) होता है। **पूर्वाह्णे** = दिन के पहले भाग में, प्रातःकाल। **बभ्रून्** = भूरे। **अश्वान्** = अश्वों को, पासों को। **युयुजे** = जोतता है। **वृषलः** = नीच। **अग्नेः अन्ते** = अग्नि के समीप। **पपाद** = गिर पड़ता है, पड़ा रहता है।

अनुवाद– जुआड़ी (अपनी कष्ट भोगती हुई) पत्नी को तथा दूसरे की (सुख भोगती) हुई पत्नी और सुसज्जित (सुनिर्मित) घर को देखकर संतप्त (दुःखी) होता है। वह (जुआड़ी) प्रातःकाल

भूरे अश्वों (पासों) को जोतता है (अर्थात् पासों को दाँव पर लगाता है)- जुआ खेलता है। और (जुए में हार कर सायंकाल) वह नीच (शीत से पीड़ित होकर) अग्नि के पास गिर पड़ता है (अग्नि के पास पड़ कर रात बिताता है)!

व्याकरण–दृष्ट्वाय - ✓दृश् (देखना) + क्त्वाय (त्वाय) वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में दृष्ट्वा। **तताप** - ✓तप् (संतप्त होना) + लिट्, प्र.पु.,एक., लट् अर्थ में प्रयुक्त। **युयुजे** - ✓युज् (जोतना) लिट् प्र.पु., एक., लट् अर्थ में। **पपाद** - ✓पद् (गति करना) + लिट्,प्र.पु., एक.व लट् अर्थ में।

यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि।।१२।।

पदपाठ– यः। वः। सेनाऽनीः। महतः। गणस्य। राजा। व्रातस्य। प्रथमः। बभूव। तस्मै। कृणोमि। न। धना। रुणध्मि। दश। अहम्। प्राचीः। तत्। ऋतम्। वदामि।।१२।।

सायणभाष्य– हे अक्षाः वः युष्माकं महतो गणस्य संघस्य यः अक्षः सेनानीः नेता बभूव भवति व्रातस्य च। गणव्रातयोरल्पो भेदः। राजा ईश्वरः प्रथमः मुख्यो बभूव तस्मै अक्षाय कृणोमि अहमञ्जलिं करोमि। अतः परं धना धनानि अक्षार्थमहं न रुणध्मि न सम्पादयामीत्यर्थः। एतदेव दर्शयति। अहं दशसंख्याका अङ्गुलीः प्राचीः प्राङ्मुखीः करोमि। तत् एतत् अहम् ऋतं सत्यमेव वदामि। नानृतं ब्रवीमीत्यर्थः।

अन्वय– वः महतः गणस्य यः सेनानी बभूव, व्रातस्य प्रथमः राजा, तस्मै अहम् दश प्राचीः कृणोमि, धना न रुणध्मि। तत् ऋतम् वदामि।

शब्दार्थ– वः = तुम्हारे। **महतः गणस्य** = महान गण (तिरपन संख्या वाले समुदाय का)। **यः** = जो (अक्ष, पासा)। **सेनानीः** = सेनापति, नायक। **बभूव** = था, है। **व्रातस्य** = संघ का, समूह का। **प्रथमः राजा** = प्रमुख राजा। **तस्मै** = उस (अक्ष) के लिए। **अहम्** = मैं (जुआड़ी)। **दश** = दस (अंगुलियाँ)। **प्राचीः** = पूर्व की ओर, सामने करता हूँ। **धना न रुणध्मि** = मैं धनों को नहीं रोकता हूँ। **तत्** = वह, यह। **ऋतम्** = सत्य। **वदामि** = कहता हूँ।

अनुवाद– (हे अक्षो!) जो (अक्ष) तुम्हारे महान् गण का सेनापति है, जो तुम्हारे संघ का प्रमुख राजा है, उसके सामने (उसके लिए) मैं दसों अंगुलियाँ सामने करता हूँ (अर्थात् हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ)। मैं धनों को रोकता नहीं हूँ। (मैंने धन नहीं छिपाया है- जुआ खेलने के लिए अब मेरे पास धन नहीं रह गया है); यह मैं सत्य कहता हूँ।

व्याकरण– बभूव - ✓भू + लिट् प्र. पु. ए.। **कृणोमि** - ✓कृ + लट्, उ.पु.,एक. , वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में करोमि रूप बनता है। रुणध्मि - ✓रुध्+लट् उ.पु.,एक.। **धना** - द्वि.बहु., वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में धनानि रूप बनता है।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः।।१३।।

पदपाठ– अक्षैः। मा। दीव्यः कृषिम्। इत्। कृषस्व। वित्ते। रमस्व। बहु। मन्यमानः। तत्र। गावः। कितव। तत्र। जाया। तत्। मे। विचष्टे। सविता। अयम्। अर्यः।।१३।।

सायणभाष्य– हे कितव बहु मन्यमानः मद्वचने विश्वासं कुर्वंस्त्वम् अक्षैर्मा दीव्यः द्यूतं मा कुरु। कृषिमित् कृषिमेव कृषस्व कुरु। वित्ते कृष्या सम्पादिते धने रमस्व रतिं कुरु। तत्र कृषौ गावः भवन्ति। तत्र जाया भवति। तत् एव धर्मरहस्यं श्रुतिस्मृतिकर्त्ता सविता सर्वस्य प्रेरकः अयं दृष्टिगोचरः अर्यः ईश्वरः वि चष्टे विविधमाख्यातवान्।।

अन्वय– कितव! अक्षैः मा दीव्यः कृषिम् इत् कृषस्व। बहु मन्यमानः वित्ते रमस्व, तत्र गावः, तत्र जाया, तत् मे अयम् अर्यः सविता विचष्टे।

शब्दार्थ– कितव = हे जुआड़ी! **अक्षैः** = पासों में। **मा दीव्य** = मत खेलो। **कृषिम् इत्** = खेती ही। **कृषस्व** = जोतो; करो। **वित्ते** = धन में। **बहु** = बहुत, पर्याप्त। **मन्यमानः** = मानते हुए, समझते हुए। **रमस्व** = रमण करो, आनन्द करो, सन्तोष करो। **तत्र** = वहाँ। **गावः** = गायें। **तत्र** = वहाँ। **जाया** = पत्नी। **तत्** = यह। **मे** = मुझसे। **अयम्** = यह। **अर्यः** = श्रेष्ठ। **सविता** = सविता देवता। **विचष्टे** = समझा कर कहा है।

अनुवाद– हे जुआड़ी! पासों से मत खेलो (अर्थात् जुआ मत खेलो), खेती ही जोतो (अर्थात् खेती करो)। (खेती द्वारा प्राप्त धन को) बहुत (पर्याप्त) मानते हुए (उस) धन में रमण करो (आनन्द का अनुभव करो)। वहाँ (खेती के कर्म में) गायें हैं तथा वहाँ (खेती के कर्म में) तेरी स्त्री है। (खेती करने से जुए में हार गए तुम्हारे पशु मिल जायेंगे और जुआ खेलने के कारण अन्यत्र गयी तुम्हारी पत्नी तुम्हें मिल जायेगी)- यह मुझसे श्रेष्ठ सविता देवता ने समझा कर कहा है।

व्याकरण– दीव्यः - ✓दिव् (जुआ खेलना) + लुङ् (अट् रहित), म.पु.एक.; 'मा' के कारण अट् का अभाव। **कृषस्व** - ✓कृष् (खींचना) + लोट्, म.पु.एक., वैदिक रूप। **रमस्व**- ✓रम् (रमण करना) + लोट् म. पु., एक.। **चष्टे** - ✓चक्ष् (देखना, कहना) + लट्, प्र.पु.एक.।

मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु।
नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु।।१४।।

पदपाठ– मित्रम्। कृणुध्वम्। खलु। मृळत। नः। मा। नः। घोरेण। चरत। अभि। धृष्णु। नि। वः। नु। मन्युः। विशताम्। अरातिः। अन्यः। बभ्रूणाम्। प्रऽसितौ। नु। अस्तु।।१४।।

सायणभाष्य– हे अक्षाः यूयं मित्रं कृणुध्वं। अस्मासु मैत्रीं कुरुत। खलु इति पादपूरणः। न अस्मान् मृळत सुखयत च। नः अस्मान् धृष्णु धृष्णुना तृतीयार्थे प्रथमा। घोरेण असह्येन मा अभिचरत मा गच्छत। किंच वः युष्माकं मन्युः क्रोधः अरातिः अस्माकं शत्रुः नि निशताम् अस्मच्छत्रुषु तिष्ठतु। अन्यः अस्माकं शत्रुः कश्चित् बभ्रूणां बभ्रुवर्णानां युष्माकं प्रसितौ प्रबन्धने नु क्षिप्रं अस्तु भवतु।।

अन्वय– मित्रम् कृणुध्वम्, खलु नः मृळत, घोरेण मा अभिचरत। नु वः मन्युः अरातिः नि विशताम् नु अन्यः बभ्रूणाम् प्रबन्धने प्रसितौ अस्तु।

शब्दार्थ– मित्रम् = मित्र, मित्रता। **कृणुध्म्** = करो, बनाओ। **खलु** = पादपूर्ति के लिए निपात। **नः** = हमारे ऊपर। **मृळत** = दया करो। **घृष्णु** = दबा लेने वाले, अभिभूत करने वाले। **घोरेण** = भयङ्कर प्रभाव से, भयङ्कर जादू से। **मा** = मत। **अभिचरत** = अभिचार करो, **नु** = अब। **वः** = तुम्हारा। **मन्युः** = क्रोध। **अरातिः** = शत्रुता। **निविशताम्** = रुक जाय, शान्त हो जाय। **नु** = अब। **अन्यः** = दूसरा। **बभ्रूणाम्** = भूरे (पासों) के। **प्रसितौ** = बन्धन में, जाल में। **अस्तु** = होवे, पड़े।

अनुवाद– (हे पासो! अब मुझको) मित्र बना लो, हमारे ऊपर दया (कृपा) करो। अपने दबा लेने वाले तथा भयङ्कर प्रभाव से हमें मोहित न करो (हमारे ऊपर अभिचार न करो)। तुम्हारा क्रोध और तुम्हारी शत्रुता अब शान्त हो जाय। अब कोई दूसरा व्यक्ति भूरे (पासों) के बन्धन (जाल) में न पड़े।

व्याकरण– कृणुध्वम् (लौकिक संस्कृत) - ✓कृ + लोट्, म.पु., बहु। **मृळत** - ✓मृड् (दया करना, सुख देना) + लोट्, म.पु., बहु.। **विशताम्**- ✓विश + लोट्, प्र.पु.एक.। **प्रसितौ** - प्र + ✓सि (बाधना) क्तिन् (लि.) + स. एक.। **अरातिः** - न रातिः अरातिः (नञ् तत्पुरुष स.) ✓रा (देना) + क्तिन् (ति) प्र. एक व.।

●

पुरुषसूक्तम् (ऋ. १०/९०)

ऋषि-नारायण, देवता-पुरुष, छन्द १-१५ अनुष्टुप्, १६-त्रिष्टुप्

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सभूमिं विश्वतों वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।१।।

पदपाठ– **सहस्रऽशीर्षा। पुरुषः। सहस्रऽअक्षः। सहस्रऽपात्। सः। भूमिम्। विश्वतः। वृत्वा। अति। अतिष्ठत्। दशऽअङ्गुलम्।।१।।**

सायणभाष्य– सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः सोऽयं सहस्रशीर्षा सहस्रशब्दस्योपलक्षणत्वादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः। यानि सर्वप्राणिनां सिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात् तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम्। एवं सहस्राक्षित्वं सहस्रपादत्वं च। सः पुरुषः भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां विश्वतः सर्वतः वृत्वा परिवेष्ट्य दशांगुलं दशांगुलपरिमितं देशम् अत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः। दशांगुलमित्युपलक्षणम्। ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः।

अन्वय– पुरुषः सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात्, सः भूमिं विश्वतो वृत्वा दशांगुलम् अत्यतिष्ठत्।

शब्दार्थ– **पुरुषः** = परमेश्वर, परमात्मा, आदि पुरुष, विराट् पुरुष। **सहस्रशीर्षा** = हजार (अनन्त, असंख्य) सिरों वाला। **सहस्राक्षः** = हजार (अनन्त, असंख्य) आँखों (नेत्रों) वाला। **सहस्रपात्** = हजार (अनन्त, असंख्य) पैरों वाला। **सः** = वह। **भूमिम्** = भूमि को, समग्र ब्रह्माण्ड को। **विश्वतो वृत्वा** = सभी ओर से (या पूर्ण रूप से) व्याप्त करके अथवा घेरकर अथवा आच्छादित करके। **दशांगुलम्** = दश अंगुल। **अत्यतिष्ठत्** = अधिक होकर स्थित है।

अनुवाद– परम पुरुष हजार सिरों वाला, हजार आँखों (नेत्रों) वाला और हजार पैरों वाला है। वह पृथिवी (अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड) को सभी ओर से (या पूर्ण रूप से) व्याप्त करके (घेरकर) दस अङ्गल (परिणाम में) अधिक होकर स्थित है (ब्रह्माण्ड से बाहर स्थित है- ब्रह्माण्ड को भीतर और बाहर से व्याप्त किए हुए है)।

व्याकरण– **सहस्रशीर्षा** - सहस्रशीर्षाणि यस्य सः (बहु.); **सहस्राक्षः** - सहस्रम् अक्षीणि यस्य सः (बहु.)। **सहस्रपात्** - सहस्रम् पादाः यस्य सः (बहु.)। **वृत्वा** - ✓वृ + क्त्वा (त्वा)। **दशाङ्गुलम्** - दशानाम् अङ्गुलीनां समाहारः (द्विगु.)। **अतिष्ठत्** - ✓स्था + लङ्, प्र. पु.एक.।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।२।।

पदपाठ– पुरुषः। एव। इदम्। सर्वम्। यत्। भूतम्। यत्। च। भव्यम्। उत। अमृतऽत्वस्य। ईशानः। यत्। अन्नेन। अतिऽरोहति।।२।।

सायणभाष्य– यदिदं वर्तमानं जगत् तत् सर्वं पुरुष एव। यच्च भूतम् अतीत जगद् यच्च भव्यं भविष्यज्जगत् तदपि पुरुष एव। यथास्मिन् कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवास्तथैवातीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यम् इत्यभिप्रायः। उतापि च अमृतत्वस्य देवत्वस्यायम् ईशानः स्वामी। यद् यस्मात् कारणात् अन्नेन प्राणिनां भोग्येनान्नेन निमित्तभूतेनातिरोहति स्वकीयां कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति तस्मात् प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारान्नेदं वस्तुत्वमित्यर्थः।।

अन्वय– इदं सर्वम् पुरुष एव, यत् भूतम्, यत् च भव्यम्, उत अमृत्वस्य ईशानः यत् अन्नेन अतिरोहति।

शब्दार्थ– इदम् सर्वम् = यह सब कुछ (दृश्यमान जगत्)। **पुरुष एव** = पुरुष ही। **यत्** = जो कुछ। **भूतम्** = (भूतकाल में) हो चुका है। **यत् च** = और जो कुछ। **भव्यम्** = (भविष्य में) होने वाला है। **उत** = और, इसके अतिरिक्त। **अमृतत्वस्य** = अविनश्वरता का, अमरता का। **ईशानः** = अधिपति, अधिष्ठाता। **यत्** = जो। **अन्नेन** = अन्न से, भोग्य वस्तु से। **अतिरोहति** = वृद्धि को प्राप्त करता है, बढ़ता है।

अनुवाद– यह सब कुछ (दृश्यमान जगत्) पुरुष ही है (अर्थात् पुरुष का ही रूप है) जो कुछ हो चुका है और जो कुछ होने वाला है (वह भी सब पुरुष ही है)। इसके अतिरिक्त (पुरुष) अविनश्वरता (अमरता) का अधिपति है; जो अन्न से (भोग्य वस्तु से) वृद्धि को प्राप्त करता है (बढ़ता है) (उसका भी अधिष्ठाता पुरुष ही है)।

व्याकरण– भव्यम् - ✓भू + यत् (य)। **ईशानः** = ✓ईश + शानच् प्र. एक.। **अतिरोहति** - अति ✓रुह् + लट्, प्र.पु.एक.।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।३।।

पदपाठ– एतवान्। अस्य। महिमा। अतः। ज्यायान्। च। पुरुषः। पादः। अस्य। विश्वा। भूतानि। त्रिऽपात्। अस्य। अमृतम्। दिवि।।३।।

सायण-भाष्य– अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद् यावदस्ति, एतावान् सर्वोऽप्यस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः न तु तस्य वास्तवं स्वरूपम्। वास्तवस्तु पुरुषः अतो महिम्नोऽपि ज्यायान् अतिशयेनाधिकः। एतच्चोभयं स्पष्टीक्रियते। अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादश्चतुर्थांऽशः। अस्य पुरुषस्यावशिष्टं त्रिपात् स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं सद् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे। व्यवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. आ. ८/१, तै. उ. २/१) इत्याम्नातस्य (आम्नानात्) परब्रह्मण इयत्ताभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात् पादत्वोपन्यासः।।

अन्वय– एतवान् अस्य महिमा पुरुषः च अतः ज्यायान्, विश्वा भूतानि अस्य पादः, अस्य त्रिपात् अमृतं दिवि।

शब्दार्थ– एतावान् = इतना, इतनी। **अस्य** = इस (पुरुष) की। **महिमा** = महिमा, ऐश्वर्य। **पुरुषः च** = और पुरुष। **अतः ज्यायान्** = इस (महिमा, ऐश्वर्य) से भी बड़ा। **विश्वा भूतानि** = समग्र प्राणी, समस्त सृष्टि। **अस्य पादः** = उसका चतुर्थ अंश। **अस्य त्रिपात्** = इसका तीन-चतुर्थांश, तीन चौथाई भाग। **अमृतं दिवि** = अमृत रूप से द्युलोक में (है)।

अनुवाद– इतनी इस (पुरुष) की महिमा हैं और पुरुष इस महिमा, ऐश्वर्य से भी बड़ा है। समग्र प्राणी (समस्त सृष्टि) इसका चतुर्थ अंश मात्र है। उसका तीन-चतुर्थांश अमृत (अविनश्वर) रूप से द्युलोक में अवस्थित है।

व्याकरण– एतावान् - एतत् + वतुप् (वत्)। **ज्यायान्** - ज्य (प्रशस्य या वृद्ध) + ईयसुन्। **विश्वा** - विश्व शब्द, नपु., प्र. बहु. का वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में विश्वानि रूप बनता है।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि।।४।।

पदपाठ– त्रिऽपात्। ऊर्ध्वः। उत्। ऐत्। पुरुषः। पादः। अस्य। इह। अभवत्। पुनरिति। ततः। विष्वङ्। वि। अक्रामत्। साशनानशने इति। अभि।।४।।

सायणभाष्य– योऽयं त्रिपात् पुरुषः संसार रहितो ब्रह्मस्वरूपः सोऽयम् उर्ध्वं उदैत्। अस्मादज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान्। तस्यास्य सोऽयं पादो लेशः सोऽयम् इह मायायां पुनरभवत्। सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति। अस्य सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तम्- विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।" (भ. गी. १०/४२) इति। ततो मायायामागत्यानन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यकामद् व्याप्तवान्। किं कृत्वा? साशनानशने [अभि] अभिलक्ष्य साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतचेतनं प्राणिजातम्। अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम्। तदुभयं यथा स्यातथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः।

अन्वय– त्रिपात् पुरुषः उर्ध्वः उदैत्, पुनः अस्य पादः इह अभवत्, ततः साशनानशने अभि विष्वङ् व्यक्रामत्।

शब्दार्थ– त्रिपात् = तीन पादों से युक्त, तीन चौथाई भाग के साथ। **पुरुषः** = पुरुष। **ऊर्ध्वः** = ऊर्ध्ववर्ती या द्युलोकवर्ती। **उदैत्** = ऊपर को उठ गया। **पुनः** = फिर भी। **अस्य पादः** = इस (पुरुष) का एक-चतुर्थ अंश। **इह** = यहाँ। **अभवत्** = हो गया, रह गया है। ततः = उससे। **साशनानशने** = भोजन करने वाला (अर्थात् चेतन वर्ग) और भोजन न करने वाला (अर्थात् अचेतन या जड़ वर्ग)। **अभि** = पर्यन्त। **विष्वङ्** = विविध रूपों वाला, सर्वत्र। **व्यक्रामत्** = व्याप्त हुआ, व्याप्त होकर स्थित है।

अनुवाद– तीन पादों से युक्त (तीन चौथाई भाग के साथ) पुरुष ऊर्ध्ववर्ती होकर ऊपर को उठा (ऊपर द्युलोक में चला गया)। फिर भी इसका एक चतुर्थांश यहीं रह गया। वह (पुरुष) भोजन करने वाले (अर्थात् चेतन वर्ग) और भोजन न करने वाले (अर्थात् अचेतन वर्ग) पर्यन्त विविध रूपों में सर्वत्र व्याप्त हो गया।

व्याकरण– उदैत् - उत् + ✓इ, लङ्, प्र. पु., एक.। **व्यक्रामत्** - वि + ✓क्रम्, लङ्, म. पु., एक.। **साशनाशने (द्विवचन)** - ✓ अश् + ल्युट्; अशनेन सहितम् साशनम्, अशनेन रहितम् अनशनम्, साशनम् च अनशनम्, चेति (द्वन्द्व समास)।

तस्मा॑द् वि॒राळ॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः।
स जा॒तो अत्य॑रिच्यत प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः।।५।।

पदपाठ– तस्मा॑त्। वि॒ऽराट्। अ॒जा॒य॒त। वि॒ऽराजः॑। अधि॑। पूरु॑षः। सः। जा॒तः। अति॑। अ॒रि॒च्य॒त। प॒श्चात्। भूमि॑म्। अथो॒। इति॑। पु॒रः।।५।।

सायणभाष्य– विष्वङ् व्यक्रामदिति यदुक्तं तदेवात्र प्रपञ्च्यते। अस्माद् आदिपुरुषात् विराट् ब्रह्माण्डदेहः अजायत उत्पन्नः। विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्। विराजोऽधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषस्तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमान् अजायत। सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः स्वयमेव (आत्मा स एव) स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत्। एतच्चाथर्वणिका उत्तरतापनीये विस्पष्टमामनन्ति- "स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते अतिरिक्तोऽभूत। विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत्। पश्चात् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः। अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः ससर्ज। पूर्यन्ते सप्तधातुभिरिति पुरः शरीराणि।।

अन्वय– तस्मात् विराट् अजायत, विराजः अधिपूरुषः। सः जातः भूमिम् अथो पुरः अत्यरिच्यत।

शब्दार्थ– तस्मात् = उस (पुरुष) से। **विराट्** = (परम पुरुष से उत्पन्न) प्रथम तत्त्व व्यक्त जगत्। **अजायत** = उत्पन्न हुआ, आविर्भूत हुआ, उद्भूत हुआ। **विराजः** = विराट नामक प्रथम तत्त्व के। **अधिपुरुषः** = अधिष्ठाता के रूप में पुरुष, जीवात्मा। **सः** = वह। **जातः** = उत्पन्न होकर। **भूमिम्** = पृथिवी, जगत् के। **पश्चात्** = पीछे। **अथो** = और। **पुरः** = आगे। **अत्यरिच्यत्** = अतिक्रमण कर गया, सबसे आगे बढ़ गया।

अनुवाद– उस (आदि पुरुष) से विराट् (परम पुरुष से उत्पन्न प्रथम) तत्त्व, व्यक्त जगत् उत्पन्न हुआ। विराट् (नामक प्रथम तत्त्व, व्यक्त जगत्) के अधिष्ठाता के रूप में पुरुष (जीवात्मा) (उत्पन्न हुआ)। वह उत्पन्न होकर जगत् के पीछे और आगे अतिक्रमण कर गया (अर्थात् सबसे आगे बढ़ गया)।

व्याकरण– विराट् - वि + ✓राज् + क्विप्; दो स्वरों के मध्य में स्थित ड् को ळ् हो गया है। **अजायत** - ✓जन् + लङ्, प्र.पु.एक.। **अत्यरिच्यत** - अति +✓रिच् +लङ्, प्र. पु., एक.।

यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत।
व॒स॒न्तो अ॑स्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्म इ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः।।६।।

पदपाठ– यत्। पुरु॑षेण। ह॒विषा॑। दे॒वाः य॒ज्ञम्। अत॑न्वत। व॒स॒न्तः। अ॒स्य॒। आ॒सी॒त्। आज्य॑म्। ग्री॒ष्मः। इ॒ध्मः। श॒रत्। ह॒विः।।६।।

सायणभाष्य– यद् यदा पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु देवा उत्तरसृष्टिसिद्ध्यर्थं बाह्यद्रव्यानुत्पन्नत्वेन हविरन्तरासम्भवात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन सङ्कल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञमतन्वतान्वतिष्ठन्। तदानीमस्य यज्ञस्य वसन्तो वसन्ततुरिवाज्यम् आसीत् [अभूत्]। तमेवाज्यत्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। एवं ग्रीष्म इध्म आसीत्। तथा शरद् हविरासीत्। पूर्वपुरुषस्य हविःसामान्यरूपत्वेन सङ्कल्पः। अनन्तरं वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन सङ्कल्प इति द्रष्टव्यम्।।

अन्वय– यत् देवाः पुरुषेण हविषा यज्ञम् अतन्वत। अस्य वसन्तः आज्यम् आसीत्, ग्रीष्मः इध्मः, शरत् हविः (चासीत्)।

शब्दार्थ– यत् = जब। **देवाः** = देवताओं, दिव्य शक्तियों ने। **पुरुषेण हविषा** = पुरुष रूप हवि के द्वारा। **यज्ञम्** = यज्ञ को, सृष्टिरूप यज्ञ को। **अतन्वत** = विस्तार किया, सम्पन्न किया। **अस्य** = इस (इस यज्ञ का)। **वसन्तः** = वसन्त ऋतु। **आज्यम्** = घृत। **आसीत्** = था। **ग्रीष्मः** = ग्रीष्म ऋतु। **इध्मः** = ईंधन। **शरद्** = शरद् ऋतु। **हविः (चासीत्)** = हविष्य।

अनुवाद– जब देवताओं ने पुरुष (रूपी) हविष्य से यज्ञ किया (उस समय) वसन्त ऋतु इस (यज्ञ) का घृत था, ग्रीष्म ऋतु ईंधन (था) (और) शरद् ऋतु हविष्य थी।

व्याकरण– अतन्वत् - ✓तन् (विस्तार करना) + लङ् प्र.पु., एक.।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।।७।।

पदपाठ– तम्। यज्ञम्। बर्हिषि। प्र। औक्षन्। पुरुषम्। जातम्। अग्रतः। तेन। देवाः। अयजन्त। साध्याः। ऋषयः। च। ये।।७।।

सायणभाष्य– यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः। कीदृशमित्यत्राह अग्रतः। सर्वसृष्टेः पूर्वं पुरुषं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम्। एतच्च प्रागेवोक्तम्- तस्माद् विराडजायत विराजो अधिपूरुषः' इति। तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अजयन्त। मानसं यागं निष्पादितवन्त इत्यर्थः। के ते देवा इत्यत्राह। साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयस्तदनुकूला ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च ये सन्ति। ते सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः।।

अन्वय– अग्रतः जातम् तम् यज्ञम् पुरुषम् बर्हिषि प्रौक्षन् तेन देवाः ये साध्याः ऋषयः च अयजन्त।

शब्दार्थ– अग्रतः = सर्वप्रथम। **जातम्** = उत्पन्न, उद्भूत। **तम् यज्ञम्** = उस यज्ञ अर्थात् यज्ञसाधनभूत। **पुरुषं** = पुरुष को। **बर्हिषि** = कुशाओं पर। **प्रौक्षन्** = प्रौक्षण किया, जल से अभिषेक किया। **तेन** = उस (प्रोक्षित पुरुष) से। **देवाः** = देवताओं (दिव्य शक्तियों) ने। **ये साध्याः** = जो प्रजापति आदि सृष्टिकर्त्ता (थे, उन्होंने)। **च** = और। **ऋषयः** = ऋषियों ने, यज्ञकर्त्ताओं ने। **अयजन्त** = यज्ञ (यजन) किया।

अनुवाद– सर्वप्रथम उत्पन्न उस यज्ञसाधनभूत (यज्ञीय) पुरुष का (देवताओं ने) कुश पर प्रोक्षण किया (अर्थात् पुरुष को कुश पर रखकर जल छिड़ककर उसे पवित्र किया)। उस (प्रोक्षित पुरुष) से देवताओं (दिव्य शक्तियों) ने, जो प्रजापति आदि सृष्टिकर्त्ता (थे) उन्होंने और (यज्ञकर्त्ता) ऋषियों ने यज्ञ (यजन) किया।

व्याकरण– प्रौक्षन् = प्र + ✓ उक्ष् (छिड़कना) + लङ्, प्र.पु., बहु.। **अयजन्त** = ✓ यज् + लङ्, प्र.पु.बहु.।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशून्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये।।८।।

पदपाठ– तस्मात्। यज्ञात्। सर्वऽहुतः। सम्ऽभृतम्। पृषत्ऽआज्यम्।। पशून्। तान्। चक्रे। वायव्यान्। आरण्यान्। ग्राम्याः। च। ये।।८।।

सायण-भाष्य– सर्वहुतः। सर्वात्मकः पुरुषो यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत्। तादृशात् तस्मात् पूर्वोक्तान्मानसाद् यज्ञात् पृषदाज्यं दधिमिश्रमाज्यं सम्भृतं सम्पादितम्। दधि चाज्यं चेत्येवमादिभोग्यजातं सर्वसम्पादितमित्यर्थः। तथा वायव्यान् वायुदेवताकाँल्लोकप्रसिद्धान् आरण्यान् पशूंश्चक्र उत्पादितवान्। आरण्या हरिणादयः। तथा ये च ग्राम्या गवाश्वादयस्तानपि चक्रे। पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्यत्वं यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते– "वायवः स्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः। अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः वायव एवैनान् परिददति" (तै.ब्रा.३।२।१।३) इति।।

अन्वय– सर्वहुतः तस्मात् यज्ञात् पृषदाज्यम् सम्भृतम्, वायव्यानि आरण्यानि ये च ग्राम्याः तान् चक्रे।

शब्दार्थ– सर्वहुतः = जिसमें सभी कुछ होम (हवन) कर दिया गया ऐसे; जिसमें सर्वात्मक पुरुष को होम किया गया ऐसे। **तस्मात्** = उससे। **यज्ञात्** = यज्ञ से। **पृषदाज्यम्** = दधिमिश्रित घी (घृत)। **सम्भृतम्** = इकट्ठा किया गया, उत्पन्न किया गया। **वायव्यान्** = वायु में विचरण करने वाले, अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले। **आरण्यान्** = वन्य पशुओं को, जङ्गलों में रहने वाले पशुओं को। **ये च** = और जो। **ग्राम्याः** = ग्राम्य पशु, गावों में रहने वाले पशु। **तान्** = उन्हें। **चक्रे** = उत्पन्न किया।

अनुवाद– जिसमें सभी कुछ होम (हवन) कर दिया गया (जिसमें सर्वात्मक पुरुष को होम किया गया) उस यज्ञ से दधिमिश्रित घृत इकट्ठा किया गया (उत्पन्न किया गया), (उस दधिमिश्रित घृत से उस पुरुष ने) वायु में विचरण करने वाले (पक्षियों), वन्य पशुओं और जो ग्राम्य पशु हैं, उन्हें उत्पन्न किया।

व्याकरण– सर्वहुतः = सर्वं हूयते यस्मिन्; सर्व + ✓ हू + क्विप्, पं. एक.। **पृषदाज्यम्** = ✓ पृष् + शतृ = पृषत् च तद् आज्यम् च (कर्म.)। **सम्भृतम्** = सम् + ✓ भृ + क्त। **वायव्यान्** = वायु + यत् + द्वि.व.। **आरण्यान्** = अरण्य + अण् द्वि. व.। **ग्राम्याः** = ग्राम + यत् प्र.व.। **चक्रे** = ✓ कृ + लिट्, प्र.पु., एक.आ.प.।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।९।।

पदपाठ– तस्मात्। यज्ञात्। सर्वऽहुतः। ऋचः। सामानि। जज्ञिरे। छन्दांसि। जज्ञिरे। तस्मात्। यजुः तस्मात्। अजायत।।९।।

सायणभाष्य– सर्वहुतस्तस्मात् पूर्वोक्ताद् यज्ञाद् ऋचः सामानि (च) जज्ञिरे उत्पन्नाः। तस्माद् यज्ञात् छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे। तस्मात् यज्ञात् यजुरपि अजायत।।

अन्वय– सर्वहुतः तस्मात् यज्ञात् ऋचः सामानि जज्ञिरे, तस्मात् छन्दांसि तस्मात् यजुः अजायत।

शब्दार्थ– सर्वहुतः = जिसमें सभी कुछ हवन कर दिया गया है ऐसे। **तस्मात्** = उससे। **यज्ञात्** = यज्ञ से। **ऋचः** = ऋचाएँ। **सामानि** = साम। **जज्ञिरे** = उत्पन्न हुए। **तस्मात्** = उससे। **छन्दांसि** = (गायत्र्यादि) छन्द। **तस्मात्** = उससे। **यजुः** = यजुष्, यजुर्वेद के मन्त्र। **अजायत** = उत्पन्न हुआ।

अनुवाद– जिसमें सभी कुछ होम कर दिया गया (अथवा जिसमें सर्वात्मा पुरुष को होम किया गया) ऐसे उस यज्ञ से ऋचायें (ऋग्वेद के मन्त्र) तथा साम (सामवेद के मन्त्र) उत्पन्न हुए; उससे (गायत्र्यादि) छन्द उत्पन्न हुए और उससे यजुष् (यजुर्वेद के मन्त्र) उत्पन्न हुए।

व्याकरण– जज्ञिरे = ✓ जन् (उत्पन्न होना) + लिट्, प्र.पु., बहु.। **अजायत** = ✓ जन् + लङ्, प्र.पु., एक.।

तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त॒ ये के चो॑भ॒याद॑तः।
गावो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॒त् तस्मा॑ज्जा॒ता अ॑जा॒वयः॑।। १०।।

पदपाठ– तस्मा॑त्। अश्वाः॑। अ॒जा॒य॒न्त॒। ये। के। च॒। उ॒भ॒याद॑तः। गावः॑। ह॒। ज॒ज्ञि॒रे॒। तस्मा॑त्। तस्मा॑त्। जा॒ताः। अ॒जा॒वयः॑।। १०।।

सायणभाष्य– तस्मात् पूर्वोक्ताद्यज्ञात् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः। तथा ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च उभयादतः ऊर्ध्वाधोभागयोरुभयोः दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त। तथा तस्माद् यज्ञात् गावश्च जज्ञिरे। किंच तस्माद् यज्ञाद् अजावयः च जाताः।।

अन्वय– तस्मात् अश्वाः अजायन्त, ये के च उभयादतः, तस्मात् ह गावः जज्ञिरे, तस्मात् अजावयः जाता।

शब्दार्थ– तस्मात् = उससे। **अश्वाः** = घोड़े। **अजायन्त** = उत्पन्न हुए। **ये के च** = जो कोई और। **उभयादतः** = दोनों ओर दाँत वाले। **तस्मात्** = उससे। **ह** = निश्चित अर्थ का वाचक निपात। **गावः** = गायें। **जज्ञिरे** = उत्पन्न हुई। **तस्मात्** = उससे। **अजावयः** = बकरियाँ तथा भेड़ें। **जाता** = उत्पन्न हुईं।

अनुवाद– उस (यज्ञ) से घोड़े उत्पन्न हुए और जो कोई ऊपर-नीचे दोनों ओर दाँतों वाले (गधे आदि पशु हैं, वे भी उत्पन्न हुए)। उससे गायें उत्पन्न हुई। उससे बकरियाँ तथा भेड़ें उत्पन्न हुई।

व्याकरण– अजायन्त = ✓ जन् + लङ्, प्र.पु., बहु.। **उभयादतः** = उभयोः दन्ताः येषां ते (बहु.)। **जज्ञिरे** = ✓ जन् + लिट्, प्र. पु., बहु.। **अजावयः** = अजाश्च अवयश्च (द्वन्द्व समास)।

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन्।
मुखं॒ किम॑स्य॒ कौ बा॒हू का ऊ॒रू पादा॑ उच्येते।। ११।।

पदपाठ– यत्। पुरुषम्। वि। अदधुः। कतिधा। वि। अकल्पयन्। मुखम्। किम्। अस्य। कौ। बाहू इति। कौ। ऊरू इति। पादौ। उच्येते इति।। ११।।

सायणभाष्य– प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवाः यत् यदा पुरुषं विराड्रूपं व्यदधुः सङ्कल्पेनोत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः। अस्य पुरुषस्य मुखं किम् आसीत्। कौ बाहू अभूताम्। का ऊरू। का च पादावुच्येते। प्रथमं सामान्यरूपः प्रश्नः पश्चात् मुखं किमित्यादिना विशेषविषयाः प्रश्नाः।।

अन्वय– यत् पुरुषम् व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्, अस्य मुखम् किम्, अस्य बाहू कौ, ऊरू कौ पादौ उच्येते।

शब्दार्थ– यत् = जब, जिस समय। **पुरुषम्** = (देवताओं ने उस विराट्) पुरुष को। **व्यदधुः** = विभक्त किया, अलग-अलग हिस्सों में बाँटा। **कतिधा** = कितने भागों में, कितने रूपों में। **व्यकल्पयन्** = विविधरूप से कल्पित किया, बाँटा। **अस्य** = इसका, उसका। **मुखम्** = मुख। **किम्** = क्या (था)। **अस्य** = इसकी, उसकी। **बाहू** = भुजाएँ। **कौ** = कौन (थीं)। **ऊरू** = जंघाएँ। **कौ** = कौन। **पादौ** = पैर। **उच्येते** = कहे जाते हैं।

अनुवाद– जिस समय (देवताओं ने) (उस विराट्) पुरुष को विभक्त किया (उस समय) (उसकी) कितने भागों में (रूपों में) विविध रूप से कल्पित किया (बाँटा)। इस (पुरुष) का मुख क्या (या); इसकी भुजाएँ कौन (थीं)? (इसकी) जंघाएँ (और) पैर क्या कहे जाते है?

व्याकरण– व्यदधुः = वि + ✓ धा + लङ्, प्र.पु., बहुव.। **व्यकल्पयन्** = वि + ✓ क्लृप् + णिच् + लङ्, प्र. पु., बहुव.। **उच्येते** = ✓ ब्रू (वच्), कर्मवाच्य, लट्, प्र.पु., द्विव.।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।। १२।।

पदपाठ– ब्राह्मणः। अस्य। मुखम्। आसीत्। बाहू। इति। राजन्यः। कृतः। ऊरू इति। तत्। अस्य। यत्। वैश्यः। पत्ऽभ्याम्। शूद्रः। अजायत।। १२।।

सायण-भाष्य– इदानीं पूर्वोक्तानां प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति। अस्य प्रजापतेःब्राह्मणो ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत्। मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान् पुरुषः स बाहुकृतो बाहुत्वेन निष्पादितः। बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तत् तदानीम् अस्य प्रजापतेर्यद् (यौ) ऊरू तद्रूपो वैश्यः सम्पन्नः। ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः। तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषः अजायत। इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजुःसंहितायां सप्तमकाण्डे "स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत" (तै.सं. ७।१।१।४) इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता। अतः प्रश्नोत्तरे उभे तत्परतयैव योजनीये।।

अन्वय– ब्राह्मणः अस्य मुखम् आसीत्, राजन्यः बाहू कृतः, यत् वैश्यः, तत् अस्य ऊरू पद्भ्याम् शूद्रः अजायत।

शब्दार्थ– ब्राह्मणः = ब्राह्मण। **अस्य** = इस (पुरुष) का। **मुखम्** = मुख। **आसीत्** = था। **राजन्यः** = क्षत्रिय। **बाहू** = दोनों भुजाएँ। **कृतः** = बनाया गया, उत्पन्न हुआ। **तत्** = वह।

अस्य = इसकी। **ऊरू** = जंघाएँ। **यत्** = जो। **वैश्यः** = वैश्य। **पद्भ्याम्** = पैरों से। **शूद्रः** = शूद्र। **अजायत** = उत्पन्न हुआ।

अनुवाद– ब्राह्मण इस (पुरुष) का मुख था (अर्थात् मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुआ)। क्षत्रिय दोनों भुजाओं को बनाया गया (दोनों भुजाओं से क्षत्रिय को बनाया गया), जो वैश्य है वह इसकी जंघाओं के रूप में था (जंघाओं से वैश्य उत्पन्न हुआ), दोनों पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ।

व्याकरण– आसीत् = ✓ अस् + लङ्, प्र.पु., एक.।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत।। १३।।

पदपाठ– चन्द्रमाः। मनसः। जातः। चक्षोः। सूर्यः। अजायत। मुखात्। इन्द्रः। च। अग्निः। च। प्राणात्। वायुः। अजायत।। १३।।

सायण-भाष्य– यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि गवादयः पशव ऋगादिवेदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एवं चन्द्रादयो देवा अपि अस्माद्देवोत्पन्ना इत्याह। प्रजापतेर्मनसः सकाशाच्चन्द्रमा जातः। चक्षोश्च चक्षुषः सूर्योऽप्यजायत। अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवावुत्पन्नौ। अस्य प्राणाद् वायुरजायत्।।

अन्वय– मनसः चन्द्रमाः जातः, चक्षोः सूर्यः अजायत, मुखात् इन्द्रः च अग्निः च, प्राणात् वायुः अजायत।

शब्दार्थ– मनसः = मन से। **चन्द्रमाः** = चन्द्रमा। **जातः** = उत्पन्न हुआ। **चक्षोः** = नेत्र से। **सूर्यः** = सूर्य। **अजायत** = उत्पन्न हुआ। **मुखात्** = मुख से। **इन्द्रः** = इन्द्र। **च** = और। **अग्निः** = अग्नि। **च** = तथा। **प्राणात्** = प्राणों से। **वायुः** = वायु। **अजायत** = उत्पन्न हुआ।

अनुवाद– (पुरुष के) मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुआ। मुख से इन्द्र और अग्नि (उत्पन्न हुआ) तथा प्राणों से वायु उत्पन्न हुआ।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्।। १४।।

पदपाठ– नाभ्याः। आसीत्। अन्तरिक्षम्। शीर्ष्णः। द्यौः। सम्। अवर्तत। पत्ऽभ्याम्। भूमिः। दिशः। श्रोत्रात्। तथा। लोकान्। अकल्पयन्।। १४।।

सायण-भाष्य– यथा चन्द्रादीन् प्रजापतेर्मनः प्रभृतिभ्योऽकल्पयन् तथान्तरिक्षादीन् लोकान् प्रजापतेः नाभ्यादिभ्यो देवाः अकल्पयन् उत्पादितवन्तः। एतदेव दर्शयति। नाभ्याः प्रजापतेर्नाभेः अन्तरिक्षमासीत्। शीर्ष्णः शिरसः द्यौः समवर्तत उत्पन्नः। अस्य पद्भ्यां पादाभ्यां भूमिः उत्पन्ना। अस्य श्रोत्रात् दिशः उत्पनाः।।

अन्वय– नाभ्याः अन्तरिक्षम् आसीत्, शीर्ष्णः द्यौः समवर्तत, पद्भ्याम् भूमिः, श्रोत्रात् दिशः, तथा लोकान् अकल्पयन्।

शब्दार्थ– नाभ्याः = नाभि से। **अन्तरिक्षम्** = अन्तरिक्ष। **आसीत्** = था, उत्पन्न हुआ। **शीर्ष्णः** = शीर्ष से, सिर से। **द्यौः** = द्युलोक। **समवर्तत** = उत्पन्न हुआ, उद्भूत हुआ।

पद्भ्याम् = पैरों से। **भूमिः** = भूमि। **श्रोत्रात्** = कान से, कानों से। **दिशः** = दिशाएँ। **तथा** = उस प्रकार। **लोकान्** = लोकों की (को)। **अकल्पयन्** = कल्पित किया, कल्पना की, सृष्टि की, रचना की।

अनुवाद– (पुरुष की) नाभि से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ, सिर से द्युलोक उत्पन्न हुआ। पैरों से भूमि और कानों से दिशाएँ (उत्पन्न हुई)। इस प्रकार (उन्होंने) लोकों की रचना की।

व्याकरण– समवर्तत = सम् + ✓ वृत् + लङ्, प्र.पु., एक.। **अकल्पयन्** = ✓ क्लृप् (बनाना, निर्माण करना) + लङ्, प्र.पु., बहुव.।

स॒प्तास्या॑सन् परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः।
दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न् पुरु॑षं प॒शुम्।।१५।।

पदपाठ– स॒प्त। अ॒स्य॒। आ॒स॒न्। प॒रि॒ऽधयः॑ त्रिः। स॒प्त। स॒म्ऽइधः॑। कृ॒ताः। दे॒वाः। यत्। य॒ज्ञम्। त॒न्वा॒नाः। अब॑ध्नन्। पुरु॑षम्। प॒शुम्।।१५।।

सायणभाष्य– अस्य साङ्कल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्तच्छन्दांसि परिधय आसन्। ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रयः परिधय उत्तरवेदिकास्त्रय आदित्यश्च सप्तमः परिधिप्रतिनिधिरूपः। अत एवाम्नायते- "न पुरस्तात् परिदधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्यपहन्ति" (तै. सं. २/६/६/३) इति। तत यत आदित्यसहिताः सप्तपरिधयोऽत्र सप्तछन्दोरूपाः। तथा समिधस्त्रिःसप्त त्रिगुणीकृत सप्तसङ्ख्याका एकविंशतिः कृता। "द्वादश मासा पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः" (तै.सं. ५/१/१०/३) इति श्रुताः पदार्था एकविंशतिदारुयुक्तेन्धनत्वेन भाविताः। यद् यः पुरुषो वैराजोऽस्ति तं पुरुषं देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपा यज्ञं तन्वाना मानसं यज्ञं तन्वानाः कुर्वाणाः पशुम् अवध्नन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः। एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र "यत्पुरुषेण हविषा" इत्युक्तम्।।

अन्वय– यत् देवाः यज्ञम् तन्वानाः पुरुषं पशुम् अबध्नन्, अस्य सप्त परिधयः आसन्, त्रिः सप्त समिधः कृताः।

शब्दार्थ– यत् = जब, जिस समय। **देवाः** = देवाताओं ने। **यज्ञम्** = यज्ञ (सृष्टि-उत्पत्ति रूप मानस यज्ञ) को। **तन्वानाः** = विस्तार करते हुए। **पुरुषं पशुम्** = पुरुषरूपी पशु को। **अबध्नन्** = बाँधा (ग्रहण किया)। **अस्य** = उस (यज्ञ पुरुष) की। **सप्त** = सात। **परिधयः** = परिधियाँ। **आसन्** = थीं। **त्रिःसप्त** = इक्कीस। **समिधः** = समिधाएँ। **कृताः** = की गईं, बनाई गईं।

अनुवाद– जिस समय देवताओं ने यज्ञ (सृष्टि-उत्पत्ति रूप मानस यज्ञ) का विस्तार करते हुए पुरुषरूपी पशु को बाँधा (अर्थात् ग्रहण किया), (उस समय) उस (यज्ञ-पुरुष) की सात परिधियाँ थीं (और) इक्कीस समिधायें बनाई गयीं।

व्याकरण– तन्वाना - ✓तन् + शानच्, प्रथमा, बहु.। **अबध्नन्** - ✓बन्ध् + लङ्, प्र.पु.बहु.।

विशेष– (१) परिधि का अर्थ है घेरा। यज्ञ में अग्नि को तीन ओर से लकड़ियों से घेरा जाता है। सायण के अनुसार इस मानसिक यज्ञ में गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्

और जगती- इन सात छन्दों की परिधियाँ बनायी गयीं। (२) इस मानसिक यज्ञ में इक्कीस समिधायें बनाई गयीं। ये इक्कीस थीं- १२ मास + ५ ऋतुएँ + ३ लोक + १ आदित्य।

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः।।१६।।

पदपाठ– य॒ज्ञेन॑। य॒ज्ञम्। अ॒य॒ज॒न्त॒। दे॒वाः। तानि॑। धर्मा॑णि। प्र॒थ॒मानि॑। आ॒स॒न्। ते। ह॒। नाक॑म्। म॒हि॒मानः॑। स॒च॒न्त॒। यत्र॑। पूर्वे॑। सा॒ध्याः। सन्ति॑। दे॒वाः।।१६।।

सायणभाष्य– पूर्व प्रपञ्चेनोक्तमर्थं सङ्क्षिप्यात्र दर्शयति। देवाः प्रजापतिप्राणरूप यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सङ्कल्पेन यज्ञं यथोक्तं यज्ञस्वरूपं प्रजापतिम् अयजन्त पूजितवन्तः। त(अ)स्मात् पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यासन्। एतावता सृष्टि प्रतिपादकसूक्तभागार्थः संगृहीतः। अथोपासनतत्फलानुवादकभागार्थः। संगृह्यते। यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाके पूर्वे साध्याः पुरातना विराडुपास्तिसाधकाः देवाः सन्ति तिष्ठन्ति तन्नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानस्तदुपासका महात्मानः सचन्त समवयन्ति प्राप्नुवन्ति।।

अन्वय– देवाः यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त, तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्। ते महिमानः ह नाकं सचन्त, यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति।

शब्दार्थ– देवाः = देवताओं ने। **यज्ञेन** = (मानस) यज्ञ के द्वारा। **यज्ञम्** = यज्ञस्वरूप प्रजापति का। **अजयन्त** = यजन किया, पूजा की। **तानि** = वे। **धर्माणि** = धर्म, नियम, सृष्टि-उत्पत्ति के विधान। **प्रथमानि** = सबसे मुख्य। **आसन्** = थे, हुए। **ते** = वे। **महिमानः** = महिमाशाली (उपासक)। **ह** = निश्चित रूप से। **नाकं** = स्वर्ग को। **सचन्त** = प्राप्त करते हैं। **यत्र** = जहाँ पर। **पूर्वे** = पूर्वकालीन, प्राचीन। **साध्याः देवाः** = साध्य देव, सिद्धि को प्राप्त करने वाले देवता। **सन्ति** = रहते हैं, स्थित हैं।

अनुवाद– देवताओं ने (उस मानस) यज्ञ के द्वारा (अथवा यज्ञ-पुरुष के द्वारा) यज्ञ-स्वरूप (प्रजापति) का यजन (पूजन) किया। वे धर्म (नियम या सृष्टि-उत्पत्ति के विधान) सबसे मुख्य हुए। वे महिमाशाली (उपासक) दिव्य स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, जहाँ प्राचीन साध्य देव रहते हैं।

व्याकरण– अजयन्त - ✓यज् + लङ्, आत्मनेपद, प्र. पु. बहु.। **सचन्त** - ✓सच् + लङ्, प्र.पु.बहु. वैदिक रूप; धातु के पूर्ववर्ती 'अ' का लोप हो गया है।

●

हिरण्यगर्भसूक्तम् (ऋ. १०/१२१)

ऋषि-प्रजापतिपुत्रो हिरण्यगर्भः देवता-(प्रजापति) छन्द-त्रिष्टुप्

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।१।।

पदपाठ– हिरण्यऽगर्भः। सम्। अवर्तत। अग्रे। भूतस्य। जातः। पतिः। एकः। आसीत्। सः। दाधार। पृथिवीम्। द्याम्। उत। इमाम्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।।१।।

सायणभाष्य– हिरण्यगर्भः। हिरण्यमयाण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिहिरण्यगर्भः। तथा चात्र तैत्तिरीयकम्- 'प्रजापतिवै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरुपत्वाय' (तै.सं. ५/५/१/२) इति। यद्वा- हिरण्मयोऽण्डो गर्भवद् यस्योदरे वतति सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। अग्रे प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् समवर्तत। मायाध्यक्षात् सिसृक्षोः परमात्मनः समजायत यद्यपि परमात्मैव हिरण्यगर्भस्तथापि तदुपाधिभूतानां वियदादीनां ब्रह्मण उत्पत्तेस्तदुपहितोऽप्युत्पन्न इत्युच्यते। स जातो जातमात्र एव एकोऽद्वितीयः सन् भूतस्य विकारजातस्य ब्रह्माण्डादेः सर्वस्य जगतः पतिरीश्वर आसीत्। न केवलं पतिरासीदेव, अपि तर्हि स हिरण्गर्भः पृथिवीं विस्तीर्णां द्यां दिवमुतापि च इमामस्माभिर्दृश्यमानां पुरोवर्तिनीमिमां भूमिम्। यद्वा पृथिवीत्यरक्षिनाम। अन्तरिक्षं दिवं भूमिञ्च दाधार धारयति। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा.३/४/६) इति सार्वकालिको लिट्। तूजादित्वादभ्यासदीर्घः (पा. ६/१/७)।

कस्मै अत्र किंशब्दोनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वतति। यद्वा सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः कमेर्डप्रत्ययः। यद्वा कं सुखम् तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते। अथवा इन्द्रेण प्रष्टः प्रजापतिर्मदीयं महत्त्वं तुभ्यं प्रदायाहं कः कीदृशः स्यामित्युक्तवान्। स इन्द्रः प्रत्यूचे यदिदं ब्रवीष्यहं कः स्यामिति तदेव त्वं भवेति। अतः कारणात् क इति प्रतापतिराख्यायते। 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा सर्वा विजितोर्विजित्याब्रवीत्' (ऐ.ब्रा. ३/२१) इत्यादिकं ब्राह्मणमत्रानुसन्धेयम्। यदासौ किंशब्दस्तदा सर्वनामत्वात् स्मैभावः सिद्धः। यदा तु यौगिकस्तदा व्यत्ययेनेति द्रष्टव्यम्। 'सावेकाचः' (पा.६/१/१६८) इति प्रातस्य 'न गोऽश्वन्साववर्ण ...' (पा. ६/१/१८२) इति प्रतिषेधः। 'क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्' इति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। कं प्रजापतिं देवाय देवं दानादिगुणयुक्तं हविषां प्राजापत्यस्य पशोर्वपारूपेणैककपालात्मकेन पुरोडाशेन वा विधेम वयमृत्विजः परिचरेम। विधतिः परिचरणकर्मा।।

अन्वय– हिरण्यगर्भः अग्रे समवर्तत, जातः भूतस्य एकः पतिः आसीत्। सः इमाम् पृथिवीं उत् द्याम् दाधार, कस्मै देवाय हविषा विधेम्।

शब्दार्थ– हिरण्यगर्भः = प्रतापति, हिरण्यगर्भ। **अग्रे** = सर्वप्रथम। **समवर्तत** = उत्पन्न हुआ, पैदा हुआ। **जातः** = उत्पन्न होकर, उत्पन्न होते ही। **भूतस्य** = सभी प्राणियों का, समग्र जगत् का। **एकः पतिः** = एकमात्र (अद्वितीय) स्वामी। **आसीत्** = हो गया। **सः** = उसने। **पृथिवीं** = पृथिवी को। **द्याम्** = द्युलोक को। **उत्** = और। **इमाम्** = इसको। **दाधार** = धारण किया। **कस्मै देवाय** = किस देव के लिए। **हविषा** = सविष् के द्वारा। **विधेम्** = विधान करें, यजन करें, यज्ञ करें।

अनुवाद– प्रजापति सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही (वह) (सम्पूर्ण) जगत् का (अथवा सभी प्राणियों का) एकमात्र स्वामी हो गया। उसने द्युलोक को और इस विस्तृत पृथिवी को धारण किया। (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए हवि के द्वारा विधान (पूजन, अर्चन, यज्ञ) करें (अथवा हम प्रजापति देवता के लिए हवि से विधान करें)।

व्याकरण– समवर्तत - ✓सम् + वृत् + लङ्, प्र.पु.,एक.। **दाधार** - ✓धा + लिट्, प्र.पु., एक.। **विधेम** - ✓विध् (पूजा करना) + विधिलिङ्, उ.पु., बहु.।

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः।
यस्य॑ च्छा॒याऽमृतं॒ यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम।।२।।

पदपाठ– यः। आ॒त्म॒ऽदाः ब॒ल॒ऽदाः। यस्य॑। विश्वे॑। उ॒प॒ऽआस॑ते। प्र॒ऽशिष॑म्। यस्य॑। दे॒वाः। यस्य॑। छा॒या। अ॒मृत॑म्। यस्य॑। मृ॒त्युः। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म।।२।।

सायणभाष्य– यः प्रजापतिः आत्मदाः आत्मनां दाता। आत्मनो हि सर्वे तस्मात् परमात्मन उत्पद्यन्ते। यथाग्नेः सकाशाद् विस्फुलिङ्गा जायन्ते तद्वत्। यद्वा आत्मनां शोधयिता। 'दैप् शोधने', 'आतो मनिन्' (पा. ३/२/४७) इति विच्। बलदा बलस्य च दाता शोधयिता वा। यस्य च प्रशिषं प्रकृष्टं शासनमाज्ञां विश्वे सर्वे प्राणिन उपासते प्रार्थयन्ते सेवन्ते वा। 'शासु अनुशिष्टौ', 'शास इत्' (पा. ६/४/३४) इत्युपधाया इत्वम्। 'शासिवसिघसीनां च' (पा. ८/३/६०) इति षत्वम्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् (पा. ६/२/१३९) आसेरनुदात्तत्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। 'तिङि चोदात्तवति' (पा. ८/१/७१) इति गतिरनुदात्ता। तथा देवा अपि यस्य प्रशासनमुपासते। अपि च अमृतममृतत्वम्। भावप्रधानो निर्देशः। यद्वा अमृतं मरणं नास्त्यस्मिन्निति, अमृतं सुधा। बहुव्रीहौ 'नञोजरमरमित्रमृताः' (पा. ६/२/११६) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्। तदपि यस्य प्रजापतेश्छाया छायेव। वर्ति भवति। मृत्युर्यमश्च प्राणापहारी छायेव भवति। तस्मै कस्मै देवायेत्यादि समानं पूर्वेण हविषा पुरोडाशात्मनेति तु विशेषः।।

अन्वय– यः आत्मदाः बलदाः प्रशिषम् विश्वे देवाः उपासते। यस्य छाया अमृतं, यस्य छाया मृत्युः, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

शब्दार्थ– यः = जो। **आत्मदाः** = प्राणदाता, जीवनदाता। **बलदाः** = बलदाता, शक्तिप्रदाता। **यस्य** = जिसके। **प्रशिषम्** = शासन को, आदेश को। **विश्वे** = सब, समस्त। **देवाः** = देवता। **उपासते** = उपासना करते हैं, पालन करते हैं। **यस्य** = जिसकी। **अमृतं** = अमृतत्व, अमरत्व। **यस्य** = जिसकी। **छाया** = छाया। **मृत्युः** = मृत्यु। कस्मै ....।

अनुवाद– जो (हिरण्यगर्भ) प्राणदाता (जीवनदाता) (और) बलदाता (शक्तिप्रदाता) है; जिसके आदेश का सब देवता पालन करते हैं; जिसकी छाया अमृत है, जिसकी (छाया) मृत्यु है (अर्थात् अमरता और मृत्यु जिसके साथ छाया के समान रहते हैं- अमरता और मृत्यु दोनों जिसके अधीन हैं) (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए हवि द्वारा विधान (यज्ञ, पूजन) करें।

व्याकरण– आत्मदा - आत्मन् + ✓दा + विच्। **बलदाः** - बल + ✓दा + विच्। **उपासते** - उप + ✓आस् + लट्, प्र.पु.,बहु.।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।३।।

पदपाठ– यः। प्राणतः। निऽमिषतः। महिऽत्वा। एकः। इत्। राजा। जगतः। बभूव। यः। ईशे। अस्य। द्विऽपदः। चतुःऽपदः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।।३।।

सायणभाष्य– यो हिरण्यगर्भः प्राणतः [प्र] श्वसतः। 'अन् प्राणने' अदादिकः। 'शतुरनुमः' (पा. ६/१/१७३) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। निमिषतः अक्षिपक्ष्मचलनं कुर्वतः। अत्रापि पूर्ववद् विभक्तिरुदात्ता। जगतो जङ्गमस्य प्राणिजातस्य महित्वा महत्त्वेन। 'सुपां सुलुक्' (पा. ७/१/३९) इति आकारः। माहात्म्येन एक इद् अद्वितीय एव सन् राजा बभूव ईश्वरो भवति। भवतेर्णलि 'लिति' (पा. ६/१/१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम्। अस्य परिदृश्यमानस्य द्विपदः पादद्वययुक्तस्य मनुष्यादेः चतुष्पादो गवाश्वादेश्च यः प्रजापतिरीशे इष्टे। 'ईश ऐश्वर्ये' आदादिकोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरः (पा. ६/१/१८६)। अस्य 'ऊडिदम्' (पा. ६/१/१७१) इतीदमो विभक्तिरुदात्ता। द्वौ पादौ यस्य स द्विपात्। संङ्ख्यासुपूर्वस्य' (पा. ५/१/१४०) इति पादशब्दस्यान्त्यलोपः समासान्तः। 'भसञ्ज्ञायां पादः पत्' (पा. ६/४/१३०) इति पद्भावः। 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्....' (पा. ६/२/१९७) इत्येकदेशविकृतस्यानन्यत्वादुत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। स्वरवर्जमेषैव चतुष्पद इत्यत्रापि प्रक्रिया। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या' (पा. ६/२/१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। पूर्वपदस्य च 'न' सङ्ख्यायाः' (फि.सू.२/५) इत्याद्युदात्तत्वम् 'इदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' (पा. ८/३/४१) इति विसर्जनीयस्य षत्वम्। ईदृशो यः प्रजापतिस्तस्मै कस्मा इत्यादि सुबोधम्। हविषा हृदयाद्यात्मनेत्ययमत्र विशेषः।।

अन्वय– यः महित्वा प्राणतः निमिषतः जगतः एकः इत् राजा बभूव, यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

शब्दार्थ– यः = जो (हिरण्यगर्भ)। **महित्वा** = महिमा के कारण। **प्राणतः** = श्वास प्रश्वास लेने वाले का, साँस लेने वाले का। **निमिषतः** = पलकों का संचालन करने वाले का, पलक गिराने वाले का। **जगतः** = गतिशील प्राणि-जगत् का। **एकः इत्** = अकेला ही, एकमात्र। **राजा** = राजा, स्वामी। **बभूव** = हो गया। **यः** = जो। **अस्य** = इस। **द्विपद** = दो पैरों वाले (मनुष्यादि)। **चतुष्पदः** = चार पैरों वाले। **ईशे** = ईश्वर, स्वामित्व करता है।

अनुवाद– जो (हिरण्यगर्भ) (अपनी) महत्ता (महिमा) के कारण श्वास-प्रश्वास लेने वाले, पलक गिराने वाले, (पलकों का संचालन करने वाले) और गतिशील प्राणि-जगत् का अकेला ही राजा हो गया और जो इस (गतिशील जगत्) के दो पैरों वाले (मनुष्यादि) तथा चार पैरों वाले (पशु-वर्ग) का ईश्वर है (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए हवि द्वारा विधान (यज्ञ, पूजन) करें।

व्याकरण– प्राणतः - प्र + ✓अन् + शतृ, षष्ठी, एक.। **निमषतः** - नि + ✓मिष् + शतृ, षष्ठी, एक.। **ईशे** - ✓ईश् (शासन करना) + लट् प्र.पु., एकव., वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में इष्टे रूप होता है।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम।।४।।

पदपाठ– यस्य। इमे। हिमऽवन्तः। महिऽत्वा। यस्य। समुद्रम्। रसया। सह। आहुः। यस्य। इमाः। प्रऽदिशः। यस्य। बाहू इति। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।।४।।

सायण-भाष्य– हिमा अस्मिन् सन्तीति हिमवान् तेन बहुवचनान्तेन सर्वे पर्वता लक्ष्यन्ते यथा छत्रिणो गच्छन्तीति। हिमवन्तो हिमवल्लक्षिता इमे दृश्यमानाः सर्वे पर्वता यस्य प्रजापतेर्महित्वा महत्त्वं माहात्म्यमैश्वर्यमित्याहुः। तेन सृष्टत्वात् तद्रूपेणावस्थनाद् वा। तथा रसया। रसो जलम्। तद्वती रसा नदी अर्शआदित्वादाच् (पा. ५/२/२७)। जातावेकवचनम्, रसाभिर्नदीभिः सह समुद्रम्। पूर्ववदेकवचनम्। सर्वान् समुद्रान् यस्य महाभाग्यमित्याहुः कथयन्ति सृष्ट्यभिज्ञाः यस्य चेमाः प्रदिशः प्राच्याम्भा आनेय्याद्याः कोणदिश ईषितव्याः। तथा बाहू। वचनव्यत्ययः। बाहवो भुजाः। भुजवत् प्राधान्ययुक्ताः प्रदिशश्च यस्य स्वभूताः। कस्मै कस्मा इत्यादि समानं पूर्वेण।।

अन्वय– यस्य महित्वा इमे हिमवन्तः रसया सह समुद्रम् यस्य आहुः यस्य इमाः प्रदिशः यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम।

शब्दार्थ– यस्य = जिसकी। **महित्वा** = महत्तो से। **इमे** = ये। **हिमवन्तः** = बर्फीले पर्वत। **रसया सह** = नदियों के साथ। **समुद्रम्** = समुद्र को। **यस्य** = जिसका। **आहुः** = कहते हैं। **इमाः** = ये। **प्रदिशः** = प्रधान दिशाएँ। **यस्य** = जिसकी। **बाहू** = बाहु भुजाएँ। **यस्य** = जिसकी ....।

अनुवाद– जिस (हिरण्यगर्भ) की महिमा से ये बर्फीले पर्वत (स्थित) हैं, नदियों के साथ समुद्र को जिसका कहते हैं। जिसकी ये कोण-दिशाएँ (आग्नेयी आदि चार दिशाएँ) हैं और जिसकी भुजाएँ (रक्षा करने वाली) हैं। (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए हविष के द्वारा विधान (यज्ञ, पूजन) करें।

व्याकरण– हिमवन्तः - हिम + मतुप् (मत=वत्) प्र. बहु.। **आहुः** - ब्रू (आह्) + लट्, प्र. पु. बहु व.।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्व स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।५।।

पदपाठ– येन। द्यौः। उग्रा। पृथिवी। च। दृळ्हा। येन। स्वरिति स्वः। स्तभितम्। येन। नाकः। यः। अन्तरिक्षे। रजसः। विऽमानः। कस्मै। देवाय हविषा। विधेम।।५।।

सायण-भाष्य– येन प्रजापतिना द्यौरन्तरिक्षम् उग्रा उद्गूर्णविशेषा गहनरूपा वा पृथिवी भूमिश्च दृळ्हा येन स्थिरीकृता। स्वः स्वर्गश्च येन स्तभितं स्तब्धं कृतम्। यथाधो न पतति

तथोपर्यवस्थापितमित्यर्थः। 'ग्रसितस्कंभितस्तभित...' (पा.७/२/३४) इति निपात्यते। तथा नाक आदित्यश्च येनान्तरिक्षे स्तभितः। यश्चान्तरिक्षे रजस उदकस्य विमानो निर्माता। कस्मै कस्मा इत्यादि गतम्।

अन्वय– येन उग्रा द्यौः पृथिवी: च दृळ्हा, येन स्वः स्तभितम् येन नाकः, यः अन्तरिक्षे रजसः विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।

शब्दार्थ– येन = जिसके द्वारा। **उग्रा द्यौः** = उन्नत द्युलोक। **पृथिवी च** = और पृथिवी। **दृळ्हा** = स्थिर कर दिया गया है। **येन** = जिसके द्वारा। **स्वः** = स्वर्ग लोक। **स्तभितम्** = स्तब्ध बना दिया गया, स्थिर किया गया है। **येन** = जिसके द्वारा। **नाकः** = नाकलोक। **यः** = जो। **अन्तरिक्षे** = अन्तरिक्ष में। **रजसः** = लोकों का, जल का। **विमानः** = नापने वाला है, बनाने वाला है....।

अनुवाद– जिसके द्वारा उन्नत द्युलोक और पृथिवी को दृढ़ (स्थिर) किया गया; जिसके द्वारा स्वर्ग-लोक और नाकलोक (आदित्य-मण्डल) को स्थिर किया गया; जो अन्तरिक्ष में लोकों को नापने वाला है (अथवा जो अन्तरिक्ष में जल का निर्माण करने वाला है) (उसे छोड़कर हम किस देवता के लिए हविष् द्वारा विधान (यज्ञ, पूजन) करें।

व्याकरण– दृळ्हा - ✓दृह् + क्त + टाप् वेद में दो स्थानों के मध्य में ढकार का ळ्हकार हो जाता है। **स्तभितम्** - ✓स्तम्भ् + क्त। **विमानः** - वि + ✓मा + ल्युट्।

यं क्रन्दसी॒ अव॑सा तस्तभा॒ने अ॒भ्यैक्षे॑तां॒ मन॑सा॒ रेज॑माने।
यत्राधि॒ सूर॒ उदि॑तो वि॒भाति॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम।।६।।

पदपाठ– यम्। क्रन्द॑सी॒। इति॑। अव॑सा। त॒स्त॒भा॒ने॒ऽइति॑। अ॒भि। ऐक्षे॑ताम्। मन॑सा। रेज॑मा॒ने॒ इति॑। यत्र॑। अधि॑। सूरः॑। उत्ऽइ॑तः। वि॒भाति॑। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॒।।६।।

सायणभाष्य– क्रन्दितवान् रोदितवान नयोः प्रजापतिरिति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ। श्रूयते हि- 'यदरोदीत्तदनयो रोदस्त्वम्' (तै. ब्रा. २/२/९/४) इति। ते अवसा रक्षणेन हेतुना लोकस्य रक्षणार्थं तस्तभाने प्रजापतिना सृष्टे लब्धस्थैर्ये सत्यौ यं प्रजापतिं मनसा बुद्ध्या अभ्यैक्षेताम् आवयोर्महत्त्वमनेन इत्यभ्यपश्येताम्। 'ईक्ष् दर्शने'। लङ्यडादित्वादाद्युदात्तः। कीदृश्यौ द्यावापृथिव्यौ। रेजमाने राजमाने दीप्यमाने। आकारस्य व्यत्ययेनैत्वम्। अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। यद्वा लिटः कानच् 'फणां च सप्तानाम्' (पा. ६/४/१२५) इत्येत्त्वाभ्यासलोपौ। 'छन्दस्युभयथा' (पा. ३/४/११७) इति सार्वधातुकत्वाच्छप् [अतएव] 'अभ्यस्तानामादिः' (पा. ६/१/१८९) इत्याद्युदात्तत्वम्। यत्राधि यस्मिन्नाधारभूते प्रजापतौ सूरः सूर्य उदित उदयं प्राप्तः सन् विभाति प्रकाशते। उत्पूर्वदितेः कर्मणि निष्ठा। 'गतिरनन्तरः' (पा. ६/२/४९) इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। तस्मै कस्मा इति सुज्ञानम्।।

अन्वय– अवसा तस्तभाने मनसा रेजमाने क्रन्दसी यम् मनसा अभ्यैक्षेताम्; यत्र अधि सूरः उदितः विभाति, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

शब्दार्थ– अवसा = रक्षा द्वारा, रक्षा के लिए। **तस्तभाने** = स्थिर किये गये। **मनसा रेजमाने** = मन से काँपते हुए। **क्रन्दसी** = द्युलोक और पृथिवी लोक। **यम्** = जिस (प्रजापति)

की (ओर)। **मनसा** = मन से। **अभ्यैक्षेताम्** = देखते हैं। **यत्र अधि** = जिसे आधार बनाकर, जिसके ऊपर आश्रित होकर। **सूरः** = सूर्य। **उदितः** = उदित होकर। **विभाति** = प्रकाशित होता है...।

अनुवाद– (प्राणियों की) रक्षा के लिए (रक्षा के द्वारा) स्थिर बनाये गये तथा मन से काँपते (डरते) हुए द्युलोक और पृथिवी लोक जिस (प्रजापति की ओर) देखते हैं; जिसे आधार बनाकर सूर्य उदित होकर चमकता है (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए हवि द्वारा विधान (यज्ञ, पूजन) करें।

व्याकरण– क्रन्दसी - ✓क्रन्द् + **असुन्** = क्रन्दस्। स्त्रीलिंग में प्रथमा का द्विव.। कहते हैं कि प्रजापति के क्रन्दन या रोदन से द्युलोक और पृथिवीलोक की उत्पत्ति हुई, अतः इन्हें 'क्रन्दसी' या 'रोदसी' कहा जाता है। **अवसा** - ✓अव् + असुन्। तृतीया एक.। तस्तभाने - ✓स्तम्भ् + कानच् + टाप्, प्रथमा द्वि.। **रेजमाने** - ✓रेज् (काँपना) + कानच् + टाप्, प्रथमा द्वि.। **अभ्यैक्षेताम्** - अभि + ✓ ईक्ष् + लङ्, प्र.पु., द्वि.।

आपो' ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै' देवाय हविषा विधेम।।७।।

पदपाठ– आपः। ह। यत्। बृहतीः। विश्वम्। आयन्। गर्भम्। दधानाः। जनयन्तीः। अग्निम्। ततः। देवानाम्। सम्। अवर्तत। असुः। एकः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।।७।।

सायणभाष्य– बृहतीर्बृहत्यो महत्यः। 'जसि वा छन्दसि' (पा. ६/१/१०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घः। 'बृहन्महतोरुपसङ्ख्यानम्' (पा. ६/१/१७३ वा.) इति ङीप् उदात्तत्वम्। अग्निम्। उपलक्षणमेतत्। अग्न्युपलक्षितं सर्वं वियदादिभूतजातं जनयन्तीर्जनयन्त्यस्तदर्थं गर्भं हिरणमयाण्डस्य गर्भभूतं प्रजापतिं दधानाः धारयन्त्य आपो ह आप एव विश्वमायन् सर्वं जगद् व्याप्नुवन् (यद् यस्मात् ततस्तस्माद् हेतोर्देवानां देवादीनां सर्वेषां प्राणिनामसुः प्राणभूत एकः प्रजापतिः समवर्तत समजायत। यद्वा) यद् यं गर्भं दधाना आपो विश्वमनावस्थितास्ततो गर्भभूतात् प्रजापतेर्देवादीनां प्राणात्मको वायुरजायत अथवा। यत् लिङ्गवचनयोर्व्यत्ययः। उक्तलक्षणा या आपो विश्वमावृत्य स्थिताः ततस्ताभ्योऽद्भ्यः सकाशादेकोऽद्वितीयोऽसुः प्राणात्मकः प्रजापतिः समवर्तत निश्चक्राम तस्मै कस्मा इत्यादि गतम्।

अन्वय– यत् ह गर्भं दधाना अग्निं जनयन्तीः बृहती आपः विश्वं आयन् ततः देवानाम् एकः असुः समवर्तत, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

शब्दार्थ– यत् = जब। **ह** = निश्चयार्थक निपात। **गर्भं दधानाः** = गर्भ धारण करती हुई। **अग्निम्** = अग्नि को। **जनयन्तीः** = उत्पन्न करती हुई। **बृहतीः** = विपुल, महती। **आपः** = जल-राशि ने। **विश्वम्** = विश्व को। **आयन्** = व्याप्त कर लिया। **ततः** = तब। **देवानाम्** = देवताओं का। **एकः असुः** = एकमात्र प्राणभूत (प्रजापति)। **समवर्तत** = उत्पन्न हुआ।

अनुवाद– जब गर्भ धारण करती हुई और अग्नि को उत्पन्न करती हुई महती (विशाल) जल-राशि ने विश्व (सब कुछ) को व्याप्त कर लिया, तब देवताओं का एकमात्र प्राणभूत

(प्रजापति) उत्पन्न हुआ। (तात्पर्य यह है कि पहले विशाल जलराशि थी, उससे हिरण्यगर्भ प्रजापति उत्पन्न हुआ), (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए हविष् द्वारा विधान (यज्ञ, पूजन करें)।

व्याकरण– बृहतीः - आपः का विशेषण; 'बृहत्यः' का वैदिक रूप। **दधानाः** - ✓धा + शानच् + टाप्, प्र. बहु., 'आपः' का विशेषण। **जनयन्तीः** - ✓जन् + णिच् + शतृ + ङीप्, प्र.पु., बहुव.; 'जनयन्त्यः' का वैदिक रूप। **आयन्** - ✓इ + लङ्, प्र. पु., बहुव.।

यश्चिदापो॑ महि॒ना प॒र्यप॑श्य॒द् दक्षं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर्य॒ज्ञम्।
यो दे॒वेष्वधि॑ दे॒व एक॒ आसी॑त् कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम।।८।।

पदपाठ– यः। चि॒त्। आपः॑। म॒हि॒ना। प॒रि॒ऽअप॑श्यत्। दक्ष॑म्। दधा॑नाः। ज॒नय॑न्तीः। य॒ज्ञम्। यः। दे॒वेषु॑। अधि॑। दे॒वः। एकः॑। आसी॑त्। कस्मै॑। दे॒वाय॑ ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॒।।८।।

सायणभाष्य– यज्ञं यज्ञोपलक्षितं विकारजातं जनयन्तीरुत्पादयन्तीस्तदर्थं दक्षं प्रपञ्चात्मना वर्धिष्णुं प्रजापतिमात्मनि दधाना धारयित्रीः दधातेर्हेतौ (पा. ३/२/१२६) शानच् 'अभ्यस्तानामादिः' (पा. ६/१/१८९) इत्याद्युदात्तत्वम्। ईदृशीरापः व्यत्ययेन प्रथमा। अपः प्रलयकालीनाः। महिना। महिम्ना छान्दसो मलोपः। स्वमाहात्म्येन यश्चित् यश्च प्रजापतिः पर्यपश्यत् परितो दृष्टवान्। यश्च देवेष्वधि देवेषु मध्ये देवस्तेषामीश्वरः सन् एकोऽद्वितीयः आसीद् भवति अस्तेश्छान्दसो लङ् सिचोऽपृक्ते (पा. ७/३/९६) इतीडागमः तस्मै कस्मा इत्यादि गतम्।।

अन्वय– दक्षम् दधाना यज्ञं जनयन्तीः आपः यः चित् महिना पर्यपश्यत्, यः देवेषु अधि एकः देवः आसीत्, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

शब्दार्थ– दक्षम् = दक्ष (प्रजापति) को। **दधानाः** = (गर्भ रूप में) धारण करती हुई। **यज्ञम्** = (सृष्टि-उत्पत्ति रूप) यज्ञ को। **जनयन्तीः** = उत्पन्न करती हुई। **आपः** = जलराशि को। **यः** = जिसने। **चित्** = पादपूरणार्थक निपात। **महिना** = महिमा से। **पर्यपश्यत्** = चारों ओर देखा। **यः** = जो। **देवेषु अधि** = देवताओं के मध्य (उनके ऊपर)। **एकः** = अद्‌वितीय, एकमात्र। **देवः** = स्वामी। **आसीत्** = था। ....।

अनुवाद– जिसने (दक्ष प्रजापति) को (गर्भ रूप में) धारण करती हुई और (सृष्टि-उत्पत्ति रूप) यज्ञ को उत्पन्न करती हुई जलराशि को (अपनी) महिमा से चारों ओर देखा, जो देवताओं के मध्य उनके ऊपर एकमात्र (अद्वितीय) स्वामी था, (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए यज्ञ से विधान (यजन, पूजन) करें।

व्याकरण– आपः - अपः, द्वितीया बहुव. का वैदिक रूप। **पर्यपश्यत्** - परि + ✓दृश् + लङ्, प्र. पु. एक.।

मा नो॑ हिंसीज्ज॒नि॒ता यः पृ॑थि॒व्या यो वा॒ दिवं॑ स॒त्यध॑र्मा ज॒जान॑।
यश्चा॒पश्च॒न्द्रा बृ॑ह॒तीर्ज॒जान॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम।।९।।

पदपाठ– मा। नः॒। हिं॒सी॒त्। ज॒नि॒ता। यः। पृ॒थि॒व्याः। यः। वा॒। दिव॑म्। स॒त्यऽध॑र्मा। ज॒जान॑। यः। च॒। अ॒पः। च॒न्द्राः। बृ॒ह॒तीः। ज॒जान॑। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॒।।९।।

सायणभाष्य– स प्रजापतिर्नोऽस्मान् मा हिंसीत् मा बाधताम्। यः पृथिव्याः भूमेर्जनिता। जनयिता स्रष्टा। 'जनिता मन्त्रे' (पा. ६/४/५३) इति णिलोपो निपात्यते। 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' (पा. ६/१/७४) इति पृथिवीशब्दाद् विभक्तेरुदात्तत्वम्। यो वा यश्च सत्यधर्मा सत्यम् अवितथं धर्मं जगतो धारणं यस्य स तादृशः प्रजापतिर्दिवमन्तरिक्षोपलक्षितान् सर्वांल्लोकान् जजान जनयाम् 'जनी प्रादुर्भावे'। णिचि वृद्धौ 'जनीजृष्क्नसुरञ्जः' (धातुपा. ग. सू.) इति मित्वात् 'मितां ह्रस्वः' (पा. ६/४/९२) इति ह्रस्वत्वम्। ततो लिटि... अमन्त्रे.' (पा. ३/१/३५) इति निषेधादाम्प्रत्ययाभावे तिपो णलि वृद्धो 'लिति' (पा. ६/१/१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम्। यश्च बृहतीर्महतीश्चन्द्रा आह्लादिनीरपः उदकानि जजान जनयामास। 'ऊडिदम्' (पा. ६/१/१७१) इत्यादिना अपशब्दादुत्तरस्य शस् उदात्तत्वम्। तस्मै कस्मा इत्यादि गतम्।

अन्वय– नः मा हिंसीत्, यः पृथिव्याः जनिता वा यः सत्यधर्मा दिवं जजान, यः च चन्द्राः बृहती अपः जजान, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

शब्दार्थ– नः = हमें, हम लोगों को। **मा हिंसीत्** = न मारे, पीड़ित न करे। **यः** = जो। **पृथिव्याः** = पृथिवी का। **जनिता** = उत्पन्नकर्ता, उत्पादक। **वा** = और। **यः** = जिसने। **सत्यधर्मा** = सत्य नियम वाले ने। **दिवम्** = द्युलोक को। **जजान** = उत्पन्न किया है। **यः च** = और जिसने। **चन्द्राः** = आनन्ददायक, आह्लादकारिणी। **बृहतीः** = विशाल। **अपः** = जलराशि को। **जजान** = उत्पन्न किया...।

अनुवाद– वह (प्रजापति) हमें पीड़ित न करे, जो पृथिवी का उत्पादक है, सत्य नियम वाले जिसने द्युलोक को उत्पन्न किया है और जिसने आनन्ददायक विशाल जल-राशि को उत्पन्न किया है। (उसे छोड़कर हम) किस देवता के लिए हविष् के द्वारा विधान (यज्ञ, पूजन) करें।

व्याकरण– हिंसीत् - ✓हिंस् + लिङ्, प्र.पु.एक.। **जनिता** - ✓जन् +णिच्(इ.) + तृच्, पुल्लिंग, प्रथमा एक.। **जजान** - जन् + लिट्, प्र.पु., एक., वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में जनयामास रूप बनता है।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।।१०।।

पदपाठ– प्रजापते। न। त्वत्। एतानि। अन्यः। विश्वा। जातानि। परि। ता। बभूव। यत्ऽकामाः। ते। जुहुमः। तत्। नः। अस्तु। वयम्। स्याम। पतयः। रयीणाम्।।१०।।

सायणभाष्य– इळादधाख्य इष्टचयने प्राजापत्यस्य हविषः 'प्रजापते' इत्येषानुवाक्या। सूत्रितं च– "प्राजापत्य इळादधः प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः" (आश्व. श्रौ. २/१४) इति। केशनखकीटादिभिर्दुष्टानि हवींष्यनयैवाप्सु प्रक्षिपेत्। सूत्रितं च–"अपोऽभ्यवहरेयुः प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः" (आश्व. श्रौ.३/१०) इति। चौलादिकर्मस्वप्येषा होमार्था। सूत्रितं च–"तेषां पुरस्ताच्चतस्र आज्याहुतीर्जुहुयादग्न आयूंषि पवस इति तिसृभिः प्रजापते न त्वादेतान्यन्य इति च" (आ.गृ. १/४४) इति।

हे प्रजापते त्वत् त्वत्तोऽन्यः कश्चिद् एतानि इदानीं वर्तमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि। 'शेरश्छन्दसि बहुलम्' (पा. ६।१।७०) इति शेर्लोपः। जातानि। प्रथमविकारभाञ्जि ता तानि सर्वाणि

भूतजातानि न परि बभूव न परिगृह्णाति न व्याप्नोति। त्वमेवैतानि परिगृह्य स्रष्टुं शक्नोषि इति भावः। परिपूर्वो भवति परिग्रहार्थः। वयं च यत्कामा यत्फलं कामयमानास्ते तुभ्यं जुहुमो हवींषि प्रयच्छामस्तत्फलं नोऽस्माकमस्तु भवतु। तथा वयं रयीणां धनानां पतय ईश्वराः स्याम भवेम। 'नामन्यतरस्याम्' (पा. ६।१।१७७) इति नाम उदात्तत्वम्।।

अन्वय– प्रजापते ! त्वत् अन्यः एतानि ता विश्वा जातानि न परि बभूव, यत्, कामाः ते जुहुमः, तत् नः अस्तु, वयं रयीणाम् पतयः स्याम।

शब्दार्थ– प्रजापते = हे प्रजापति ! **त्वत् अन्यः** = तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई। **एतानि** = इन (= वर्तमानकालिक)। **ता** = उन (= भूतकालिक)। **विश्वा** = सम्पूर्ण। **जातानि** = उत्पन्न पदार्थों को। **न परि बभूव** = व्याप्त नहीं कर पाया। **यत् कामाः** = जिस (फल) की कामना करते हुए। **ते** = तुम्हें। **जुहुमः** = हवि प्रदान करते हैं। **तत्** = वह। **नः** = हमारा। **अस्तु** = हो जाय। **वयम्** = हम। **रयीणाम्** = समृद्धियों के। **पतयः** = स्वामी। **स्याम** = हो जायँ।

अनुवाद– हे प्रजापति ! तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई इन (= वर्तमानकालिक और) उन (= भूतकालिक) सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थों को व्याप्त नहीं कर पाया (अर्थात् तुम्हीं इस चराचर जगत् की सृष्टि तथा संहार कर सकते हो दूसरा कोई नहीं)। जिस (फल) की कामना करते हुए हम तुम्हें हवि प्रदान करते हैं, वह (फल) हमारा हो जाय। हम समृद्धियों (धनों) के स्वामी हो जायँ।

व्याकरण– जुहुमः = ✓ हु + लट्, उ.पु., बहु। **स्याम** = ✓ अस् + विधिलिङ्, उ.पु., बहु.। **विश्वा** = द्वि.बहुः वैदिक रूप लौकिक संस्कृत में विश्वानि रूप, बनता है। **बभूव** = ✓ भू = लिट्, प्र.पु., एक.।

●

वाक्सूक्तम् (ऋ. १०/१२५)

ऋषि-वाक्, देवता-वाक् अथवा परमात्मा, छन्द-त्रिष्टुप्, २ जगती

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।।१।।

पदपाठ– अहम्। रुद्रेभिः। वसुऽभिः। चरामि। अहम्। आदित्यैः। उत। विश्वऽदेवैः।। अहम्। मित्रावरुणा। उभा। विभर्मि। अहम्। इन्द्राग्नी इति। अहम्। अश्विना। उभा।।१।।

सायणभाष्य– अहं सूक्तस्य द्रष्ट्री वागाम्भृणी यम् ब्रह्म जगत्कारणं तद्रूपा भवन्ती रुद्रेभिः रुद्रैरेकादशभिः। इत्थंभावे तृतीया। तदात्मना चरामि। एवं वसुभिः इत्यादौ तत्तदात्मना चरामीति योज्यम्। तथा ब्राह्मीभूता विभर्मि धारयामि। इन्द्राग्नी अपि अहम् एव धारयामि। उभा उभौ अश्विना अश्विनावपि अहम् एव धारयामि। मयि हि सर्वं जगच्छुक्तौ रजतमिवाध्यस्तं सद् दृश्यते। माया च जगदाकारेण विवतति। तादृश्या मायया आधारत्वेनासङ्गस्यापि ब्रह्मण उक्तस्य सर्वस्योपत्तिः।।

अन्वय– अहं रुद्रेभिः वसुभिः चरामि, अहं आदित्यैः उत् विश्वदेवैः (चरामि), अहं मित्रावरुणा उभा विभर्मि, अहम् इन्द्राग्नी अहम् उभा अश्विना (विभर्मि)।

शब्दार्थ– अहम् = मैं (अम्भृण नामक महर्षि की पुत्री वाक्)। **रुद्रेभिः** = रुद्रों के साथ, या रुद्रों के रूप में। **वसुभिः** = वसुओं के साथ या 'वसुओं के रूप में। **चरामि** = विचरण करती हूँ, **अहम्** = मैं (ही)। **आदित्यैः** = आदित्यों के साथ या आदित्यों के रूप में। **उत** = और। **विश्वदेवैः** = विश्वदेवों के साथ या विश्वदेवों के रूप में। **चरामि** = चलती हूँ; विचरण करती हूँ। **अहम्** = मैं (ही) **मित्रावरुणा** = मित्र और वरुण को। **उभा** = दोनों। **बिभर्मि** = धारण करती हूँ, भरण करती हूँ। **अहम्** = मैं (ही)। **इन्द्राग्नी** = इन्द्र और अग्नि को। **अहम्** = मैं (ही)। **उभा** = दोनों। **अश्विना** = अश्विनी कुमारों को।

अनुवाद– मैं (वाक्) रुद्रों और वसुओं के रूप में चलती हूँ (विचरण करती हूँ) मैं (ही) आदित्यों और विश्वदेवों के साथ (या–आदित्यों और विश्वदेवों के रूप में) चलती हूँ। (विचरण करती हूँ) मैं मित्र और वरुण दोनों को धारण करती हूँ। मैं (ही) इन्द्र और अग्नि को तथा मैं (ही) दोनों अश्विनीकुमारों को (धारण करती हूँ)।

व्याकरण– मित्रावरुणा = मित्रश्च वरुणश्च अति मित्रावरुणा, मित्रावरुणौ के स्थान पर वैदिक रूप, 'सुपां सुलुक्' सूत्र से 'औ' के स्थान पर 'आ' आदेश, इसी सूत्र से 'उभौ' के स्थान

पर उभा और 'अश्विनौ' के स्थान पर अश्विना प्रयुक्त हुआ। **बिभर्मि** = ✓ भृ + लट्, उ.पु., एक.। **रुद्रेभिः** = वैदिक रूप, तृ.बहु., भिस् को ऐस् नहीं हुआ, लौकिक संस्कृत में रुद्रैः।

अ॒हं सोम॑माह॒नसं॑ बिभर्म्य॒हं त्वष्टा॑रमु॒त पू॒षणं॒ भग॑म्।
अ॒हं द॑धामि॒ द्रवि॑णं ह॒विष्म॑ते सुप्रा॒व्ये॒ ३ यज॑मानाय सु॒न्व॒ते।। २।।

पदपाठ– अ॒हम्। सोम॑म्। आ॒ह॒नस॑म्। बि॒भ॒र्मि॒। अ॒हम्। त्वष्टा॑रम्। उ॒त। पू॒षण॑म्। भग॑म्। अ॒हम्। द॒धा॒मि॒। द्रवि॑णम्। ह॒विष्म॑ते। सु॒प्र॒ऽअ॒व्यै॑। यज॑मानाय। सु॒न्व॒ते।। २।।

सायणभाष्य– आहनसमाहन्तव्यमभिषीतव्यं सोमं यद्वा शत्रूणामाहन्तारं दिवि वर्तमानं देवतात्मानं सोममहमेव बिभर्मि। तथा त्वष्टारमुतापि पूषणं भगं चाहमेव बिभर्मि तथा हविष्मते हविर्भिर्युक्ताय सुप्राव्ये शोभनं हविर्देवानां प्रापयित्रे तर्पयित्रे। अवतेस्तर्पणार्थात् 'अविस्तृस्तृतन्त्रिभ्य ईः' (उणा. ३।१५८) इतीकारप्रत्ययः। चतुर्थ्येकवचने यणि। 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (पा.८।२।४) इति सुपः स्वरितत्वम्। सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते। 'शतुरनुमः' (पा. ६।१।१७३) इति चतुर्थ्या उदात्तत्वम्। ईदृशाय यजमानाय द्रविणं धनं यागफलरूपमहमेव दधामि धारयामि। एतच्च ब्रह्मणः फलदातृत्वं "फलमत उपपत्तेः" (ब्र.सू. ३।३।३८) इत्यधिकरणे भगवता भाष्यकारेण समर्थितम्।।

अन्वय– अहम् आहनसं सोमं बिभर्मि, अहं त्वष्टारं पूषणम् उत भगम्, (बिभर्मि)। अहं हविष्मते सुप्राव्ये सुन्वते यजमानाय द्रविणं दधामि।

शब्दार्थ– अहम् = मैं। **आहनसं** = कूट कर निचोड़े गए या शत्रुसंहारक। **सोमम्** = सोम को। **बिभर्मि** = धारण करती हूँ। **अहम्** = मैं। **त्वष्टारम्** = त्वष्टा को। **पूषणम्** = पूषा को। **उत** = और। **भगम्** = भग को। **अहं** = मैं। **हविष्मते** = हवि देने वाले, हवि से युक्त। **सुप्राव्ये** = उत्तम हवि से देवताओं को तृप्त करने वाले। **सुन्वते** = सोम का सेवन करने वाले, सोम को पीसने वाले। **यजमानाय** = यजमान के लिए। **द्रविणं** = धन को। **दधामि** = धारण करती हूँ (प्रदान करती हूँ)।

अनुवाद– मैं कूट कर निचोड़े गए सोम को धारण करती हूँ। मैं (ही) त्वष्टा को, पूषा को और भग (नामक देवताओं) को (धारण करती हूँ)। मैं हवि देने वाले, उत्तम हवि से देवताओं को तृप्त करने वाले, सोम का सेवन करने वाले यजमान के लिये धन को धारण करती हूँ।

व्याकरण– आहनसम् = आ + ✓ हन् + असुन्; सोमम् का विशेषण। **हविष्मते** = हविष् + मतुप् चतुर्थी, एक.। **सुप्राव्ये** = सु + प्र + अव् + ई, चतुर्थी, एक.। **सुन्वते** = ✓ सु + श्नु + शतृ, चतुर्थी, एक.।

अ॒हं रा॒ष्ट्री॑ स॒ङ्गम॑नी॒ वसू॑नां चिकि॒तुषी॑ प्रथ॒मा य॒ज्ञिया॑नाम्।
तां मा॑ दे॒वा व्य॑दधुः पुरु॒त्रा भूरि॑स्थात्रां भूर्या॑वेशय॑न्तीम्।। ३।।

पदपाठ– अ॒हम्। रा॒ष्ट्री॑। स॒म्ऽगम॑नी। वसू॑नाम्। चि॒कि॒तुषी॑। प्र॒थ॒मा। य॒ज्ञिया॑नाम्। ताम्। मा॒। दे॒वाः। वि। अ॒द॒धुः॒। पु॒रु॒ऽत्रा। भूरि॑ऽस्थात्राम्। भूरि॑। आ॒ऽवेशय॑न्तीम्।। ३।।

सायणभाष्य– अहं राष्ट्री। ईश्वरनामैतत्। सर्वस्य जगत ईश्वरी तथा वसूनां धनानां सङ्गमनी सङ्गमयित्र्युपासकानां प्रापयित्री। चिकितुषी यत् साक्षात् कर्त्तव्यं परं ब्रह्म तज्ज्ञातवती स्वात्मतया साक्षात्कृतवती। अतएव यज्ञियानां यज्ञार्हाणां प्रथमा मुख्या। या एवङ्गुणविशिष्टाहं तां मां भूरिस्थात्रां बहुभावेन प्रपञ्चात्मनावतिष्ठमानां भूरि भूरीणि बहूनि भूतजातान्यावेशयन्तीं जीवभावेनात्मानं प्रवेशयन्तीमीदृशीं मां पुरुत्रा बहुषु देशेषु व्यदधुर्देवा विदधति कुर्वन्ति। उक्तप्रकारेण वैश्वरूप्येणा-वस्थानाद् यद्यत कुर्वन्ति तत्सर्वं मामेव कुर्वन्तीत्यर्थः।।

अन्वय– अहं राष्ट्री वसूनां संगमनी चिकितुषी यज्ञियानां प्रथमा तां भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् मा देवाः पुरुत्रा व्यदधुः।

शब्दार्थ– अहं = मैं। **राष्ट्री** = स्वामिनी। **वसूनां** = धनों को, सम्पत्तियों को। **संगमनी** = देने या प्राप्त करने वाली। **चिकितुषी** = जानने वाली, ज्ञानवती, तत्त्वज्ञानी, ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली। **यज्ञियानाम्** = पूजनीयों में, पूज्यों में। **प्रथमा** = प्रमुख (हूँ)। **ताम्** = उस। **भूरिस्थात्राम्** = अनेक स्थानों में स्थित। **भूर्यावेशयन्तीम्** = अनेक प्राणियों में (अपना) प्रवेश करती हुई। **मा** = मुझको। **देवाः** = देवों ने। **पुरुत्रा** = अनेक स्थानों में। **व्यदधुः** = पृथक्-पृथक् (विविध रूप में) स्थापित किया।

अनुवाद– मैं (सम्पूर्ण विश्व की) स्वामिनी हूँ, धनों को प्राप्त कराने वाली हूँ, ज्ञानवती, पूजनीयों में प्रमुख हूँ, अनेक स्थानों में स्थित और अनेक प्राणियों में (अपना) प्रवेश करती हुई मुझको देवों ने अनेक स्थानों में पृथक्-पृथक् (विविध रूपों में) स्थापित किया है।

व्याकरण– चिकितुषी = ✓ कित् + क्वसु + ङीप्। **भूर्यावेशयन्तीम्** = भूरि + आ + ✓ विश् (णिजन्त) + शतृ + ङीप्। **व्यदधुः** = वि + ✓ धा + लुङ्, प्र.पु. बहु.।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि।। ४।।

पदपाठ– मया। सः। अन्नम्। अत्ति। यः। विऽपश्यति। यः। प्राणिति। यः। ईम्। शृणोति। उक्तम्। अमन्तवः। माम्। ते। उप। क्षियन्ति। श्रुधि। श्रुतम्। श्रद्धिऽवम्। ते। वदामि।। ४।।

सायणभाष्य– योऽन्नमत्ति सः भोक्तृशक्तिरूपया मयैवान्नमत्ति। यश्च विपश्यति। आलोकयतीत्यर्थः। यश्च प्राणिति श्वासोच्छ्वासरूपव्यापारं करोति सोऽपि मयैव। यश्चोक्तं शृणोति। 'श्रु श्रवणे'। 'श्रुवः शृ च' (पा. ३।१।७४) इति श्नुप्रत्ययः। धातोः शृभावः। य ईदृशीमन्तर्यामिरूपेण स्थितां मां न जानन्ति ते अमन्तवोऽमन्यमाना अजानन्त उपक्षियन्ति उपक्षीणाः संसारेण हीनाः भवन्ति। मनेरौणादिकस्तुप्रत्ययः (उणा. १।७५)। नञ्समासे व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम्। यद्वा, भावे तु प्रत्ययः। ततो बहुव्रीहौ 'नञ् सुभ्याम्' (पा. ६।२।१७२) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्। माममन्तवो मद्विषयज्ञानरहिता इत्यर्थः। हे श्रुत विश्रुत सखे। श्रुधि। मया वक्ष्यमाणं शृणु। छन्दसि विकरणस्य लुक्। 'श्रुशृणुपृकृवृभ्याः' (पा. ६।४१ २) इति हेर्विभावः। किं तच्छ्रोतव्यम्। श्रद्धिवम्। श्रद्धिः श्रद्धा। तयाः युक्तम् श्रद्धायत्नेन लभ्यमित्यर्थः। 'श्रदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिरिष्यते' (पा. १।४।५७ वा-२) इति श्रच्छब्दस्योपसर्गबद्वर्तमानत्वात् उपसर्गे घोः किः (पा. ३।३।९२) इति किप्रत्ययः। मत्वर्थीयो वः। ईदृशं ब्रह्मात्मकं वस्तु ते तुभ्यं वदामि उपदिशामि।

अन्वय– यः अन्नम् अत्ति, यः विपश्यति, यः प्राणिति, यः इम् उक्तम् शृणोति, सः मया माम् अमन्तवः ते उपक्षियंति, श्रुत श्रुधि, ते श्रद्धिवं वदामि।

शब्दार्थ– यः = जो। **अन्नम्** = अन्न को। **अत्ति** = खाता है। **यः** = जो। **विपश्यति** = देखता है। **यः** = जो। **प्राणिति** = साँस लेता है। **यः इम्** = और जो। **उक्तम्** = कही हुई (बात) को। **शृणोति** = सुनता है। **सः** = वह। **मया** = मेरे द्वारा। **माम्** = मुझे। **अमन्तवः** = न मानने वाले, न विश्वास करने वाले। **ते** = वे। **उपक्षियन्ति** = विनष्ट हो जाते हैं। **श्रुत** = हे विद्वन्!। **श्रुधि** = सुनो। **ते** = तुम्हें। **श्रद्धिवं** = श्रद्धा (विश्वास) के योग्य (बात)। **वदामि** = बतलाती हूँ।

अनुवाद– जो अन्न खाता है, जो देखता है, जो साँस लेता है और जो कही हुई (बात) को सुनता है, वह मेरे द्वारा (अर्थात् मेरे कारण) (ही वैसा करने में समर्थ होता है)। मुझे न मानने वाले (जो लोग हैं) वे विनष्ट हो जाते हैं। हे विद्वन् ! सुनो, (मैं) तुम्हें श्रद्धा (विश्वास) के योग्य (बात) बतलाती हूँ।

व्याकरण– अत्ति = ✓ (अद्), लट् प्र.पु.एक.व.। ✓ **दृश्** = लट् प्र.पु.ए.व., पश्यति (दृश्) **प्राणिति** (प्र + अन्) लट् प्र.पु.एक., **शृणोति** = ✓ श्रु लट्, प्र.पु.; एक.। **उपक्षियन्ति** = उप + ✓ क्षि (क्षीण होना) + लट् + प्र.पु., बहुव.। **श्रुधि** = ✓ श्रु (सुनना) + लोट्, म. पु. एक., शृणु का वैदिक रूप। **अमन्तवः** = अ (नञ्) + ✓ मन् + तुः, प्र., बहु.।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।।५।।

पदपाठ– अहम्। एव। स्वयम्। इदम्। वदामि। जुष्टम्। देवेभिः। उत। मानुषेभिः। यम्। कामये। तम्ऽतम्। उग्रम्। कृणोमि। तम्। ब्रह्माणम्। तम्। ऋषिम्। तम्। सुऽमेधाम्।।५।।

सायण-भाष्य– अह स्वयमेवेदं वस्तु ब्रह्मात्मकं वदामि उपदिशामि। देवभिः- दैवेरिन्द्रादिभिरपि जुष्टं सेवितमुतापि च मानुषीभिः मनुष्यैरपि जुष्टम्। ईदृग्वस्त्वात्मिकाहं यं कामये यं पुरुषं रक्षितुमहं वाञ्छामि तं तं पुरुषमुग्रं कृणोमि सर्वेभ्योऽधिकं करोमि। तमेव ब्रह्माणं स्रष्टारं करोमि। तमेव ऋषिमतीन्द्रियदर्शिनं करोमि तमेव सुमेधां शोधनप्रज्ञं च करोमि।।

अन्वय– अहम् एव स्वयं देवेभिः उत मानुषेभिः जुष्टम् इदं वदामि। यं कामये तं तम् उग्रं कृणोमि। तम् ब्रह्माणं तम् ऋषिं तं सुमेधाम् कृणोमि)।

शब्दार्थ– अहम् = मैं। **एव** = ही। **स्वयम्** = स्वयम्। **देवेभिः** = देवों के द्वारा। **उत** = और। **मानुषेभिः** = मनुष्यों के द्वारा। **जुष्टं** = सेवित। **इदम्** = यह (बात)। **वदामि** = कहती हूँ। **यम्** = जिसको। **कामये** = चाहती हूँ। **तं तं** = उस-उसको। **उग्रं** = उन्नत या उत्कृष्ट। **कृणोमि** = करती हूँ। **तम्** = उसे। **ब्रह्माणं** = ब्रह्मतेज से युक्त, ब्रह्मा। **तम्** = उसे। **ऋषिम्** = ऋषि, मन्त्रद्रष्टा। **तम्** = उसे। **सुमेधाम्** = अच्छी मेघा से युक्त, सुन्दर, प्रज्ञा वाला, मेधावी।

अनुवाद– मैं ही स्वयं देवों और मनुष्यों के द्वारा सेवित (मनुष्यों और देवताओं की प्रिय) यह (बात) कहती हूँ, मैं जिसको चाहती हूँ, उसको-उसको उन्नत (उत्कृष्ट) करती हूँ, उसे

ब्रह्मतेज से युक्त (ब्रह्मा) (बनाती हूँ) उसे ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) (बनाती हूँ), उसे अच्छी मेधा (सुन्दर प्रज्ञा) से युक्त बनाती हूँ।

व्याकरण– **जुष्टम्** = ✓ जुष् + क्त, द्वि. एक.। **कृणोमि** = ✓ कृ + लट्, उ. पु., एक. व.; 'करोमि' का वैदिक रूप। **सुमेधाम्** = शोभना मेधा यस्य तम्। **देवेभिः मानुषेभिः** = 'देवैः' और 'मानुषैः' के वैदिक रूप; तृ. बहु; भिस् के ऐस् आदेश का अभाव। **कामये** = ✓ कम् (चाहना), लट् उ.पु., एक.।

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश।।६।।

पदपाठ– अहम्। रुद्राय। धनुः। आ। तनोमि। ब्रह्मऽद्विषे। शरवे। हन्तवै। ऊँ इति। अहम्। जनाय। सऽमदम् कृणोमि। अहम्। द्यावापृथिवी इति। आ। विवेश।। ६।।

सायण-भाष्य– पुरा त्रिपुरविजयसमये रुदाय रुद्रस्य। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। महादेवस्य धनुश्चापमहमातनोमि। ज्ययाततं करोमि। किमर्थम्। ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणानां द्वेष्टारं शरवे शरुं हिंसकं त्रिपुरनिवासिनमसुरं हन्तवे हन्तुं हिंसितुम्। हन्तेः 'तुमर्थे सेसेन्...(पा. ३।४।९) इति तवैप्रत्ययः। 'अन्तश्च तवै युगपत्' (वा. ६।१।२००) इत्याद्यन्तयोर्युगपदुदात्तत्वम्। 'शृ हिंसायाम्' इत्यस्मात् 'शृस्वस्निहि' इत्यादिना उप्रत्ययः। 'क्रियाग्रहणं कर्त्तव्यम्' इति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। उशब्दः पूरकः। अहमेव समदम्। समानं माद्यन्त्यस्मिन्निति समत् सङ्ग्रामाः। स्त्रोतृजनार्थं शत्रुभिः सह सङ्ग्राममहमेव कृणोमि करोमि। तथा द्यावा-पृथिवीं दिवं च पृथिवीं चान्तर्यामितयांहमेवाविवेश प्रविष्टवती।

अन्वय– ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवै उ अहं रुद्राय धनुः आ तनोमि। अहं जनाय समदं कृणोमि। अहं द्यावापृथिवी आ विवेश।

शब्दार्थ– **ब्रह्मद्विषे** = ब्रह्मद्वेषी, ब्राह्मण या वेद से द्वेष रखने वाले। **शरवे** = हिंसा करने वाले को, हिंसक को। **हन्तवै** = मारने के लिए। **उ** = निश्चयार्थक निपात। **अहम्** = मैं। **रुद्राय** = रुद्र के लिए। **धनुः** = धनुष को। **आ तनोमि** = तान देती हूँ, खींचती हूँ। **अहम्** = मैं। **द्यावापृथिवी** = द्युलोक और पृथिवीलोक में। **आ विवेश** = समाई हुई हूँ, प्रविष्ट हुई हूँ, व्याप्त हूँ।

अनुवाद– ब्रह्मविद्वेषी हिंसक को मारने के लिए मैं निश्चय ही रुद्र के लिए (रुद्र के) धनुष को तान देती हूँ। मैं मनुष्यों के लिए संग्राम (युद्ध) करती हूँ। मैं द्युलोक और पृथिवीलोक में समायी हुई हूँ।

व्याकरण– **तनोमि** = ✓ तन् (फैलाना) + लट्, उ. पु., एक.। **शरवे** = ✓ शृ (हिंसा करना) + उः = शरुः, चतुर्थी, एक.। **हन्तवै** = ✓ हन् + 'तवै' प्रत्यय, तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में। **कृणोमि** = ✓ कृ + लट्, उ.पु., एक.। 'करोमि' का वैदिक रूप। **विवेश** = वि उपसर्ग + ✓ विश् + लिट्, उ.पु., एक.।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वऽन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि।।७।।

पदपाठ– अहम्। सुवे। पितरम्। अस्य मूर्धन्। मम। योनिः। अप्ऽसु। अन्तरिति। समुद्रे। ततः। वि। तिष्ठे। भुवना। अनु। विश्वा। उत। अमूम्। द्याम् वर्ष्मणा। उप। स्पृशामि।। ७।।

सायणभाष्य– "द्यौ : पिता" (तै. ब्रा. ३।७।५।४) इति श्रुतेः, पिता द्यौः। पितरं एवमहं सुवे प्रसुवे जनयामि। "आत्मन आकाशः सम्भूतः" (तै.आ. ८।१) इतिं श्रुतेः। कुत्रेति तदाह। अस्य परमात्मनो मूर्धन् मूर्धन्युपरि। कारणभूतम्। तस्मिन् हिं वियदादिकार्यजातं सर्वं वर्तते: तन्तुषु पट इव। मम च योनिः कारणं समुद्रे। समुद्द्रवन्त्यस्माद् भूतजातानीति समुद्रः परमात्मा तस्मिन्। अप्सु व्यापनशीलासु धीर्वृत्तिष्वन्तर्मध्ये यद् ब्रह्म चैतन्यं तन्मम कारणमित्यर्थः। यत इदृग्भूताहमस्मि ततो विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातान्यनुप्रविश्य वितिष्ठे। विविधं व्याप्य तिष्ठामि। 'समवप्रविभ्यः स्थः' (पा. १।३।२२) इत्यात्मनेपदम्। उतापि चामूं द्यां विप्रकृष्टदेशेऽवस्थितं स्वर्गलोकम्। उपलक्षणमेतत्। एतदुपलक्षितं कृत्स्नं विकारजातं वर्ष्मणा कारणभूतेन मायात्मकेन मदीयेन देहेन उप स्पृशामि। यद्वा, अस्य भूतस्य (भूलोकस्य) मूर्धन् मूर्धन्युपर्यहं पितरमाकाशं सुवे। समुद्रे जलधावप्सूदकेष्वन्तर्मध्ये मम योनिः कारणभूतोऽम्भृणाख्य ऋषिवर्तते। यद्वा। समुद्रेऽन्तरिक्षेऽप्स्वप्मयेषु देवशरीरेषु मम कारणभूतं ब्रह्म चैतन्यं वर्तते। ततोऽहं कारणात्मिका सतो सर्वाणि भूवनानि व्याप्नोमि। अन्यत् समानम्।।

अन्वय– अहं अस्य मूर्धन् पितरं सुवे, मम योनिः समुद्रे अप्सु अन्तः। ततः विश्वा भुवना अनु वितिष्ठे उत वर्ष्मणा अमूं द्याम् उप स्पृशामि।

शब्दार्थ– अहम् = मैं। **अस्य मूर्धन्** = इस (भूलोक) के सिर के ऊपर। **पितरं सुवे** = द्युलोक को उत्पन्न करती हूँ। **मम योनिः** = मेरा उत्पत्ति-स्थान। **समुद्रे** = समुद्र में। **अप्सु अन्तः** = जलों के भीतर। **ततः** = वहाँ से। **विश्वा भुवना अनु** = सब लोकों में। **वितिष्ठे** = अनेक रूपों में स्थित हो जाती हूँ। **उत** = और। **वर्ष्मणा** = सिर से ! **अमूं द्याम्** = उस द्युलोक को। **उप स्पृशामि** = स्पर्श करती हूँ।

अनुवाद– मैं इस (भूलोक) के शीर्ष (सिर) के ऊपर (पिता के समान रक्षा करने वाले) द्युलोक को उत्पन्न करती हूँ। मेरा उत्पत्ति-स्थान समुद्र में जलों के भीतर है। वहाँ से सब लोकों में अनेक (विविध) रूपों में स्थित हो जाती हूँ और शीर्षभाग (सिर) से उस द्युलोक को स्पर्श करती हूँ। (अर्थात् नीचे से लेकर ऊपर तक सर्वत्र व्याप्त हो जाती हूँ)।

व्याकरण– सुवे = ✓ सु (उत्पन्न करना) + लट्, उ. पु. एक., वैदिक रूप। **मूर्धन्** = 'मूर्ध्नि' का वैदिक रूप, सप्तमी एक.। **वितिष्ठे** = वि + ✓ स्था + लट्, उ. पु. एक.। **विश्वा भुवना** = नपुं. द्वितीया बहु., वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में 'विश्वानि' 'भुवनानि' रूप बनते हैं।

अहमेव बात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव।। ८।।

पदपाठ– अहम्। एव। बातःऽइव। प्र। वामि। आऽरभमाणा। भुवनानि। विश्वा। परः। दिवा। परः। एना। पृथिव्या। एतावती। महिना। सम्। बभूव।। ८।।

सायणभाष्य– विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि कार्याणि आरभमाणा कारणरूपेणोत्पादयन्ती अहमेव परेणानधिष्ठिता स्वयमेव प्रवामि प्रवर्ते। बात इव। यथा बातः परेणाप्रेरितः सन् स्वेच्छयैव प्रवाति तद्वत्। उक्तं सर्वं निगमयति। परो दिवा। पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते तथा अध इति अधस्तादित्यर्थे। तद्योगे च तृतीया सर्वत्र दृश्यते। दिवा आकाशस्य परस्तात। एना पृथिव्या। 'द्वितीयाटोस्वेनः' (पा. २।४।३४) इतीदम् एनादेशः। (सुपां सुलुक् ····· (पा. ७।१।३९) इति तृतीयाया अजादेशः।) अस्याः पृथिव्याः परः परस्तात्। द्यावापृथिव्योरुपादानमुपलक्षणम्। एतदुपलक्षितात् सर्वस्माद् विकारजातात् परस्ताद् वर्तमानासङ्गोदासीनकूटस्थब्रह्मचैतन्यरूपाहं महिना महिम्ना एतावती सम्बभूव। एतच्छब्देनोक्तं सर्व परामृश्यते। एतत्परिमाणमस्याः। 'यतदेतेभ्यः परिमाणे'– (पा. ५।२।३९) इति वतुप्। 'आ सर्वनाम्नः' (पा. ६।३।९१) इत्यात्वम्। सर्वजगदात्मनाहं सम्भूतास्मि। महच्छब्दादिमनिचि 'टेः' (पा. ६।४।१५५) इति टिलोपः। ततस्तृतीयाद्युदात्तनिवृत्तिस्वरेण तस्या उदात्तत्वम् (पा. ६।१।१६८)। छान्दसो भलोपः।।

अन्वय– विश्वा भुवनानि आरभमाणा अहं एव वातः इव प्रवामि। दिवा परः एना पृथिव्याः परः महिना एतावती संबभूव।

शब्दार्थ– विश्वा भुवनानि = सम्पूर्ण लोकों को। **आरभमाणाः** = आरम्भ (उत्पन्न) करती हुई। **अहं** = मैं। **एव** = ही। **वातः इव** = वायु के समान। **प्रवामि** = प्रवाहित होती हूँ। **दिवा परः** = द्युलोक से परे। **एना** = इस। **पृथिव्याः** = पृथिवीलोक से परे। **महिना** = महिमा से। **एतावती** = इतनी। **संबभूव** = हो गयी हूँ।

अनुवाद– सम्पूर्ण लोकों को आरम्भ (उत्पन्न) करती हुई मैं ही वायु के समान प्रवाहित होती हूँ (सर्वत्र विचरण करती हूँ)। मैं द्युलोक से परे (अथवा) बढ़कर) तथा इस पृथिवी लोक से (भी परे) (अथवा बढ़कर) हूँ। मैं अपनी महिमा से इतनी (विशाल, बड़े परिमाण वाली) हो गयी हूँ।

व्याकरण– आरभमाणा = आ + ✓ रभ् + शानच् + टाप् प्र. ए.। **प्रवामि** = प्र + ✓ वा + लट् उ. पु., एक.। **विश्वा** = नपुं, द्वि. बहु. 'विश्वानि का वैदिक रूप। **एना** = 'अदस्' शब्द के तृ. एक. का वैदिक रूप। **महिना** = 'महिमन्' के तृ. एकवचन का वैदिक रूप। **संबभूव** = सम् + ✓ भू + लिट्, उ.पु. एकवचन।

●

संज्ञानसूक्तम् (ऋ. १०/१९१)

देवता-१-अग्नि, शेष-संज्ञान।

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर।।१।।

पदपाठ– सम्ऽसम्। इत्। युवसे। वृषन्। अग्ने। विश्वानि। अर्यः। आ।। इळः। पदे। सम्। इध्यसे। सः। नः। वसूनि। आ। भर।।१।।

सायण-भाष्य– हे वृषन् कामानां वर्षितः अग्ने अर्यः ईश्वरस्त्वम् 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा.सू.३।१।१०३) इति यत्प्रत्ययान्तो निपातितः। 'अर्यः स्वाम्याख्यायाम्' (फि.सू. १।१८) इत्यन्तोदात्तत्वम्। स त्वं विश्वानि सर्वाणि भूत-जातानि संसम्। 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा.सू. ८।१।६) इति समो द्विर्वचनम्। इच्छब्दोऽवधारणे। आ समन्तात् सं युवसे मिश्रयसि। देवेषु मध्ये त्वमेव सर्वाणि भूत-जातानि वैश्वानरात्मना व्याप्नोषि। नान्य इत्यर्थः। किंच इळः इडायाः पृथिव्याः पदे स्थाने उत्तरवेदिलक्षणे। 'एतद्वा इळायास्पदं यदुत्तरवेदीनाभिः' (ऐ.ब्रा.१।२८) इति ब्राह्मणम्। तत्र त्वं समिध्यसे ऋत्विग्भिः संदीप्यसे। सः तादृशस्त्वं नः अस्माकं वसूनि धनानि आ भर आहर।। १।।

अन्वय– वृषन् अग्ने अर्यः विश्वानि आ संसम् इत् सम् युवसे इडस्पदे समिध्यसे सः नः वसूनि आ भर।

शब्दार्थ– वृषन् = हे इच्छाओं की वर्षा करने वाले। **अग्ने** = हे अग्नि। **अर्यः** = ईश्वर, स्वामी। **विश्वानि** = सम्पूर्ण को। **आ** = पूर्ण रूप से। **संसम्** = सम् उपसर्ग की आवृत्ति। **इत्** = निपात (पादपूरणार्थक) है। **सम्** = भली-भाँति। **युवसे** = मिलाते हो। **इळस्पदे** = पृथिवी के स्थान पर, वेदि पर। **समिध्यसे** = प्रज्ज्वलित किये जाते हो। **सः** = वह (तुम)। **नः** = हमारे लिये। **वसूनि** = धनों को। **आ भर** = ले आओ।

अनुवाद– हे इच्छाओं की वर्षा करने वाले (पूर्ण करने वाले) अग्नि देव ! स्वामी (के रूप में तुम) सम्पूर्ण (प्राणि-समूह) को पूर्ण रूप से भली-भाँति मिलाते हो। वेदि पर तुम प्रज्ज्वलित किये जाते हो। वह (तुम) हमारे लिए धनों को ले आओ।

व्याकरण– संसम् = सम् उपसर्ग को दुहराया गया है। **युवसे** = ✓ यु मिश्रणामिश्रणयोः + लट् (आ. प.) म.पु.ए.व.। **समिध्यसे** = सम् उपसर्ग + ✓ इन्ध् + लट् लकार म.पु.ए.व. कर्मवाच्य। **भर** = ✓ भृ + लोट् म.पु.ए.व.। **इळस्पदे** = सायण इस शब्द का अर्थ 'पृथिवी के स्थान पर' करते हैं।

सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।।२।।

पदपाठ– सम्। गच्छध्वम्। सम्। वदध्वम्। सम्। वः। मनांसि। जानताम्। देवाः। भागम्। यथा। पूर्वे। सम्ऽजानानाः उपऽआसते।।२।।

सायणभाष्य– हे स्तोतारः यूयं सं गच्छध्वम्। संगताः संभूता भवत। 'समो गम्यृच्छि' इत्यादिना गमेरात्मनेपदम्। तथा सं वदध्वं सह वदत। परस्परं विरोधं परित्यज्यैकविधमेव वाक्यं ब्रूतेति यावत्। 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' (पा.सू. १।३।४८) इति वदेरात्मनेपदम्। वः युष्माकं मनांसि सं जानताम्। समानमेकरूपमेवार्थमवगच्छन्तु। 'संप्रतिभ्यामनाध्याने' (पा.सू. १।३।४६) इति जानातेरात्मनेपदम्। यथा पूर्वे पुरातनाः देवाः संजानानाः ऐकमत्यं प्राप्ता हविर्भागम् उपासते यथास्वं स्वीकुर्वन्ति तथा यूयमपि वैमत्यं परित्यज्य धनं स्वीकुरुतेति शेषः।

अन्वय– सं गच्छध्वं सं वदध्वं वः मनांसि सं जानताम्। यथा पूर्वे देवाः संजानानाः भागम् उपासते।। २।।

शब्दार्थ– सम् = एक साथ। **गच्छध्वम्** = जाओ। **सम्** = एक साथ। **वदध्वम्** = बोलो। **वः** = तुम लोगों के। **मनांसि** = मन। **संजानताम्** = साथ-साथ ज्ञान प्राप्त करें, समान ज्ञानयुक्त होवें। **यथा** = जिस प्रकार। **पूर्वे** = प्राचीन कालीन। **देवाः** = देवता लोग, देवगण। **संजानानाः** = समान ज्ञान-युक्त होकर। **भागम्** = यज्ञ भाग को। **उपासते** = स्वीकार करते हैं।

अनुवाद– (हे स्तोतागण !) (तुम सब) एक साथ जाओ एक साथ बोलो। तुम लोगों के मन साथ-साथ ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार प्राचीन कालीन देवगण समान ज्ञान युक्त होकर यज्ञ भाग को स्वीकार करते हैं (उसी प्रकार तुम लोग भी एकमत होकर धन को स्वीकार करो)।

व्याकरण– गच्छध्वम् = ✓ गम् + लोट म.पु.ब.व. आ.प.। **वदध्वम्** = ✓ वद् + लोट् म.पु.ब.व. आ.प.। **संजानताम्** = सम् उपसर्ग + ✓ ज्ञा + लोट् म.पु.ब.व. आ.प.। **संजानाना** = सम् उपसर्ग + ✓ ज्ञा + शानच् प्रत्यय + प्र.ब.व. आ.प.। **उपासते** = उप उपसर्ग + ✓ आस् + लट् + प्र.पु.ब.व.आ.प.।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।३।।

पदपाठ– समानः मन्त्रः। सम्ऽइतिः। समानी। समानम्। मनः। सह। चित्तम्। एषाम्। समानम्। मन्त्रम्। अभि। मन्त्रये। वः। समानेन। वः। हविषा। जुहोमि।।३।।

सायणभाष्य– पूर्वोऽर्धर्चः परोक्षकृतः उत्तरः प्रत्यक्षकृतः। एषाम् एकस्मिन् कर्मणि सह प्रवृत्तानामृत्विजां स्तोतृणां वा मन्त्रः स्तुतिः शस्त्राद्यात्मका गुप्तभाषणं वा समानः एकविधोऽस्तु। तथा समितिः प्राप्तिरपि समानी एकरूपास्तु। 'केवलमामक' इत्यादिना समानशब्दात् ङीप्। उदात्तनिवृत्तिस्वरेण ङीप् उदात्तत्वम्। तथा मनः मननसाधनमन्तः करणं चैषां समानम् एकविधमप्यस्तु। चित्तं विचारणं ज्ञानं तथा सह सहितं परस्परस्यैकार्थेनैकीभूतमस्तु। अहं च वः युष्माकं समानम् एकविधं मन्त्रम् अभि मन्त्रये। ऐकविध्याय संस्करोमि। यथा वः युष्माकं स्वभूतेन समानेन

साधारणेन हविषा चरुपुरोडाशादिना अहं जुहोमि। 'तृतीया च होश्छन्दसि' (पा.सू.२।३।३) इति कर्मणि कारके तृतीया। वषट्कारेण हविः प्रक्षेपयामीत्यर्थः।।३।।

अन्वय– एषां मन्त्रः समानः, समितिः समानी, मनः समानम्, चित्तं सह। वः समानं मन्त्रं अभिमन्त्रये वः समानं हविषा जुहोमि।।

शब्दार्थ– एषाम् = इनकी। **मन्त्रः** = स्तुति। **समानः** = समान, एक ही प्रकार की। **समितिः** = सभा, प्राप्ति। **समानी** = एक प्रकार की, समान विचारों वाली। **मनः** = मन। **समानम्** = एक ही प्रकार के। **चित्तम्** = हृदय, वैचारिक शक्ति। **सह** = संयुक्त, एक भाव से युक्त। **वः** = तुम लोगों की। **समानम्** = एक प्रकार वाली, एक ही रूप वाली। **मन्त्रम्** = स्तुति को। **अभिमन्त्रये** = सम्बोधित करता हूँ। **वः** = तुम लोगों की। **समानम्** = एक समान। **हविषा** = हविष्य के द्वारा। **जुहोमि** = हवन करता हूँ।

अनुवाद– इनकी स्तुति एक ही प्रकार की हो, प्राप्ति एक ही प्रकार की हो। (इनका) मन एक ही प्रकार के विचारों वाला हो। इनकी वैचारिक शक्ति एक भाव से युक्त हो। (मैं) तुम लोगों की एक ही रूप वाली स्तुति को सम्बोधित करता हूँ। (तथा) तुम लोगों के लिए एक समान हविष्य के द्वारा हवन करता हूँ।

व्याकरण– समितिः = सम् उपसर्ग + ✓ इ + क्तिन् प्रत्यय प्र. एक व.। **अभिमन्त्रये** = अभि उपसर्ग + ✓ मन्त्र + लट् उ.पु.ए.व. (आ.प.)।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।४।।

पदपाठ– समानी। वः। आऽकूतिः। समाना। हृदयानि। वः।। समानम्। अस्तु। वः। मनः। यथा। वः। सुऽसह। असति।।४।।

सायणभाष्य– हे ऋत्विग्यजमानाः वः युष्माकम् आकूतिः संकल्पोऽध्यवसायः समानी एकविधोऽस्तु। तथा वः युष्माकं हृदयानि समाना समानान्येकविधानि सन्तु। तथा वः युष्माकं मनः अन्तःकरणम्। प्रत्येकापेक्षया एक वचनम्। तदपि समानमस्तु। यथा वः युष्माकम् सुसह शोभनं साहित्यम् असति भवति तथा समानमस्त्वित्यन्वयः। अस्तेर्लटि 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुगभावः।।

अन्वय– वः आकूतिः समानी। वः हृदयानि समानाः। वः मनः समानम् अस्तु यथा वः सुसह असति।।४।।

शब्दार्थ– वः = तुम्हारा। **आकूतिः** = संकल्प, अध्यवसाय। **समानी** = एक रूप वाला, समान। **वः** = तुम्हारे। **हृदयानि** = हृदय। **समानाः** = एक रूप वाले, समान। **वः** = तुम्हारे। **मनः** = मन। **समानम्** = एक प्रकार का। **अस्तु** = हो जाय। **यथा** = जिससे, जिस प्रकार। **वः** = तुम्हारा। **सुसह** = शोभन साहित्य, सुन्दर साथ। **असति** = हो जाय, हो सके।

अनुवाद– (हे ऋत्विज् और यजमानों) तुम्हारा सङ्कल्प एक रूप वाला होवे। तुम्हारे हृदय एक रूप वाले हों। तुम लोगों का मन एक प्रकार का हो जाय, जिस प्रकार (कि) तुम्हारा सुन्दर साथ हो जाय।।

शिवसङ्कल्पसूक्तम्

(शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनवाजसनेयिसंहिता अध्याय ३४ कण्डिका १-६)

ऋषि–'याज्ञवल्क्य'। देवता–'मनस्'। छन्द-त्रिष्टुप।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।१।।

पदपाठ– यत्। जाग्रतः। दूरम्। उदेंतीं। त्युत् ऐतिं। दैवम्। तत्। ॐ इत्यूं। सुप्तस्यं। तथां। एवं। एतिं। दूरङ्गमिति दूरम् गमम्। ज्योतिषाम्। ज्योतिः। एकम्। तत्। मे। मनः। शिवसङ्कल्पमिति शिवसङ्कल्पम्। अस्तु।।१।।

उव्वटभाष्यम्– यन्मनो जाग्रतः पुरुषस्य दूरम् उदैति उद्गच्छति चक्षुः-प्रभृतीन्यपेक्ष्य। यच्च दैवम्। देवो विज्ञानात्मा सोऽनेन गृह्यत इति दैवम्। उक्तञ्च–"मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्" इति। तदु सुप्तस्य। तदः स्थाने यदो वृत्तिः। उकारः समुच्चयार्थीयः। यच्च मनः सुप्तस्य तथैव तेनैव प्रकारेण एति। यच्च दूरङ्गमम्। दूरं गच्छतीति दूरङ्गमम्। अतीतानागतवर्तमानव्यवहितं मे मनः शिवसङ्कल्पम्। सङ्कल्पः काममूलपदार्थस्य स्त्र्यादेः सुरूपताज्ञानवतः काम-प्रभृति। शान्तसङ्कल्पमस्तु भवतु।। १।।

अन्वय– जाग्रतः यत् दैवं (मनः) दूरम् उत् एति, सुप्तस्य तत् उ तथैव एति। दूरङ्गमं ज्योतिषाम् एकः ज्योतिः मे तत् मनः शिवसंकल्पम् अस्तु।

शब्दार्थ– जाग्रतः = जागते हुए का। **यत्** = जो। **दैवम्** = दिव्य, प्रकाशवान् (**मनः** = मन)। **दूरम्** = दूर। **सुप्तस्य** = सोते हुए का। **उ** = ही। **तथा एव** = उसी प्रकार से। **दूरङ्गमम्** = दूरगामी, दूर जाने वाला। **ज्योतिषाम्** = ज्योतियों में। **एकम्** = अद्वितीय। **ज्योतिः** = प्रकाश रूप। **शिवसङ्कल्पम्** = शुभ सङ्कल्पों से युक्त, शुभ सङ्कल्पों वाला। **अस्तु** = हो जाय।

अनुवाद– जागते हुए (पुरुष) का जो दिव्य (अर्थात् दैवी शक्ति से युक्त) (मन) दूर चला जाता है; सोते हुए (पुरुष) का वही (मन) उसी प्रकार से आ जाता है; दूरगामी (तथा) ज्योतियों में अद्वितीय ज्योति-स्वरूप वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो जाय।

व्याकरण– जाग्रतः = ✓जागृ (जागने अर्थ में) + शतृ + ष. ए. व.। **उदैति** = उत् उपसर्ग + ✓इण् (जाना अर्थ में) + लट् प्र. पु.ए.व.। **दैवम्** - देव + अण्। दीव्यति प्रकाशते देवोविज्ञानात्मा तत्र भवं दैवम्। आत्मग्राहकमित्यर्थः। (महीधर)। **दूरङ्गमम्** - दूरं गच्छतीति। दूर + ✓ गम् + खश् प्रत्यय, 'मुम्' आगम , 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (पा. सू. ६/३/६७) से।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।२।।

पदपाठ– **येन। कर्माणि। अपसः। मनीषिणः। यज्ञे। कृण्वन्ति। विदथेषु। धीराः। यत्। अपूर्वम्। यक्षम्। अन्तरित्यन्तः प्रजानामिति प्रजानाम्। तत्। मे। मनः। शिवसङ्कल्पम्। अस्तु।।२।।**

उव्वटभाष्य– येन कर्माणि। येन मनसा सत्ता कमार्णि। अपसः। अप इति कर्म नाम। तद्धितलोपः। अपस्विनः कर्मवन्तः मनीषिणो मेधाविनः। यज्ञे कृण्वन्ति कुर्वन्ति। विदथेषु वेदेषु यज्ञविधिविधानेषु धीरा धीमन्तः। यच्चापूर्वम्। न विद्यते पूर्वमिन्द्रियं यस्मात् तदपूर्वम्। यद्वा- अपूर्वमनपरम्। यच्च यक्षं पूज्यम्। यच्चान्तर्मध्ये प्रजानामास्ते। तन्मे मन इति व्याख्यातम्।

अन्वय– येन अपसः मनीषिणः धीराः यज्ञे विदथेषु कर्माणि कृण्वन्ति यत् प्रजानाम् अन्तः अपूर्वं यक्षं, तत् मे मनः शिवसंङ्कल्पम् अस्तु।

शब्दार्थ– **येन** = जिसके द्वारा। **अपसः** = कर्मनिष्ठ। **मनीषिणः** = मनीषी लोग, मेधावी लोग। **धीराः** = धीर लोग। **यज्ञे** = यज्ञ में। **विदथेषु** = यज्ञ के विधिविधानों में, यज्ञ सम्बन्धी ज्ञानों में। **कर्माणि कृण्वन्ति** = कर्म करते हैं। **यत्** = जो। **प्रजानाम्** = प्रजाओं के, प्राणियों के। **अन्तः** = अन्तर्भाग में। **अपूर्वम्** = अपूर्व, सर्वप्रथम, सर्वप्रधान। **यक्षम्** = पूज्य।

अनुवाद– जिसके द्वारा कर्मनिष्ठ, मेधावी (तथा) धीर लोग यज्ञ में (एवं) यज्ञ के विधि-विधानों में कर्म करते हैं, जो प्रजाओं के अन्तर्भाग में सर्वप्रधान रूप से पूज्य है, वह मेरा मन शुभसंकल्पों वाला हो जाय।

व्याकरण– **कर्माणि** - कर्म + द्वि.ब.व.। **कृण्वन्ति** - ✓कृ + लट् प्र. पु.ब.व. वैदिक रूप। **अपसः** - अपस् + विन् प्रत्यय (अस्मायामेधास्रजो विनिः पा..सू. ५/२/१२१) से। **यज्ञम्** - ✓यज् + घञ्। महीधर के अनुसार- ✓यज् + औणादिक् सन् प्रत्यय।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।३।।

पदपाठ– **यत्। प्रज्ञानमिति। प्रज्ञानम्। उत। चेतः। धृतिश्च। यत्। ज्योतिः। अन्तः। अमृतम्। प्रजास्विति। प्रजासु। यस्मात्। न। ऋते। किम् चन। कर्म। क्रियते। तत्। मे। मनः। शिवसङ्कल्पम्। अस्तु।।३।।**

उव्वटभाष्य– यत्प्रज्ञानम्। यन्मनः प्रज्ञानम्। विशेषप्रतिपत्तिः प्रज्ञानम्। उतापि च। चेतः। सामान्यप्रतिपत्तिः चेतः। धृतिश्च। प्रसिद्धा। यन्मनोऽन्तर्ज्योतिरमृतं च प्रजासु। यस्मान्न ऋते येन च बिना न किञ्चन कर्म क्रियते। तन्मे मन इति व्याख्यातम्।।

अन्वय– यत् प्रज्ञानम् उत चेतः धृतिः च यत् प्रजासु अन्तः अमृतं ज्योतिः। यस्मात् ऋते किञ्चन कर्म न क्रियते, तत् मे मनः शिवसंङ्कल्पम् अस्तु।

शब्दार्थ– **यत्** = जो। **प्रज्ञानम्** = उत्कृष्ट ज्ञान का जनक, विशेषज्ञान का जनक। **उत** = और। **चेतः** = अपकृष्ट ज्ञान का जनक, सामान्य ज्ञान का जनक। **धृतिः** = धैर्य का

आधार-स्वरूप, धैर्य। **प्रजासु** = प्राणियों में। **अन्तः** = वर्तमान, स्थित, (अन्तःकरण में)। **अमृतम्** = अमर, अमृतस्वरूप। **ज्योतिः** - प्रकाश। **यस्मात् ऋते** = जिसके बिना। **किञ्चन कर्म न क्रियते** = कोई कर्म नहीं किया जाता।

अनुवाद– जो उत्कृष्ट ज्ञान का जनक है तथा (जो) अपकृष्ट (सामान्य) ज्ञान का जनक है; (जो) धैर्य का आधार-स्वरूप, प्राणियों के अन्तः (करण) में (विद्यमान) अमृत ज्योति (स्वरूप) है; जिसके बिना कोई (भी) कर्म नहीं किया जाता; वह मेरा मन शुभसंकल्पों वाला हो जाय।

व्याकरण– प्रज्ञानम् - प्रकर्षेण ज्ञायते येन तत् प्रज्ञानम्। ✓प्र + ज्ञा + ल्युट् (अन) प्रत्यय। **चेतः** - ✓चिती संज्ञाने + णिच् + असुन् प्रत्यय। **धृतिः** - ✓धृ + क्तिन् प्रत्यय। **क्रियते** - ✓कृ + यक् + कर्मवाच्य लट् प्र.पु.ए.।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।४।।

पदपाठ– येन। इदम्। भूतम्। भुवनम्। भविष्यत्। परिगृहीतमिति परिगृहीतम्। अमृतेन। सर्वम्। येन। यज्ञः। तायते। सप्तहोतेति। सप्तहोता। तत्। मे। मनः। शिवसंङ्कल्पम्। अस्तु।।४।।

उव्वटभाष्य– येनेदं। येन मनसा। इदं भूतकालं भुवनं वर्तमानकालं भविष्यद् भविष्यत्कालं च। परिगृहीतम् अमृतेन सर्वम्। येन च मनसा यज्ञस्तायते तन्यते। सप्तहोता। सप्तहोतारो हि अग्निष्टोमे भवन्ति। तन्में मन इति व्याख्यातम्।।

अन्वय– येन अमृतेन (मनसा) इदं भूतं भुवनं भविष्यत् सर्वं परिगृहीतम्। येन सप्तहोता यज्ञः तायते तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु।

शब्दार्थ– येन अमृतेन = जिस शाश्वत के द्वारा, जिस अविनाशी के द्वारा। **भूतम्** = भूतकालीन। **भुवनम्** = वर्तमानकालीन। **भविष्यत्** = भविष्यत्कालीन। **सर्वम्** = सब कुछ। **परिगृहीतम्** = भली-भाँति ग्रहण किया गया है, ज्ञात किया जाता है। **येन** = जिसके द्वारा। **सप्तहोता** = सात होताओं वाला। **यज्ञः** = यज्ञ। **तायते** = सम्पादित किया जाता है।

अनुवाद– जिस शाश्वत (मन) के द्वारा भूतकालीन, वर्तमानकालीन एवं भविष्यत्कालीन सब कुछ भली-भाँति ज्ञात किया जाता है, जिसके द्वारा सात होताओं (होतृ, पोतृ, मैत्रावरुण, ग्रावस्तुत, ब्राह्मणाच्छंदसी, अच्छावाक, अग्नीद) से युक्त यज्ञ सम्पादित किया जाता है, वह मेरा मन शुभ सङ्कल्पों वाला हो जाय।

व्याकरण– भुवनम् - ✓भू + क्युः (अन)। **तायते** - ✓तन् + यक् + लट् प्र.पु. ए.व.। **भविष्यत्** - ✓भू + लृटः शतृ। **सप्तहोता** - सप्त होतारो यस्मिन् सः सप्तहोता। सात होता ये हैं- होतृ, पोतृ, मैत्रावरुण, ग्रावस्तुत, ब्राह्मणाच्छंदसी, अच्छावाक् एवं अग्नीद।

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।५।।

पदपाठ– यस्मिन्। ऋचः। सामं। यजूंषि। यस्मिन्। प्रतिष्ठिता। रथनाभौ। इव। अराः। यस्मिन्। चित्तम्। सर्वम्। ओतम्। प्रजानामिति प्रजानाम्। तत्। मे। मनः। शिवसंङ्कल्पम्। अस्तु।।५।।

उव्वटभाष्य– यस्मिन् ऋचः। यस्मिन् ऋचः प्रतिष्ठिताः। यस्मिन् सामानि प्रतिष्ठितानि। यस्मिन् यजूंषि प्रतिष्ठितानि। कथमिव ? रथनाभौ इव अराः। यस्मिन् चित्तं सञ्ज्ञानं सर्वे तस्य तस्यार्थस्य। ओतं निक्षिप्तम्। तदुसन्ततिमिव कृतम्। प्रजानाम्। तत् मे मन इति व्याख्यातम्।

अन्वय– यस्मिन् ऋचः यस्मिन् साम यजूंषि रथनाभौ अराः इव प्रतिष्ठिताः यस्मिन् प्रजानां सर्व चित्तम् ओतं तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु।

शब्दार्थ– यस्मिन् = जिस (मन) के अन्तर्गत। **ऋचः** = ऋचायें, ऋग्वेद के मन्त्र। साम = सामवेद के मन्त्र। **यजूंसि** = यजुर्वेद के मन्त्र। **रथनाभौ** = रथ की नाभि में। **अराः इव** = अरे की भाँति। **प्रतिष्ठिताः** = प्रतिष्ठित हैं। **प्रजानाम्** = प्राणियों का। **सर्वम्** = सम्पूर्ण। **चित्तम्** = चित्त, ज्ञान। **ओतम्** = अनुस्यूत है, बिंधा हुआ है।

अनुवाद– जिस (मन) के अन्तर्गत ऋग्वेद के मन्त्र, जिसके अन्तर्गत सामवेद के मन्त्र एवं यजुर्वेद के मन्त्र प्रतिष्ठित हैं, जिसमें प्राणियों का सम्पूर्ण (अर्थात् सर्व-पदार्थ-विषयक) ज्ञान अनुस्यूत है, वह मेरा मन शुभसङ्कल्पों वाला हो जाय।

व्याकरण– प्रतिष्ठिताः - प्रति + ✓स्था + क्त + प्र. ब. व.। ओतम् - आ + ✓वेञ् (तन्तुसन्ताने) + क्त प्रत्यय। **यस्मिंश्चितम्** - यस्मि ँ श्चितम् = यजुर्वेद की संहिताओं में यदि अनुस्वार के बाद श्, ष्, स्, र् एवं ह् वर्णों में से कोई वर्ण आता है तब अनुस्वार को 'ग्वङ्' के रूप में उच्चारित किया जाता है। यजुर्वेद के कतिपय पाठाध्यायी लोग अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार गूङ्, गूं तथा गुङ् का उच्चारण भी करते हैं। इस प्रकार के स्थलों पर ँ या ᳬ चिन्ह से अनुस्वार को प्रदर्शित किया जाता है।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनं इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।६।।

पदपाठ– सुसारथिरितिसुसारथिः। अश्वानिवेत्यश्वान् इव। यत् मनुष्यान्। नेनीयते। अभीशुभिरित्यभीशुभिः। वाजिनइवेति वाजिनं इव। हृत्प्रतिस्थमितिहृत् प्रतिस्थम्। यत्। अजिरम्। जविष्ठम्। तत्। मे। मनः। शिवसङ्कल्पम्। अस्तु।।६।।

उव्वट-भाष्य– सुषारथिः। यन्मनो मनुष्यान् नेनीयतेऽत्यर्थं नीयते। कथमिव। सुषारथिः कल्याणसारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्। यच्च मनः सुषारथिरिव। अभीषुभिः प्रग्रहैर्वाजिन इव वेजनवतोऽश्वानिव। यमयतीति शेषः। द्वे उपमे। एकत्र नयनमन्यत्र नियममित्यर्थः यच्च हत्प्रतिष्ठम्। तत्रोपलब्धेः। यच्च अजिरं जरारहितम्। यच्च जविष्ठमतिशयेन गन्तॄं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।

अन्वय– यत् (मनः) मनुष्यान् सुषारथिः अश्वान् इव नेनीयते अभीषुभिः बाजिन इव (मनुष्यान् कर्मषु प्रेरयति) यत् हृत्प्रतिष्ठं, अजिरं जविष्ठं तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु।

अनुवाद– जो (मन) मनुष्यों को उसी प्रकार (ले जाता है) जैसे अच्छा सारथि अश्वों को ले जाता है; लगामों से घोड़ों को जिस प्रकार ले जाया जाता है उसी प्रकार (जो मन मनुष्यों को कर्मों में प्रेरित करता है), जो हृदयस्थ, जरारहित एवं अतिशय वेगवान् है वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो जाय।

व्याकरण– सुषारथिः - ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ तथा औ; ये दश स्वर 'नामिन्' कहलाते हैं- 'ऋकारादयो दश नामिनः स्वराः' (ऋ. प्रा. १/६५)। इनके बाद आने वाला सकार षकार में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार सु + सारथिः = सुषारथिः बन गया है। नेनीयते - अत्यर्थमितस्ततो नयति (महीधर); उव्वट-भाष्य में प्राप्त 'नीयते' पाठ ठीक नहीं है। ✓नी + यङ् क्रियासमभिहारे + लट् प्र.पु.ए.व.। **अभीषुभिः** - अभि उपसर्ग + ✓ईष् गतौ + उः + तृ. ब.व.। वाजिनः अवश्यं वर्जन्ति इति वाजिनः ✓वज् + णिनिः द्वि.ब.व.। **जविष्ठम्** - ✓जु + इष्ठन् प्रत्यय। **प्रतिष्ठम्** - प्रति उपसर्ग + ✓स्था (गतिनिवृत्तौ) कः।

●

पृथिवीसूक्तम् (अथर्ववेद १२/१)

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।१।।

पदपाठ– सत्यम्। बृहत्। ऋतम्। उग्रम्। दीक्षा। तपः। ब्रह्म। यज्ञः। पृथिवीम्। धारयन्ति। सा। नः। भूतस्य। भव्यस्य। पत्नी। उरुम्। लोकम्। पृथिवी। नः। कृणोतु।।१।।

अन्वय– सत्यं बृहत् ऋतम् उग्रं दीक्षा तपः ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। भूतस्य भव्यस्य पत्नी पृथिवी नः लोकम् उरुं करोतु।

शब्दार्थ– सत्यम् = सत्य। **बृहत्** = महिमा। **ऋतम्** = शाश्वत् नियम। **उग्रं** = उग्रता, शक्ति। **दीक्षा** = दीक्षा, यज्ञ का व्रत। **तपः** = तप, तपस्या। **ब्रह्म** = ब्रह्म। **यज्ञः** = यज्ञ। **पृथिवीम्** = पृथिवी को। **धारयन्ति** = धारण करते है। **भूतस्य** = भूत की, भूतकाल की। **भव्यस्य** = भविष्य की। **पत्नी** = पत्नी, रक्षिका। **सा** = वह। **नः** = हमारी। **पृथिवी** = पृथिवी। **नः** = हमारे। **लोकम्** = लोक को। **उरुम्** = विस्तृत, विशाल। **करोतु** = करे, बना दे।

अनुवाद– सत्य, महिमा (महत्ता), ऋत (शाश्वतनियम), उग्रता (शक्ति), दीक्षा (यज्ञ का व्रत), तपस्या, ब्रह्म (वेद) और यज्ञ पृथिवी को धारण करते हैं। भूतकाल और भविष्यत्काल की रक्षिका वह पृथिवी हमारे लोक को विस्तृत बना दें।

व्याकरण– ऋतम् = ✓ ऋ + क्त। **धारयन्ति** = ✓ धृ + णिच् + लट् प्र. पु., बहु.। **कृणोतु** = ✓ कृ + लोट् + प्र.पु., एक.; 'करोतु' का वैदिक रूप।

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः।।२।।

पदपाठ– असम्ऽबाधम्। मध्यतः। मानवानाम्। यस्याः। उत्ऽवतः। प्रऽवतः। समम्। बहु। नानाऽवीर्याः। ओषधीः। या। बिभर्ति। पृथिवी। नः। प्रथताम्। राध्यताम्। नः।।२।।

शब्दार्थ– यस्याः = जिसके (अर्थात् जिस पर)। **बहु** = बहुत से। **उद्वतः** = ऊँचे। **प्रवतः** = नीचे। **समम्** = समतल। **मानवानाम्** = मनुष्यों के। **मध्यतः** = बीच में। **असंबाधम्** = निर्बाध। **याः** = जो। **नानावीर्याः** = अनेक प्रकार की शक्तियों से युक्त। **ओषधीः** = ओषधियों को। **बिभर्ति** = धारण करती है। **पृथिवी** = पृथिवी। **नः** = हमारे लिए। **प्रथताम्** = विस्तृत हो। **नः** = हमारे लिए। **राध्यताम्** = समृद्ध बने (समृद्धि से युक्त हो जाय)।

अनुवाद– जिसके (अर्थात् जिस पृथ्वी पर) बहुत से ऊँचे, नीचे और समतल (क्षेत्र) मनुष्यों के बीच बाधारहित (अर्थात् बिना किसी बाधा के) स्थित हैं, जो अनेक प्रकार की शक्तियों से युक्त औषधियों को धारण करती है, (वह) पृथिवी हमारे लिए विस्तृत हो और हमारे लिए समृद्ध बने।

व्याकरण– प्रथताम् = ✓ प्रथ् (विस्तृत होना) + लोट्, प्र. पु., एक.। **राध्यताम्** = ✓ राध् (समृद्ध होना) + लोट्, प्र.पु., एक.। **नानावीर्याः** = नाना वीर्याणि यासां ताः (बहु.)। **बिभर्ति** = ✓ भृ + लट्, प्र.पु. एक.।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु।।३।।

पदपाठ– यस्याम्। समुद्रः। उत। सिन्धुः आपः। यस्याम्। अन्नम्। कृष्टयः। सम्ऽबभूवुः। यस्याम्। इदम्। जिन्वति। प्राणत्। एजत्। सा। नः। भूमिः। पूर्वऽपेये। दधातु।।३।।

अन्वय– यस्याम् समुद्रः सिन्धुः उत आपः, यस्यां अन्नम् कृष्टयः संबभूवुः, यस्याम् इदम् प्राणत् एजत् जिन्वति, सा भूमिः नः पूर्वपेये दधातु।

शब्दार्थ– यस्याम् = जिस (पृथिवी) पर। **समुद्रः** = समुद्र। **सिन्धुः** = नदियाँ। **उत** = और। **आपः** = जल। **यस्याम्** = जिस पर। **अन्नम्** = अन्न। **कृष्टयः** = खेतियाँ, फसलें। **संबभूवुः** = उत्पन्न होती हैं। **यस्याम्** = जिस पर। **इदम्** = यह। **प्राणत्** = साँस लेने वाला। **एजत्** = गतिशील। **जिन्वति** = जीवित रहता है, प्रसन्न होता है। **सा** = वह। **भूमिः** = पृथ्वी। **नः** = हमें **पूर्वपेये** = प्रथम पेय में। **दधातु** = धारण करे, स्थापित करे।

अनुवाद– जिस (पृथिवी) पर समुद्र, नदियाँ और जल (हैं), जिस पर अन्न और खेतियाँ (फसलें) उत्पन्न होती हैं; जिस पर यह साँस लेने वाला और गतिशील जगत् जीवित रहता है (अथवा प्रसन्न होता है), वह पृथ्वी हमें प्रथम पेय में (उत्तम पेय वाले प्रदेश में) धारण करे (स्थापित करे)।

व्याकरण– संबभूवुः - सम् + ✓भू + लिट्, प्र.पु.बहु.। **प्राणत्** - प्र + ✓अन् + शतृ। **एजत्** - ✓एज् + शतृ। **जिन्वति** - ✓जिन्व् + लट्, प्र. पु., एक.। **दधातु** - ✓धा + लोट्, प्र. पु., एक.।

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु।।४।।

पदपाठ– यस्याः। चतस्रः प्रऽदिशः पृथिव्याः। यस्याम्। अन्नम्। कृष्टयः। सम्ऽबभूवुः। या। बिभर्ति। बहुऽधा। प्राणत्। एजत्। सा। नः भूमिः। गोषु। अपि। अन्ने। दधातु।।४।।

अन्वय– यस्याः पृथिव्याः चतस्रः प्रदिशिः, यस्याम अन्नम् कृष्टयः संबभूवुः, याः प्राणत् एजत् बहुधा बिभर्ति, सा भूमिः नः गोषु अपि अन्ने दधातु।

शब्दार्थ– यस्याः = जिस पृथिवी की। **चतस्रः प्रदिशः** = चार प्रमुख दिशाएँ। **यस्याम्** = जिस पर। **अन्नम्** = अन्न। **कृष्टयः** = खेतियाँ, फसलें। **संबभूवुः** = उत्पन्न होती हैं। **या** = जो। **प्राणत्** = प्राण धारण करने वाले, साँस लेने वाले। **एजत्** = गतिशील। **बहुधा** = अनेक प्रकार से। **बिभर्ति** = धारण करती है। **सा** = वह। **भूमिः** = पृथ्वी। **नः** = हमें। **गोषु** = गायों में। **अपि** = भी। **अन्ने** = अन्न में। **दधातु** = धारण करे, स्थापित करे, प्रदान करे।

अनुवाद– जिस पृथ्वी की चार प्रमुख दिशाएँ हैं, जिस पर अन्न और खेतियाँ (फसलें) उत्पन्न होती हैं, जो प्राणधारण करने वाले और गतिशील (जगत्) को अनेक प्रकार से धारण करती है, वह पृथिवी हमें गायों और अन्नों में स्थापित करे (अर्थात् हमें गाएँ और अन्न प्रदान करे)।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु।।५।।

पदपाठ– यस्याम्। पूर्वे। पूर्वऽजनाः। विचक्रिरे। यस्याम् देवाः। असुरान् अभिऽअवर्तयन्। गवाम्। अश्वानाम्। वयसः। च। विऽस्था। भगम्।। वर्चः। पृथिवी। नः दधातु।।५।।

अन्वय– यस्यां पूर्वे पूर्वजनाः विचक्रिरे, यस्यां देवाः असुरान् अभ्यवर्तयन्। पृथिवी गवाम् अश्वानां वयसः च विष्ठा, न भगं वर्चः दधातु।

शब्दार्थ– यस्याम् = जिस पर। **पूर्वे** = प्राचीन। **पूर्वजनाः** = पूर्वजों ने। **विचक्रिरे** = विचरण किया था, विशिष्ट कर्म किया था। **यस्याम्** = जिस पर। **देवाः** = देवताओं ने। **असुरान्** = असुरों को। **अभ्यवर्तयन्** = आक्रमणपूर्वक भगा दिया। **पृथिवी** = पृथिवी। **गवाम्** = गायों का। **अश्वानां** = अश्वों का। **वयसः च** = और पक्षियों का। **विष्ठा** = निवास स्थान (है)। **नः** = हमें। **भगम्** = ऐश्वर्य। **वर्चः** = तेज। **दधातु** = धारण करे, प्रदान करे।

अनुवाद– जिस (पृथिवी) पर (हमारे) प्राचीन पूर्वजों ने विशिष्ट कर्म किये, जिस पर देवताओं ने असुरों को आक्रमणपूर्वक भगा दिया, (जो) पृथ्वी गायों, अश्वों और पक्षियों का निवास स्थान है, (वह पृथिवी) हमें ऐश्वर्य (और) तेज प्रदान करे।

व्याकरण– विचक्रिरे = वि + √कृ (करना) + लिट्, प्र. पु., बहु., आत्मने.। **अभ्यवर्तयन्** = अभि + √वृ + णिच् + लङ्, प्र.पु., बहुव.।

यार्णवेधि सलिलमग्र आसीत् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योऽमन् सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।।६।।

पदपाठ– या। अर्णवे। अधि। सलिलम्। अग्रे। आसीत्। याम्। मायाभिः। अनुऽअचरन्। मनीषिणः। यस्याः। हृदयम्। परमे विऽओमन्। सत्येन। आऽवृतम् अमृतम्। पृथिव्याः। सा। नः। भूमिः। त्विषिम्। बलम्। राष्ट्रे। दधातु। उतऽतमे।।६।।

अन्वय– या अग्रे अर्णवे सलिलम् अधि आसीत् याम् मनीषिणः मायाभिः अन्वचरन् यस्याः पृथिव्याः सत्येन आवृतम्, अमृतं हृदयं परमे व्योमन् सा भूमिः नः बलं त्विषि उत्तमे राष्ट्रे दधातु।

शब्दार्थ– या = जो। **अग्रे** = पहले। **अर्णवे** = समुद्र में। **सलिलम् अधि** = जल के अन्दर। **आसीत्** = थी। **याम्** = जिसे। **मनीषिणः** = मनीषियों ने। **मायाभिः** = बुद्धि द्वारा। **अन्वचरन्** = अन्वेषण किया, प्राप्त किया। **यस्याः पृथिव्याः** = जिस पृथिवी का। **सत्येन आवृतम्** = सत्य द्वारा अच्छादित। **अमृतम्** = अमर। **हृदयं** = हृदय। **परमे व्योमन्** = सर्वोच्च आकाश में। **सा** = वह। **भूमिः** = पृथिवी। **नः** = हमें। **बलम्** = बल। **त्विषिम्** = तेज। **उत्तमे राष्ट्रे** = उत्तम राष्ट्र में। **दधातु** = प्रतिष्ठित (स्थापित) करे।

अनुवाद– जो पृथिवी पहले (प्रारम्भ में) समुद्र में जल के अन्दर थी, जिसे मनीषियों (विद्वानों) ने (अपनी) बुद्धि द्वारा प्राप्त किया, जिस पृथिवी का सत्य द्वारा आच्छादित अमर हृदय सर्वोच्च आकाश में (स्थित है) वह पृथिवी हमें बल और तेज (प्रदान करे) तथा हमें उत्तम राष्ट्र में प्रतिष्ठित (स्थापित) करे।

व्याकरण– अन्वचरन् - अनु + ✓चर् + लङ्, प्र.पु.बहुव.। **व्योमन्** - 'व्योम्नि' का वैदिक रूप, सप्तमी एक.।

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सानो भूमिर्भूरिधारा पयोदुहामथो उक्षतु वर्चसा।।७।।

पदपाठ– यस्याम्। आपः। परिऽचराः। समानीः। अहोरात्रे इति। अप्रमादम्। क्षरन्ति। सा। नः। भूमिः। भूरिऽधारा। पयः। दुहाम्। अथो इति। उक्षतु। वर्चसा।।७।।

अन्वय– यस्यां परिचराः आपः समानी अहोरात्रे अप्रमादम् क्षरन्ति। भूरिधारा सा भूमिः नः पयः दुहाम् अथो वर्चसा उक्षतु।

शब्दार्थ– यस्याम् = जिस (पृथिवी) पर। **परिचराः** = चारों ओर विचरण करने वाले। **आपः** = जल। **समानीः** = समान रूप से। **अहोरात्रे** = दिन-रात। **अप्रमादम्** = प्रमादरहित, निर्बाधरूप से। **क्षरन्ति** = बहते हैं, प्रवाहित होते हैं। **भूरिधारा** = अनेकधाराओं वाली। **सा भूमिः** = वह पृथिवी। **नः** = हमें। **पयः** = दुग्ध, जल। **दुहाम्** = प्रदान करे। **अथो** = और। **वर्चसा** = तेज से। **उक्षतु** = सम्पृक्त करे, अभिषिञ्चित करे, सींच दे।

अनुवाद– जिस पृथिवी पर चारों ओर विचरण करने वाले जल समान भाव से रात-दिन निर्बाधरूप से प्रवाहित होते हैं, अनेक धाराओं वाली वह पृथिवी हमें दुग्ध (जल) प्रदान करे तथा हमें तेज से सम्पृक्त करे (सींच दे)।

व्याकरण– दुहाम् - ✓दुह् + लोट्, प्र.पु., एक.। **उक्षतु** - ✓उक्ष् (सींचना) + लोट्, प्र.पु., एक.।

यामश्विनावभिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः।।८।।

पदपाठ– याम्। अश्विनौ। अभिमाताम्। विष्णुः। यस्याम्। विऽचक्रमे। इन्द्रः। याम्। चक्रे। आत्मने। अनमित्राम्। शचीऽपतिः। सा। नः। भूमिः। वि। सृजताम् माता पुत्राय। मे। पयः।।८।।

अन्वय– याम् अश्विनौ अभिमाताम्, यस्यां विष्णुः विचक्रमे, यां शचीपतिः इन्द्र आत्मने अनमित्राम् चक्रे, नः सा पृथिवी माता मे पुत्राय पयः विसृजताम्।

शब्दार्थ– याम् = जिस (पृथिवी) को। **अश्विनौ** = अश्विनीकुमारों ने। **अभिमाताम्** = नापा। **यस्याम्** = जिस पर। **विष्णुः** = विष्णु ने। **विचक्रमे** = डग भरा। **याम्** = जिसे। **शचीपतिः** = इन्द्राणी के स्वामी। **इन्द्रः** = इन्द्र ने। **आत्मने** = अपने (हित के) लिए। **अनमित्राम्** = शत्रुरहित। **चक्रे** = कर दिया। **नः** = हमारी। **सा** = वह। **माता** = माता। **भूमिः** = पृथिवी। **मे पुत्राय** = मुझ पुत्र के लिए। **पयः** = दूध। **विसृजताम्** = प्रदान करे।

अनुवाद– जिस (पृथिवी को) अश्विनीकुमारों ने नापा, जिस पर विष्णु ने (अपना) डग भरा (पादन्यास किया), जिसे इन्द्राणी (अथवा शक्ति) के स्वामी इन्द्र ने अपने (हित के) लिये शत्रुरहित कर दिया; वह हमारी पृथिवी माता मुझ पुत्र के लिए दूध प्रदान करे (जैसे माता पुत्र को दूध देती है हमें उसी प्रकार दूध तथा अन्य पदार्थ दे।)

व्याकरण– अभिमाताम् - अभि + ✓मा + लङ्, प्र.पु., द्विव.। **विचक्रमे** - वि + ✓क्रम् + लिट्, प्र.पु.एक.। **चक्रे** - ✓कृ + लिट्, प्र.पु., एक.। **विसृजताम्** - वि + ✓सृज् + लोट्, प्र.पु., एक.।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्।।९।।

पदपाठ– गिरयः। ते। पर्वताः। हिमऽवन्तः। अरण्यम्। ते। पृथिवि। स्योनम्। अस्तु। बभ्रुम्। कृष्णाम्। रोहिणीम्। विश्वऽरूपाम्। ध्रुवाम्। भूमिम्। पृथिवीम्। इन्द्रऽगुप्ताम्। अजीतः। अहतः। अक्षतः। अधि। अस्थाम्। पृथिवीम्। अहम्।।९।।

अन्वय– पृथिवि! ते गिरयः हिमवन्तः पर्वताः ते अरण्यं स्योनम् अस्तु। ब्रभुम् कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां इन्द्रगुप्तां भूमिं पृथिवीम् अहं अजीतः अहतः अक्षतः अधि अस्थाम्।

शब्दार्थ– पृथिवि = हे पृथिवी! **ते** = तुम्हारी। **गिरयः** = पहाड़ियाँ। **हिमवन्तः पर्वताः** = बर्फवाले पर्वत। **ते** = तुम्हारे। **अरण्यम्** = वन, जंगल। **स्योनम्** = सुखकर, कल्याणकारी! **अस्तु** = होवे। **बभ्रुम्** = भूरी। **कृष्णाम्** = काली। **रोहिणीम्** = लाल। **विश्वरूपाम्** = अनेक रूप वाली। **ध्रुवाम्** = स्थिर। **इन्द्रगुप्ताम्** = इन्द्र द्वारा रक्षित। **भूमिम्** = भूमिवाली। **पृथिवीम्** = सुविस्तृत। **पृथिवीम्** = पृथ्वी पर। **अजीतः** = अजेय (अपराजित)। **अहतः** = अहिंसित। **अक्षतः** = अक्षत, नाशरहित। **अधि अस्थाम्** = अधिष्ठित हो जाऊँ।

अनुवाद– हे पृथिवी! तुम्हारी पहाड़ियाँ, हिम से ढके पर्वत और तुम्हारे वन (हमारे लिए) सुखकर (कल्याणकारी) हों। भूरी, काली, लाल, अनेक रूपों वाली, स्थिर और इन्द्र द्वारा रक्षित सुविस्तृत पृथिवी पर मैं अजेय (अपराजित), अहिंसित और अक्षत (नाशरहित) होकर अधिष्ठित (प्रतिष्ठित) हो जाऊँ।

व्याकरण– **अजीतः** - नञ् (अ) + ✓जि + क्त। अहतः, नञ् (अ) + ✓हन् + क्तः; **अक्षतः** - नञ् (अ) + ✓क्षत् + क्त। **अधि अस्थाम्** - अधि + ✓ स्था + लङ्, उ.पु., एक.।

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।।१०।।

पदपाठ– **यत्। ते। मध्यम्। पृथिवि। यत्। च। नभ्यम्। याः। ते। ऊर्जः। तन्वः। सम्ऽबभूवुः। तासु। नः। धेहि। अभि। नः। पवस्व। माता। भूमिः। पुत्रः। अहम्। पृथिव्याः। पर्जन्यः। पिता। सः। ऊँ इति। नः पिपर्तु।।१०।।**

अन्वय– पृथिवि ! यत्, ते मध्यं, यत् नभ्यं च, या ते तन्वः ऊर्जः संबभूवुः तासु नः धेहि, नः अभि पवस्व, भूमिः माता, अहं पृथिव्याः पुत्रः, पर्जन्यः पिता। सः नः पिपर्तु।

शब्दार्थ– **पृथिवि** = हे पृथिवी ! **यत्** = जो। **ते** = तुम्हारा। **मध्यम्** = मध्य भाग। **यत्** = जो। **नभ्यम्** = नाभि का क्षेत्र। **च** = तथा। **या** = जो। **ते** = तुम्हारे। **तन्वः** = शरीर से। **ऊर्जः** = रस। **संबभूवुः** = उत्पन्न हुए हैं। **तासु** = उनमें। **नः** = हमें। **धेहि** = धारण करो। **नः** = हमे। **अभि पवस्व** = पवित्र करो। **भूमिः** = भूमि। **माता** = माँ। **अहम्** = मैं। **पृथिव्याः** = पृथिवी का। **पुत्रः** = पुत्र। **पर्जन्यः** = पर्जन्य (वृष्टि का देवता)। **पिता** = पिता। **सः** = वह। **नः** = हमारा। **पिपर्तु** = पालन-पोषण करे, रक्षा करे।

अनुवाद– हे पृथिवी ! जो सुम्हारा मध्यभाग है, जो नाभि का क्षेत्र है तथा जो तुम्हारे शरीर से उत्पन्न रस है, उन सब में हमें धारण (स्थापित) करो। हमें पवित्र करो। भूमि माता है, मैं पृथिवी का पुत्र हूँ, पर्जन्य पिता है, वह हमारा पालन-पोषण करे (रक्षा करे)।

व्याकरण– **धेहि** = ✓ धा + लोट्, म.पु., एक. ! **पवस्व** = ✓ पू + लोट्, म.पु., एक.। **पिपतु** = ✓ पृ + लोट्, प्र. पु., एक.।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्याः त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवी पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन् सूर्यो
रश्मिभिरातनोति।।११।।

पदपाठ– **त्वत्। जाताः। त्वयि। चरन्ति। मर्त्याः। त्वम्। बिभर्षि। द्विऽपदः। त्वम्। चतुःऽपदः। तव। इमे। पृथिवि। पञ्च। मानवाः। येभ्यः। ज्योतिः। अमृतम्। मर्त्येभ्यः। उत्ऽयन्। सूर्यः। रश्मिऽभिः आऽतनोति।।११।।**

अन्वय– त्वत् जाता मर्त्याः त्वयि चरन्ति, त्वम् द्विपदः त्वं चतुष्पदः विभर्षि। पृथिवि ! इमे पञ्च मानवाः येभ्यः मर्त्येभ्यः उद्यन् सूर्यः रश्मिभिः अमृतं आतनोति।

शब्दार्थ– **त्वत् जातः** = तुमसे उत्पन्न हुए। **मर्त्याः** = प्राणी। **त्वयि** = तुम्हारे ऊपर। **चरन्ति** = विचरण करते हैं, कर्म करते हैं। **त्वम्** = तुम। **द्विपदः** = दो पैरो वालों को। **त्वम्** = तुम। **चतुष्पदः** = चार पैरो वालों को। **विभर्षि** = धारण करती हो। **पृथिवि** = हे पृथिवी !

इमे = ये। **पञ्च मानवाः** = सभी मनुष्य। **तव** = तुम्हारे। **येभ्यः मर्त्येभ्यः** = जिन मनुष्यों के लिए। **उद्यन्** = उदित होता हुआ। **सूर्यः** = सूर्य। **रश्मिभिः** = किरणों से। **अमृतम्** = अमृततुल्य। **ज्योतिः** = प्रकाश का। **आतनोति** = विस्तार करता है।

अनुवाद– तुमसे उत्पन्न हुए प्राणी तुम्हारे ऊपर (ही) विचरण करते हैं (कर्म करते हैं), तुम दो पैरों वाले (तथा) तुम (ही) चार पैरों वालों को धारण करती हो। हे पृथिवी ! ये सभी मनुष्य तुम्हारे (ही हैं), जिनके लिए उदित होता हुआ सूर्य (अपनी) किरणों से अमृततुल्य प्रकाश का विस्तार करता है।

व्याकरण– बिभर्षि = ✓ भृ + लट्, म.पु., एक.। **आतनोति** = आ + ✓ तन् + लट् प्र.पु., एक.।

जनं॒ बिभ्र॑ती बहु॒धा विवा॑चसं॒ नाना॑धर्माणं पृथि॒वी य॑थौ॒कस॑म्।
स॒हस्रं॒ धारा॑ः द्रवि॑णस्य मे दु॒हां ध्रु॒वेव॑ धेनुरन॑पस्फुरन्ती।।१२।।

पदपाठ– जन॑म्। बिभ्र॑ती। ब॒हु॒ऽधा। वि॒ऽवा॑चसम्। नाना॑ऽधर्माणम्। पृ॒थि॒वी। य॒था॒ऽओ॒क॒सम् स॒हस्र॑म्। धारा॑ः। द्रवि॑णस्य। मे॒। दु॒हाम्। ध्रु॒वाऽइ॑व। धे॒नुः। अन॑पऽस्फुरन्ती।।४५।।

अन्वय– विवाचसं नानाधर्माणं यथौकसम् जनं बहुधा बिभ्रती पृथिवी ध्रुवा अनपस्फुरन्ती धेनुः इव मे द्रविणस्य सहस्रं धाराः दुहाम्।

शब्दार्थ– विवाचसं = विविध बोली वाले। **नानाधर्माणं** = विभिन्न धर्म वाले। **यथौकसम्** = इच्छित स्थान पर घर बनाकर रहने वाले। **जनम्** = लोगों को। **बहुधा** = अनेक प्रकार से। **बिभ्रती** = धारण करती हुई। **पृथिवी** = पृथ्वी। **ध्रुवा** = स्थिर। **अनपस्फुरन्ती** = स्फुरणरहित, अचपल (दूर न भागने वाली)। **धेनुः इव** = गाय के समान। **मे** = मेरे लिए। **द्रविणस्य** = धन की। **सहस्रं धाराः** = हजारों धारायें। **दुहाम्** = दुह दे, प्रदान करे।

अनुवाद– विविध बोली वाले, विभिन्न धर्म वाले, (और) इच्छित स्थान पर घर बनाकर रहने वाले लोगों को अनेक प्रकार से धारण करती हुई पृथ्वी, स्थिर (और) अचपल गाय के समान, मेरे लिए धन की हजारों धारायें दुह दे।

व्याकरण– बिभ्रती = ✓ भृञ् + शतृ + स्त्री. प्र. एक.। **अनपस्फुरन्ती** = अन् + अप् + ✓ स्फुर् + शतृ, स्त्री. प्र. एक व.।

●

परिशिष्ट

वैदिक-व्याकरण

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में कुल अधोलिखित वर्णों की सत्ता प्राप्त होती है।

स्वर– अ , आ , आ३ ; इ , ई , ई३ ; उ , ऊ , ऊ३ , ऋ , ॠ , ॠ३ , ऌ , ॡ , ॡ३ ; ए , ए३ , ऐ , ऐ३ , ओ , ओ३ , औ , औ३।

व्यञ्जन– क्, ख्, ग्, घ्, ङ् (कवर्ग)
च्, छ्, ज्, झ्, ञ् (चवर्ग)
ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् (टवर्ग)
त्, थ्, द्, ध्, न् (तवर्ग)
प्, फ्, ब्, भ्, म् (पवर्ग)

य् र् ल् व् (अन्तस्थ) श् ष् स् ह् (ऊष्म)ᳵक ᳵख(जिह्वामूलीय)ᳶप, ᳶफ (उपध्मानीय) अं (अनुस्वार) अँ (अनुनासिक) कँ्, खँ्, गँ्, घँ् (यम)। स्वरभक्ति; ळ्, ळ्ह (उत्क्षिप्त मूर्धन्य) अः (विसर्जनीय), हुँ (नासिक्य)।

उपर्युक्त ध्वनियों का परिगणन प्रातिशाख्यों के आधार पर किया गया है। इनमें उन सभी ध्वनियों को गिनाया गया है जो किसी भी वैदिक ग्रन्थ में ध्वनि के रूप में उच्चारित होती हैं। 'अ' से औ३ तक २३ स्वर हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी वर्ण व्यञ्जन कहलाते हैं। व्यञ्जनों में क् से म् तक २५ वर्ण 'स्पर्श', य् से व् तक चार वर्ण 'अन्तस्थ', श् से ह् तक चार वर्ण 'ऊष्म', तथा इसी क्रम में दो 'जिह्वामूलीय', दो 'उपध्मानीय', एक 'अनुस्वार', एक 'अनुनासिक', चार 'यम' एक 'स्वरभक्ति' (जिसका कोई लेखन-चिह्न नहीं होता) है।

'ळ्' तथा 'ळ्ह्' ये दोनों वर्ण लौकिक संस्कृत भाषा में नहीं पाये जाते; परन्तु वैदिक भाषा में इनकी सत्ता है। आचार्य वेदमित्र के अनुसार जब दो स्वर-वर्णों के मध्य में 'ड्' का उच्चारण किया जाता है तब वही 'ड्' 'ळ्' का रूप ग्रहण कर लेता है तथा जब 'ढ्' वर्ण दो स्वरों के मध्य उच्चारित होता है तब 'ळ्ह्' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। हिन्दी भाषा में 'ड़' तथा 'ढ़' ध्वनियाँ क्रमशः ळ् तथा ळ्ह का प्रतिनिधित्व करती हैं। जबकि 'मराठी' भाषा में 'ळ्' ध्वनि ल् का प्रतिनिधित्व करती है।

वर्णों के उच्चारणस्थान

कण्ठ

सभी प्रकार के अ, हकार एवं विसर्जनीय वर्णों का उच्चारणस्थान 'कण्ठ' है। कुछ लोग हकार तथा विसर्ग को उरस् (छाती) से उच्चरित होने वाली ध्वनियाँ स्वीकार करते हैं।

जिह्वामूल– सभी प्रकार की 'ऋ', ऌ, ≍ क, ≍ ख तथा कवर्ग जिह्वामूलीय हैं।

तालु– सभी प्रकार की 'इ', ए, ऐ, यकार, शकार, तथा चवर्ग तालव्य ध्वनियाँ हैं।

मूर्धा– टवर्ग, षकार, ळ्, ळ्ह ये मूर्धन्य ध्वनियाँ हैं।

दन्तमूल– तवर्ग, स्, र्, ल् ये ध्वनियाँ दन्त्य या दन्तमूलीय हैं।

ओष्ठ– सभी प्रकार के उकार, ओकार, औकार, पवर्ग, वकार तथा ≍ प, ≍ फ ओष्ठ्य ध्वनियाँ हैं।

नासिका– अनुस्वार, यम तथा अनुनासिक ध्वनियाँ नासिक्य हैं।

उच्चारणस्थान सम्बन्धी उपर्युक्त तथ्य 'ऋग्वेदप्रातिशाख्य' के आधार पर दिये गये हैं।

यम ध्वनियाँ– जब अपञ्चमस्पर्श के बाद पञ्चमस्पर्श आता है, तब दोनों ध्वनियों के मध्य अपञ्चमस्पर्श के सदृश एक अतिरिक्त ध्वनि का आगम हो जाता है। इसे 'यम' कहते हैं। जैसे पलिक्नी = पलिक्कँ्नीं, जघ्नतुः = 'जघ्घँ्नतुः'। यहाँ पर 'कँ्' तथा 'घँ्' ध्वनियाँ अतिरिक्त आगम स्वरूप उच्चरित होती हैं, यही ध्वनियाँ 'यम' कहलाती हैं।

अघोष एवं सघोष ध्वनियाँ– ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के अनुसार स्पर्श व्यञ्जनों में प्रत्येक वर्ग के प्रथम एवं द्वितीय व्यञ्जन अघोष हैं तथा शेष व्यञ्जन और सभी स्वर ध्वनियाँ सघोष हैं।

अल्पप्राण तथा महाप्राण ध्वनियाँ– प्रत्येक वर्ग के प्रथम, तृतीय, पञ्चम वर्ण तथा य्, व्, र्, ल् अल्पप्राण हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी व्यञ्जन महाप्राण कहलाते हैं।

जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय

'क' तथा 'ख' वर्णों के पूर्व यदि विसर्ग (:) का उच्चारण होता है, तब विसर्ग जिह्वामूलीय कहलाता है। तथा 'प' एवं 'फ' ध्वनियों से पूर्व यदि विसर्ग का उच्चारण होता है तब विसर्ग उपध्मानीय कहलाता है। इन ध्वनियों को इस प्रकार लिखने की परम्परा प्राचीनकाल में थी, जो अब प्रायः लुप्त हो गयी है–'राम ≍ करोति', 'राम ≍ खादति में, ≍ क, ≍ ख जिह्वामूलीय तथा स ≍ पठति, वृक्ष ≍ फलति में, ≍ प, ≍ फ उपध्मानीय हैं। ध्यातव्य है कि जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय संज्ञायें विसर्ग ध्वनि की ही होती हैं। जिन्हें प्राचीन ग्रंथों में '≍' के रूप में प्रदर्शित करने की प्रथा थी।

स्वरभक्ति– स्वर के बाद 'र्' या 'ल्' वर्ण होने पर तथा इनके बाद ऊष्म-वर्ण होने पर 'र्' या 'ल्' तथा ऊष्म वर्ण के मध्य एक अतिरिक्त स्वर-ध्वनि का आगम होता है। यह आगम-ध्वनि 'र्' के बाद 'ऋ' के सदृश श्रुतिगोचर होती है तथा 'ल्' के बाद 'लृ' के सदृश श्रुतिगोचर होती है। प्रायः ऊष्म वर्णों में हकार एवं शकार बाद में होने पर ही स्वरभक्ति के उदाहरण वेदों में प्राप्त होते हैं, जैसे कर्हि = (कर्ऋहि) शतवल्शः = (शतवल्लृशः)। यहाँ पर 'ऋ', तथा 'लृ' ध्वनियाँ स्वर भक्ति के रूप में आई हुई हैं।

स्वर ध्वनियों के भेद– स्वर वर्ण दो प्रकार के होते हैं–

१. समानाक्षर– अ, इ, उ, ऋ एवं लृ स्वर अपने सभी भेदों (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत) सहित समानाक्षर कहलाते हैं।

२. सन्ध्यक्षर– ए , ओ , ऐ , औ , स्वर अपने सभी (दीर्घ एवं प्लुत) भेदों सहित सन्ध्यक्षर कहलाते हैं। इन वर्णों की उत्पत्ति दो स्वरों के मेल से होती है। अ + इ = ए , अ + उ = ओ , अ + ए = ऐ तथा अ + ओ = औ।

मात्रा (उच्चारण में लगने वाले काल) की दृष्टि से स्वर तीन प्रकार के होते हैं। (१) ह्रस्व–जिनके उच्चारण में एक मात्रा समय लगता है, जैसे– अ , इ , उ , ऋ , ऌ। (२) दीर्घ–जिनके उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता हैं, जैसे– आ , ई , ऊ , ॠ , ॡ , ए , ओ , ऐ , औ। (३) प्लुत– जिनके उच्चारण में कम से कम ३ मात्रा का समय लगता है , जैसे– आ३, ई३, ऊ३, ॠ३, ॡ३, ए३, ओ३, ऐ३, औ३। प्लुत स्वर को दीर्घ स्वर के आगे '३' संख्या लिखकर प्रदर्शित करते हैं।

●

सन्धि-प्रकरण

वैदिक भाषा में सन्धियों के नियम प्रायः लौकिक संस्कृत की सन्धियों के सदृश ही हैं। जहाँ-तहाँ कतिपय विभिन्नतायें भी दृष्टिगोचर होती हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में सन्धियों के नाम लौकिकभाषा की सन्धियों से भिन्न हैं। यहाँ पर कतिपय प्रमुख सन्धियों का परिचय संक्षेप में दिया जा रहा है–

प्रश्लिष्ट सन्धि– लौकिकभाषा की स्वर-सन्धियों में दीर्घ, 'गुण' तथा 'वृद्धि' के लिए ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में 'प्रश्लिष्ट' नाम दिया गया है। इसमें दो स्वर मिलकर एक ही में श्लिष्ट हो जाते हैं। अर्थात् दोनों में से कोई एक स्वर दूसरे स्वर के साथ चिपक जाता हैं। 'अकः सवर्णे दीर्घः'; 'आद् गुणः' तथा 'वृद्धिरेचि' सूत्रों से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग में आती हैं। उदाहरणार्थ– अश्व + अजनिः = अश्वाजनिः, हि + ईमिद्धः = हीमिद्धः मधु + उदकम् = मधूदकम्, आ + इन्द्रः = एन्द्रः, एतायाम + उप = एतायामोप, आ + एनम् = ऐनम्, पर + ऐत = परैत, यत्र + ओषधीः = यत्रौषधीः, प्र + औक्षत् = प्रौक्षत् इत्यादि।

क्षैप्रसन्धि– लौकिक भाषा की 'यण्' सन्धि के लिए ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में 'क्षैप्र' नाम दिया गया है। इसमें इ, उ, ऋ, लृ के बाद असवर्ण (इ, उ, ऋ, लृ के अतिरिक्त कोई भी) स्वर आने पर इ को य्, उ को व्, ऋ को र् तथा लृ को ल् आदेश हो जाते हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त स्वरवर्णों के दीर्घ रूपों को भी उक्त आदेश समझना चाहिए। इस सन्धि में सन्धि होने पर पहले की अपेक्षा उच्चारण में कुछ 'क्षिप्रता' आ जाती है, अतः इसे 'क्षैप्र' कहा जाता है। 'इको यणचि' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग में आती हैं। उदाहरणार्थ– अभि + आर्षेयम् = अभ्यार्षेयम्, अनु + अत्र = अन्वत्र। उपर्युक्त उदाहरणों में 'अभि' की इकार के बाद 'आ' स्वर आने पर 'इ' को 'य्' आदेश हो गया है, जो 'इ' की अपेक्षा क्षिप्र = शीघ्र उच्चरित हो जाता है। इसी प्रकार 'अनु' के उकार के बाद 'अत्र' का अकार आने से 'उ' को 'व्' आदेश हुआ है, जो 'उ' की अपेक्षा क्षिप्र = शीघ्र उच्चरित हो जाता है।

अभिनिहित सन्धि– लौकिक संस्कृत की 'पूर्वरूप' सन्धि के लिए ऋग्वेद प्रातिशाख्य में 'अभिनिहित' नाम दिया गया है। इसमें किसी पद या पाद के अन्त में 'ए' अथवा 'ओ' हो तथा परवर्ती पद अथवा पाद के आदि में 'अ' हो, तब वह 'अ' पूर्ववर्ती 'ए' या 'ओ' के साथ मिलकर एकाकार हो जाता है। लौकिक संस्कृत के 'एङः पदान्तादति' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग में आती है। उदाहरणार्थ– सूनवे + अग्ने = सूनवेऽग्ने, रथेभ्यो + अग्ने = रथेभ्योऽग्ने, गावो + अभितः = गावोऽभितः। इत्यादि।

भुग्न सन्धि– लौकिक संस्कृत की 'अयादिचतुष्टय' या 'अयादि' सन्धि को ऋग्वेद प्रातिशाख्य में 'भुग्न' नाम दिया गया है। इसमें 'ओ' अथवा 'औ' के बाद अनोष्ठ्य स्वर उच्चरित होने पर

'ओ' के स्थान पर 'अव्' तथा 'औ' के स्थान पर 'आव्' आदेश हो जाते हैं। भुग्न का अर्थ 'बँट जाना' होता है। इस सन्धि में एक वर्ण 'ओ' बँटकर दो वर्णों 'अव्' में तथा 'औ' बँटकर दो वर्णों 'आव्' में परिवर्तित हो जाते हैं। लौकिक भाषा के 'एचोऽयवायावः' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग में आती है। उदाहरणार्थ– वायो + आ याहि = वायवा याहि, तौ + इन्द्राग्नी = ताविन्द्राग्नी। इन उदाहरणों में ओकार तथा औकार क्रमशः 'अव्' तथा 'आव्' में परिवर्तित हो गए हैं।

उद्ग्राह सन्धि– लौकिक संस्कृत के 'एचोऽयवायावः' तथा 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ ऋक्प्रातिशाख्य में 'उद्ग्राह' सन्धि के नाम से कही गई है। इसमें एकार या ओकार के बाद स्वर होने पर सर्वप्रथम एकार को 'अय्' तथा ओकार को 'अव्' आदेश होते हैं, तत्पश्चात् 'य्' तथा 'व्' का लोप हो जाता है। उदाहरणार्थ– अग्ने + इन्द्रः = अग्न् अय् इन्द्रः = अग्न इन्द्रः, वायो + उक्थेभिः = वाय् अव् उक्थेभिः = वाय उक्थेभिः।

पदवृत्ति सन्धि– यह सन्धि भी 'एचोऽयवायावः' तथा 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र से होने वाली सन्धियों के अन्तर्गत आती है। इसमें 'ऐ' तथा 'औ' के बाद ओष्ठ्य स्वर आने पर 'ऐ' तथा 'औ' के स्थान पर 'आ' हो जाता है। वस्तुतः इसमें भी सर्वप्रथम 'ऐ' को 'आय्' होकर 'य्' का लोप हो जाता है तथा औ को आव् होकर 'व्' का लोप हो जाता है। उदाहरणार्थ– अन्वेतवै + उ = 'अन्वेतवा उ', तथा उभौ + उ = 'उभा उ'।

व्यञ्जन-सन्धियाँ

वेदों में अनेक प्रकार की व्यञ्जन-सन्धियाँ प्राप्त होती हैं, परन्तु यहाँ पर कतिपय प्रमुख सन्धियों का विवेचन किया जा रहा है।

अवशंगम सन्धि– इस सन्धि में दो व्यञ्जन वर्ण बिना किसी विकार के परस्पर मिल जाते हैं। पाणिनि-व्याकरण में इसे सन्धि नहीं कहा गया है। उदाहरणार्थ– आरैक् + पन्थाम् = आरैक्पन्थाम्, वषट् + ते = वषट्ते, यत् + पतये = यत्पतये। ऋक्प्रातिशाख्य 'स्पर्शवर्ण + कोई भी प्रथमस्पर्श' के योग में ही इस सन्धि को स्वीकार करता है।

वशंगम सन्धि– ऋक्प्रातिशाख्य उन सभी व्यञ्जन सन्धियों को इसके अन्तर्गत स्वीकार करता है, जिनमें पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती वर्णों में से किसी का परिवर्तन अन्य व्यञ्जन के रूप में हो जाता है। लौकिक संस्कृत के 'झलां जश् झशि', 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा', 'शश्छोऽटि', 'झयो होऽन्यतरस्याम्' , 'स्तोश्चुना श्चुः', तोर्लि, 'वा पदान्तस्य', इत्यादि सूत्रों से होने वाली सन्धियाँ इसी नाम से कही गयी हैं। उदाहरणार्थ– वाक् + वदन्ति = वाग्वदन्ति, यत् + वाक् = यद्वाक्, अर्वाक् + नराः = अवाङ् नराः, वट् + महान् = वण्महान् , अर्वाक् + शफाविव = अर्वाक्छफाविव, विपाट् + शुतुद्री = विपाट्छुतुद्री, अवाट् + हव्यानि = अवाड्ढव्यानि, तच् + शयोरा = तच्छयोरा, यत् + जिगासि = यज्जिगासि, अङ्गात् + लोम्नः = अङ्गाल्लोम्नः, जिगीवान् + लक्षमादत् = जिगीवाँल्लक्षमादत् , भद्रम् + करिष्यति = भद्रङ्करिष्यति।

परिपन्न सन्धि– 'म्' के बाद जब ऊष्मवर्ण (श् ष् स् ह्) अथवा 'र्' आवे तो 'म्' अनुस्वार हो जाता है। उदाहरणार्थ– होतारम् + रत्नधातमम् = होतारं रत्नधातमम् , त्वाम् + ह = त्वांह।

विशेष– पाणिनि-व्याकरण 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से पदान्त 'म्' के बाद कोई भी व्यञ्जन रहने पर 'म्' को अनुस्वार में परिवर्तित होने का विधान करता है, परन्तु वैदिक संस्कृत में

'म' कार के बाद र् या श्, ष्, स्, ह् वर्णो के रहने पर ही अनुस्वार की सत्ता मानी जाती है। इसी अनुस्वार को 'यजुर्वेदी लोग' 'ग्वङ्' के रूप में उच्चरित करते हैं। यजुर्वेदसंहिता एवं यजुर्वेद से सम्बन्धित अन्यान्य ग्रन्थों–ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों में उपर्युक्त स्थलों पर ॱ (ग्वङ्) की सत्ता प्राप्त होती है। जैसे- गणानां त्वा गणपतिम् + हवामहे = गणानां त्वा गणपति ॱ हवामहे।

आन्-पद पदवृत्ति सन्धि– पदान्त 'आन्' के बाद स्वर होने पर 'न्' का लोप होकर 'आ' स्वर अनुनासिक हो जाता है। उदाहरणार्थ– सर्गान् + इव = सगाँ इव, महान् + इन्द्रः = महाँ इन्द्रः।

विशेष– यदि किसी पाद के अन्त में 'आन्' हो तब उसके नकार का लोप नहीं होता है।

विसर्ग-सन्धि

प्रश्रित सन्धि– ह्रस्व अकार के बाद विसर्ग हो तथा विसर्ग के बाद ह्रस्व अकार अथवा सघोष व्यञ्जन हो तब विसर्ग 'उ' में बदल जाता है तथा अ + उ = 'ओ' हो जाते हैं। लौकिक संस्कृत की 'अतो रोरप्लुतादप्लुते', 'हशि च' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी नाम से कही गई हैं। उदाहरणार्थ– यः + अस्कभायत् = यो अस्कभायत्। इस उदाहरण में विसर्ग के पूर्व ह्रस्व अकार है तथा बाद में भी ह्रस्व अकार है अतः उपर्युक्त सन्धि हुई है।

उद्ग्राह पदवृत्ति सन्धि– जब विसर्ग के पूर्व ह्रस्व अकार हो तथा बाद में अ या आ के अतिरिक्त कोई भी स्वर हो तब विसर्ग का लोप हो जाता है। जैसे यः + इन्द्र = य इन्द्रः कः ईषते = क ईषते।

नियत सन्धि– ह्रस्व स्वर के बाद विसर्ग होने पर तथा विसर्ग के बाद 'र्' होने पर विसर्ग का लोप होता है तथा पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है। पाणिनि-व्याकरण के 'रोरि', 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' सूत्रों से होने वाली सन्धियाँ इसी नाम से कही जाती हैं। पाणिनि-व्याकरण के अनुसार विसर्ग का 'र्' होकर पुनः 'र्' का लोप होकर पूर्ववर्ती ह्रस्वस्वर दीर्घस्वर में बदल जाता है। उदाहरणार्थ–प्रातः + रत्नम् = प्राता रत्नम्, अग्निः + रक्षांसि = अग्नी रक्षांसि।

अकाम सन्धि– (क) जब आ, ई अथवा ऊ के बाद विसर्ग हो, तथा विसर्ग के बाद 'र्' हो तब विसर्ग का लोप हो जाता है। यह सन्धि भी 'रोरि' सूत्र से होने वाली सन्धि के समान कही जा सकती है। उदाहरणार्थ– अश्वाः + रथः = अश्वा रथः।

(ख) 'आ' के बाद विसर्ग हो तथा विसर्ग के बाद कोई सघोष वर्ण हो तब भी विसर्ग का लोप हो जाता है। जैसे– याः + ओषधीः = या ओषधीः, पुनानाः + यन्ति = पुनाना यन्ति।

उपाचरित सन्धि– स्वर के बाद विसर्ग तथा विसर्ग के बाद 'क्' अथवा 'प्' हो तब विसर्ग को 'स्' आदेश हो जाता है। जैसे– शश्वतः + कः = शश्वतस्कः, यः + पतिः = यस्पतिः, निः + कृतिः = निष्कृतिः। यह सन्धि 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से होने वाली सन्धि के सदृश है।

रेफ सन्धि– जब स्पर्श वर्ण के बाद विसर्ग तथा विसर्ग के बाद सघोष वर्ण हो तब विसर्ग 'र्' में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरणार्थ– प्रातः + अग्निम् = प्रातरग्निम्, प्रातः + मित्रावरुणा = प्रातर्मित्रावरुणा, अग्निः + अस्मि = अग्निरस्मि।

शब्द-रूप प्रकरण

वैदिक भाषा में भी शब्दों के रूप पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग, एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन, में पाये जाते हैं। इस भाषा में भी लौकिक संस्कृत की भाँति प्रथमा से सम्बोधन पर्यन्त सभी विभक्तियाँ पायी जाती हैं। वैदिक संस्कृत में कतिपय शब्दों के अनेक विभक्तियों में वैकल्पिक रूप भी प्राप्त होते हैं। नीचे सरलता की दृष्टि से पाणिनि-सूत्रों के आधार पर शब्द-रूपों से सम्बन्धित कतिपय विशिष्टतायें बतलाई जा रही हैं।

आज्जसेरसुक् (७/१/५०)–अकारान्त प्रातिपदिक से 'जस्' (प्रथमा एवं सम्बोधन बहुवचन) प्रत्यय लगने पर जस् प्रत्यय को 'असुक्' का आगम होता है। असुक् प्रत्यय में 'क्' वर्ण की इत्संज्ञा होने से यह 'कित्' है, अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र से यह अन्त (बाद) में होता है। उदाहरणार्थ– देव + जस् = देव + जस् + असुक् (अस्) = देवासः रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार जनासः, रथासः, ब्राह्मणासः रूप भी वैदिक भाषा में प्राप्त होते हैं।

वैदिक भाषा में सुप् प्रत्ययों को शब्दों के साथ जुड़ने से निम्नलिखि ११ प्रकार की वैकल्पिक विशेषतायें प्राप्त होती हैं–

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (७।१।३९)

(क) सु– किसी भी 'सुप्' विभक्ति के स्थान में 'सु' (प्रथमा, एकवचन) लगती है। उदाहरणार्थ– ऋजवः सन्तु पन्थाः (ऋ० १०।८५।२३) मन्त्रांश में 'सन्तु' क्रियापद बहुवचन में होने के कारण 'पन्थानः' (प्रथमा बहु० में) होना चाहिए परन्तु उपर्युक्त सूत्र (सुपां सुलुक्०) से पन्थाः ('सु' विभक्ति) होकर बना है।

(ख) लुक्– वैदिक भाषा में कहीं-कहीं किसी भी सुप् (विभक्ति) प्रत्यय का लोप हो जाता है। जैसे– 'परमे व्योमन्' (ऋ० १।२९।७) मन्त्रांश में 'परमे' पद सप्तमी एकवचन में होने के कारण 'व्योमन्' पद को भी सप्तमी ए० व० अर्थात् 'व्योमनि' होना चाहिए , परन्तु ऐसा न होकर सप्तमी एकवचन 'ङि' विभक्ति का लोप होकर 'व्योमन्' रूप भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार विश्वा, विश्वानि इत्यादि अनेक वैकल्पिक रूप प्राप्त होते हैं।

(ग) पूर्वसवर्ण– जहाँ पर स्वरादि 'सुप्' (विभक्ति)ऽप्रत्यय लगने पर 'यण्' का विधान हो, वहाँ पूर्वसवर्ण अर्थात् प्रातिपदिक और प्रत्यय को प्रातिपदिक के अन्तिम स्वर का सवर्णी स्वरूप एकादेश हो जाता है। जैसे– धीति + टा (आ), मति + टा (आ) तथा सुस्तुति + टा (आ) प्रत्यय होने पर पूर्वसवर्ण होकर क्रमशः धीती, मती एवं सुष्टुती पद बन जाते हैं। लौकिक संस्कृत में यण् होकर धीत्या, मत्या तथा सुष्टुत्या रूप बनते हैं।

(घ) आ– प्रथमा एवं द्वितीया के द्विवचन (औ, औट्) प्रत्ययों से बने पदों के औकार के स्थान पर 'आ' आदेश होता है। जैसे– यत् शब्द के पुल्लिङ्ग द्विवचन के 'यौ' को 'या' हो जाता है। सुरथ, देव, दिविस्पृश्, अश्विन् आदि शब्दों के प्रथमा एवं द्वितीया द्विवचन में क्रमशः सुरथा, देवा, द्विवस्पृशा, अश्विना आदि रूप भी बनते हैं।

(ङ) आत्– द्वितीया एकवचन (अम्) विभक्ति के स्थान पर 'आत्' आदेश होता है। जैसे 'नत' शब्द के द्वितीया एकवचन में नत + अम् = नत + आत् होकर 'नतात्' रूप भी बनता है।

(च) शे– सप्तमी बहुवचन 'सुप्' विभक्ति तथा चतुर्थी बहुवचन 'भ्यस्' विभक्ति के स्थान पर 'शे' = 'ए' आदेश होता है– जैसे युष्मद् + सुप् = युष्मद् + शे (ए) = दकार का लोप होकर 'युष्मे' रूप बनता है। इसी प्रकार अस्मद् + सुप् = अस्मद् + शे (ए) = 'अस्मे' रूप बनता है। चतुर्थी बहुवचन 'भ्यस्' विभक्ति लगने पर भी इसी प्रकार के रूप अर्थात् युष्मे, अस्मे ही बनते हैं।

(छ) या– तृतीया एकवचन 'टा' विभक्ति के स्थान पर 'या' आदेश होता है परन्तु यह आदेश वहीं होता है जहाँ 'टा' को पहले 'ना' आदेश होता है। उदाहरणार्थ– 'उरु' शब्द के तृ०ए०व० में 'उरुणा' के स्थान पर उरुया, 'घृष्णु' शब्द के तृ०ए०व० में घृष्णुना के स्थान पर घृष्णुया रूप भी प्राप्त होते हैं।

(ज) डा– सप्तमी एकवचन 'ङि' विभक्ति के औकारान्त रूपों में 'औ' के स्थान पर 'डा' आदेश होता है। 'डा' आदेश डित् है, अतः प्रातिपदिक की 'टि' (अन्तिम स्वरवर्ण या अन्तिम स्वरवर्ण जिस वर्णसमूह के आदि में स्थित हो) का लोप होता है। उदाहरणार्थ– नाभि + ङि = नाभि + डा (आ) = नाभ् + आ = नाभा (नाभि शद के अन्तिम 'इ' स्वर का लोप होकर) रूप बनता है।

(झ) ड्या– तृतीया एकवचन के रूप में कहीं-कहीं आङ् होता है। इसी 'आङ्' के स्थान पर 'ड्या' आदेश हो जाता है। उदाहरणार्थ– अनुष्ठा शब्द के तृ०ए० में 'अनुष्ठया' होना चाहिए परन्तु वैदिक भाषा में 'अनुष्ठ्या' रूप भी प्राप्त होता है।

(ञ) याच्– सम्बोधन एकवचन में 'याच्' आदेश होता है। उदाहरणार्थ– 'साधु' शब्द के सम्बोधन एकवचन में साधु + सु = साधु + याच् = 'साधुया' रूप भी बनता है। लौकिक संस्कृत में 'साधो' रूप ही बनता है।

(ट) आल्– सप्तमी एकवचन के रूपों में आने वाले अन्तिम वर्ण 'ए' के स्थान पर 'आल्' आदेश हो जाता है। उदाहरणार्थ– 'वसन्त' शब्द के सप्तमी ए०व० में 'वसन्ते' का रूप वसन्त + आल् (आ) = 'वसन्ता' भी मिलता है।

नोट– उपरिकथित रूप कुछ सीमित शब्दों के ही प्राप्त होते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सभी शब्द निश्चित रूप से वैकल्पिक रूप रखते ही हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य अनेक विशेषतायें वैदिकभाषा में कहीं-कहीं पाई जाती हैं, जो निम्नलिखित हैं–

(१) अकारान्त पुल्लिग शब्दों से तृतीया बहुवचन में 'भिस्' प्रत्यय के स्थान पर 'ऐस्' आदेश विकल्प से होता है। जैसे– देवैः, देवेभिः, प्रियैः, प्रियेभिः, रामैः रामेभिः इत्यादि।

(२) अकारान्त शब्द के तृतीया एकवचन के अन्त में 'आ' अथवा 'एण' होता है। जैसे– प्रिया, प्रियेण आदि।

(३) आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द के प्रथमा एवं सम्बोधन बहुवचन के अन्त में 'आः' तथा 'आसः' दोनों प्रत्यय होते हैं। जैसे– प्रियाः, प्रियासः। तृतीया एकवचन के अन्त में 'आ' होता है। जैसे– प्रिया, प्रियया आदि।

(४) इकारान्त पुल्लिग शब्द. के तृ॰ए॰व॰ के अन्त में 'ना' अथवा 'या' होता है। जैसे शुचिना, शुच्या।

(५) इकारान्त स्त्रीलिंग शब्द के तृ॰ए॰व॰ के अन्त में 'आ' होता है अथवा कोई भी विभक्ति-चिह्न नहीं होता है तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी विभक्तियों के एकवचन में पुल्लिग के समान रूप बनते हैं।

(६) उकारान्त पुल्लिग शब्दों के रूप इकारान्त शब्दों के रूपों के समान ही होते हैं। षष्ठी एकवचन में कुछ भिन्नता होती है। जैसे– 'मधु' शब्द का षष्ठी एकवचन में 'मध्वः' तथा 'मध्वोः' दोनों रूप बनते हैं।

(७) संख्यावाची 'एक' शब्द के पञ्चमी एकवचन में 'एकस्मात्' तथा 'एकात्' दोनों रूप होते हैं। इसी प्रकार सप्तमी एकवचन में 'एकस्मित्' तथा 'एके' दोनों रूप बनते हैं।

(८) 'तिसृ' एवं 'चतसृ' शब्दों के षष्ठी बहुवचन में 'तिसृणाम्', चतसृणाम् रूप भी विकल्प से होते हैं।

(९) 'अस्मद्' और 'युष्मद्' शब्द के रूपों की कतिपय विशिष्टतायें निम्नलिखित हैं:-

अस्मद्

प्रथमा द्विवचन में वाम् तथा आवाम्।
चतुर्थी ए॰व॰ में मह्यम्, मह्य।
सप्तमी ब॰व॰ में अस्मासु, अस्मे।

युष्मद्

प्रथमा द्विवचन में युवाम् तथा युवम्।
तृतीया ए॰व॰ में त्वा, त्वया।
तृ॰ब॰व॰ में युवभ्याम्, युवाभ्याम्।
पञ्चमी एकव॰ 'त्वत्', द्विवचन में 'युवत्', 'युवाभ्याम्'।
सप्तमी ए॰व॰ में 'त्वे', 'त्वयि', बहुवचन में 'युष्मे', 'युष्मासु'।

(१०) 'हु' धातु का कर्म तृतीया अथवा द्वितीया दोनों विभक्तियों में प्राप्त होता है (तृतीया च होश्छन्दसि)। जैसे– 'यवाग्वाऽग्निोत्रं जुहोति'। यहाँ पर यवागू (हव्य वस्तुविशेष) अग्निहोत्र का विशेषण है, उसमें कर्मकारक होने पर भी तृतीया विभक्ति है।

(११) कहीं-कहीं चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति एवं षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति का. प्रयोग प्राप्त हो जाता है (चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि।–पा॰२।३।६२ एवं षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्।–वार्तिक)। उदाहरणार्थ–'गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्' तथा 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः'! इन उदाहरणों में 'वनस्पतीनाम्' का अर्थ है–वनस्पतियों के लिए। परन्तु इसमें

चतुर्थी न होकर षष्ठी है। सम्पूर्ण मन्त्रांश का अर्थ इस प्रकार है–वनदेवताओं (वनस्पति देवताओं) के लिए गोधा, (गोह) कालका, (एक पक्षिविशेष) दार्वाघाट (काठफोड़वा पक्षी) चाहिए। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण का अर्थ है– जो स्त्री खर्व (छिन्न अंग) से पीती है, उसको छिन्नांग (पुत्र प्राप्त होता है)। यहाँ पर षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग है।

(१२) 'यज्' धातु का 'करण' तृतीया तथा षष्ठी दोनों विभक्तियों में हो सकता है। 'यजेश्च करणे' (पा॰ २।३।६३)। उदाहरणार्थ– घृतस्य घृतेन वा यजते = घृत से हवन किया जाता है।

प्रत्यय विचार

वैदिक भाषा के प्रत्ययों में भी लौकिक संस्कृत के प्रत्ययों से कुछ विशेषतायें पाई जाती हैं। विद्यार्थियों को सुविधा के लिए कतिपय प्रमुख विशेषतायें यहाँ दी जा रही हैं:–

(१) पूर्वकालिक क्रिया-रूप– इस प्रकार के रूप लौकिक संस्कृत में 'क्तवा प्रत्यय तथा 'ल्यप्' प्रत्यय जोड़कर बनाये जाते हैं, परन्तु वैदिक भाषा में 'त्वी' 'त्वाय' तथा 'त्वा' प्रत्यय जोड़कर भी बनाये जाते हैं। उदाहरणार्थ– 'त्वी' जोड़कर–कृत्वी, गत्वी, भूत्वी, वृक्त्वी, जनित्वी, स्कमित्वी आदि। 'त्वा' जोड़कर–पीत्वा, भित्वा, भूत्वा, मित्वा, युक्त्वा, तृप्त्वा, श्रुत्वा, हत्वा, हित्वा आदि। 'त्वाय' जोड़कर–जगध्वाय, गत्वाय, दत्त्वाय, दृष्ट्वाय, युक्त्वाय, हत्वाय, हित्वाय आदि।

लौकिक संस्कृत में धातु के पूर्व उपसर्ग रहने पर 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' प्रत्यय होता है–जैसे परिगृह्य, आगम्य आदि। परन्तु वैदिक भाषा में कहीं कहीं उपसर्ग पहले रहने पर भी धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है। जैसे– प्रज्ञापयित्वा।

(२) तुमर्थक प्रत्यय– कतिपय वैदिक विद्वानों के मतानुसार तुमर्थक प्रत्यय वस्तुतः धातुओं से बने हुए संज्ञा शब्दों के द्वितीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियों के रूप हैं। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में चतुर्थी विभक्ति के पदों का अधिक प्रयोग प्राप्त होता है। 'तुमुन्' प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग सम्पूर्ण ऋग्वेद संहिता में मात्र ५ बार प्राप्त होता है। 'तुमुन्' के अर्थ में जो प्रत्यय वेदों में पाये जाते हैं उनका परिगणन पाणिनि ने एक ही सूत्र में करा दिया है, जो इस प्रकार हैं–

'तुमर्थे सेसेन् असे असेन्क्सेकसेनध्यै।
अध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यै शध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः (पा. ३।४।९)'।

तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में वैदिक भाषा में–से, सेन्, असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ् तथा तवेन् से १५ प्रत्यय होते हैं। उपर्युक्त प्रत्ययों में न्, क्, ङ्, श् वर्णों की इत् संज्ञा होती है। जिन प्रत्ययों में 'न्' वर्ण इत्संज्ञक होता है, उनसे बने शब्दों का आदि अक्षर उदात्त होता है। 'क्' इत्संज्ञक वाले (कित्) प्रत्ययों के लगने पर 'गुण' का निषेध हो जाता है। ङित् प्रत्ययान्त शब्दों में भी गुणनिषेध होता है। शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है, अतः 'अय्' आदेश होता है। अब क्रमशः उपर्युक्त सभी तुमर्थक प्रत्ययों के उदाहरण दिये जा रहे हैं–

से– ✓ वच् + से = 'वक्षे' पुकारने के लिए, ✓ वह् + से = 'वक्षे' ढोने के लिए।

सेन्– ✓ इ + सेन् = 'एषे' जाने के लिए।

असे– ✓ जीव + असे = 'जीवसे' जीने के लिए।

असेन्– ✓ जीव + असेन् = जीवसे (आदि उदात्त) जीने के लिए।

क्से– ✓ इ + क्से = (स् को ष् होकर) इषे, 'प्र' उपसर्ग लगने से 'प्रेषे' शब्द बना (भली प्रकार जाने के लिए।

कसेन्– ✓ श्रि + कसेन् (इयङ आदेश होकर) श्रियसे।

अध्यै, अध्यैन्– ✓ पृ + अध्यै = पृणध्यै। 'अध्यैन्' प्रत्यय लगने पर आदि स्वर उदात्त होता है।

कध्यै, कध्यैन्– आङ् (आ) उपसर्ग + ✓ हु + कध्यै अथवा कध्यैन् प्रत्यय, कित् होने से 'उवङ्' आदेश होकर रूप बना–आहुवध्यै। 'अध्यैन्' प्रत्ययान्त होने से 'नित्' होने के कारण आदि अक्षर उदात्त होता है।

शध्यै– ✓ मद् + णिच् + शध्यै = मादयध्यै।

शध्यैन्– ✓ पा (पिब् आदेश) + 'शध्यैन्' = पिबध्यै। 'नित्' होने के कारण आदि अक्षर उदात्त।

तवै– ✓ दा + तवै = दातवै। दातवै + उ = 'दातवा' उ ('एचोऽयवायाव:' से आय्, 'लोप: शाकल्यस्य' से यकार लोप)।

तवेङ्– ✓ सू + तवेङ् प्रत्यय = सूतवे (ङित् प्रत्यय लगने से गुण का निषेध)।

तवेन्– ✓ कृ + तवेन् = कर्तवे (गुण कार्य होकर)।

विशेष– प्रसिद्ध वैयाकरण 'नागेश' कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन् इन चार प्रत्ययों की कल्पना व्यर्थ बतलाते हैं। उनके अनुसार 'अध्यै' तथा 'अध्यैन्' इन दो प्रत्ययों से ही बाहुलक द्वारा इनके कार्य सिद्ध हो सकते हैं। बाहुलक का अर्थ है– कहीं होना, कहीं न होना, कहीं विकल्प से होना तथा कहीं अन्य प्रकार से होना। उपरिकथित प्रत्ययों के अतिरिक्त भी कतिपय प्रत्यय तुमुन् के अर्थ में वैदिक भाषा में प्राप्त होते हैं।

"ईश्वरे तोसुन्कसुनौ (पा. ३।४।१५)" से 'ईश्वर' शब्द उपपद रहने पर 'तुमुन्' के अर्थ में वैदिक भाषा में 'तोसुन्' और 'कसुन्' प्रत्यय होते हैं–जैसे–'ईश्वरो विचरितो:', वि + ✓ चर् + तोसुन् (तोस्) = विचरितो: (विचरण करने में समर्थ)। 'ईश्वरो लिखित:' ✓ लिख् + कसुन् (अस्) = लिख् (इट् का आगम) + अस् = लिखित: (लिखने में समर्थ)।

"प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै (पा. ३।४।१०)" से प्रयै, रोहिष्यै, तथा अव्यथिष्यै शब्द तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में निपातन से सिद्ध होते हैं। इस प्रकार प्रयै = जाने के लिए, रोहिष्यै = चढ़ने के लिए, अव्यथिष्यै = पीड़ित न करने के लिए।

"दृशे विख्ये च (पा. ३।४।११)" से 'दृशे विश्वास सूर्यम्' (ऋ० १।५०।१) तथा 'विख्ये त्वा हरामि' मन्त्रांशों में ✓ दृश् + के = दृशे (देखने के लिए) तथा वि + ✓ ख्या + के = विख्ये

(देखने के लिए) शब्द तुमुन् के अर्थ में निपातन से सिद्ध होते हैं। यहाँ पर 'के' प्रत्यय 'तुमुन्' का अर्थ बतला ता है।

"शकि णमुल्कमुलौ (पा॰३।४।१२)" से यदि उपपद में शक् धातु का प्रयोग हो तब तुमुन् के अर्थ में 'णमुल्' और 'कमुल्' ये दो प्रत्यय होते हैं। उदाहरणार्थ– वि + ✓ भज् + णमुल् = विभाजम् (विभाग करने के लिये), अप + ✓ लुक् + कमुल् = 'अपलुकम्' अशकत् (विभाजन या लोप नहीं कर सका)।

कृदन्त प्रत्यय

वैदिक भाषा के कृदन्त रूपों में लौकिक संस्कृत से कतिपय विशेषतायें पाई जाती हैं। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं–

वर्तमान कालिक कृदन्त– 'शतृ' और 'शानच्' वर्तमानकालिक कृदन्त हैं। वैदिक भाषा में इनका रूप लौकिक संस्कृत के समान ही बनता है। जैसे– गच्छत् = ✓ गम् + शतृ, वर्तमान् = ✓ वृत् + शानच्, युज्जान = ✓ युज् + शानच्, क्रियमाण = कृ + शानच्।

भूतकालिक कृदन्त– 'क्त' और 'क्तवतु' भूतकालिक कृदन्त हैं। उदाहरणार्थ– हतः = ✓ हन् + क्त, हतवान् = ✓ हन् + क्तवतु, कुपितः = ✓ कुप् + क्त, स्तुतः = ✓ स्तु + क्त, भिन्नः = ✓ भिद् + क्त।

पूर्णकालिक कृदन्त– वेद में परस्मैपद में 'वांस' प्रत्ययान्त शब्द इस प्रकार के अर्थ का द्योतन करते हैं। जैसे– चकृवांस, चक्राण, जघन्वांस, तस्तभ्वांस, तस्थिवांस, पप्तिवांस, ईयिवांस, चिकित्वांस आदि। आत्मनेपद में 'आन्' प्रत्यय जोड़कर इस प्रकार के रूप बनते हैं, जैसे– आनजान, आनशान, आराण, ईजान, ऊचान, चक्राण, शशमान, शशयान इत्यादि।

भविष्यत् कालिक कृदन्त– परस्मैपद में 'अन्त' जोड़कर तथा आत्मनेपद में 'मान' जोड़कर बनता है। उदाहरणार्थ– भविष्यन्त तथा यक्ष्यमाण पद क्रमशः परस्मैपद तथा आत्मनेपद के हैं।

तद्धित प्रत्यय

प्रातिपदिक शब्दों के साथ जुड़कर उनसे सम्बद्ध अर्थों को बतलाने वाले प्रत्यय 'तद्धित' कहलाते हैं। वैदिक भाषा के कतिपय प्रमुख तद्धित प्रत्यय तथा उनके उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं–

अ–देव, मानव, पार्थिव, मारुत।

आ–प्रिया, नवा, गता।

आयन–काण्वायन, दाक्षिणायन।

इ–पौरुकुत्सि, सारथि, साबरणि।

इन्–अर्किन, अर्चिन्, वर्मिन्, रेतिन।

इय– अभ्रिय, इन्द्रिय, समुद्रिय।

ई– अदती, पृथ्वी, अवित्री, देवी।

ईन– अर्वाचीन, प्राचीन, विश्वजनीन।
ईय– गृहमेधीय, पर्वतीय, आहवनीय।
एय– आदितेय, पौरुषेय।
क– अन्तक, दूरक, ममक, पादक।
तन– सनातन, नूतन।
तम– उत्तम, पुरुतम, शततम, तवस्तम।
तर– तवस्तर, रथीतर, उत्तर।
ता– बन्धुता, वसुता, देवता।
ताति– सर्वताति, ज्येष्ठताति।
त्य– अमात्य, नित्य, अपत्य, निष्ट्य।
त्व– मघवत्व, अमृतत्व।
त्वन्– जनित्वन्, सखित्वन्।
थ– कतिथ, चतुर्थ।
नी– पत्नी, परुष्णी, एणी, अशिक्नी।
भ– ऋषभ, वृषभ, गर्दभ, रासभ।
म– अवम, मध्यम, नवम, दशम।
मन्त– अशनिमन्त, क्रतुमन्त।
मय– मृण्मय, मनस्मय।
म्न– द्युम्न, सुम्न।
य– पशव्य, तुप्रय।
र– अवर, रथिर।
ल– कपिल, वृषल, बहुल।
वत्– उद्वत्, निवत।
वन्– मद्यवन्, समद्वन्, श्रुष्टीवन्।
वन्त– अश्वावन्त, अश्ववन्त, सखिवन्त, पयस्वन्त।
विन्– उभयाविन्, अष्ट्राविन्, यशस्विन्।
श– एतश, युवश, रोमश।

क्रिया-विशेषण तथा अव्यय

जो शब्द क्रिया की विशेषता बतलाते हैं उन्हें क्रियाविशेषण कहते हैं। अव्यय पद भी कभी-कभी क्रिया-विशेषण की भाँति कार्य करते हुए देखे जाते हैं। वैदिक भाषा में अनेक क्रिया-विशेषण एवं अव्यय पदों का प्रयोग हुआ है, जिनसे विभक्ति के अर्थ का द्योतन होता है। कतिपय शब्दों में विभक्ति-चिह्न भी दृष्टिगोचर होते हैं। कतिपय क्रियाविशेषण शब्दों को नीचे दिया जा रहा है।

अछ = ओर, **अति** = पारकर, **अनु** = पीछे, **अभि** = ओर, **प्रति** = ओर, **तिरः** = पारकर इन शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति लगती है।

अव = नीचे से, के योग में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग देखा जाता है।

परि = चारों ओर, का प्रयोग चतुर्थी के योग में होता है।

उप = समीप में, **अपि, अधि, अन्तर** (बीच में), **आ** = ऊपर, **पुरः** = आगे, का प्रयोग सप्तमी के योग में होता है।

अव = नीचे से, यह पंचमी के योग में प्रयुक्त होता है।

वैदिक भाषा में कतिपय 'निपात' शब्द इस प्रकार के प्राप्त होते हैं, जो मूलतः क्रिया-विशेषण हैं परन्तु वे स्वतन्त्र रूप से विभक्तियों के साथ प्रयुक्त हुए हैं। जैसे– **अन्तरा** = बीच में, **अभितः** = चारों ओर, **उपरि** = ऊपर, परे, **परः** = परे, **परितः** = चारों ओर, **सनितुः** = अतिरिक्त–ये सभी शब्द द्वितीया विभक्ति के साथ पाये जाते हैं। सह, साकम्, सुमद्, स्मद, (ये सभी 'साथ' के अर्थ में), **अव** = नीचे, **पर** = बाहर, ये शब्द तृतीया विभक्ति के साथ प्रयुक्त मिलते हैं।

अधः = नीचे, **अव** = नीचे से, **आरे** = दूर या भिन्न।

ऋते = बिना, **पर** = अलग से, **पुरा** = पहले, **बहिर्धा** = बाहर से।

सनुतः = दूर, इनका प्रयोग पञ्चमी के साथ होता है। षष्ठी के साथ **'पुरस्तात्'** = 'सामने' का प्रयोग देखा जाता है।

सचा = साथ, निपात का प्रयोग सप्तमी के साथ प्राप्त होता है।

प्रत्यययुक्त क्रियाविशेषण

'था' प्रत्यय लगकर–अथा, इत्था, यथा, तथा, कथा, अन्यथा, विश्वथा, ऊर्ध्वथा, पूर्वथा, प्रत्नथा, ऋतुथा, नामथा, एवथा।

'धा' लगकर–एकधा, द्विधा, त्रेधा, कतिधा, पुरुधा, बहुधा, शश्वधा, विश्वधा, प्रियधा, मित्रधा, बहिर्धा, अधा, अद्धा, सधा।

'ह' लगकर–इह, कुह, विश्वह, समह।

'वत्' लगकर–पूर्ववत्, मनुवत्, पुराणवत्।

'शः' लगकर–शतशः, सहस्रशः, ऋतुशः, पर्वशः।

'स्' लगकर–द्विस्, त्रिस्, अवस् (अवः), अन्येद्युस् (अन्येद्युः)।

'तस्' लगकर–अतः, अमुतः, इतः, मत्तः, दक्षिणतः, हतः, परितः, अभितः।

'तात्' लगकर–अधस्तात्, आरात्तात्, पश्चात्तात्, पुरस्तात्, प्राक्तात्।

'अस्' लगकर–तिरः, परः, पुरः, सदिवः, सद्यः, श्वः, ह्यः, मिथः।

'त्रा' या **'त्र'** लगकर–अत्र, विश्वत्र, अन्यत्र, अस्मत्रा, सत्रा, दक्षिणत्रा। पुरुत्रा, बहुत्रा, देवत्रा, मर्त्यत्रा, शयुत्रा।

'दा' लगकर–इदा, कदा, तदा, यदा, सदा, सर्वदा।

'दानीम्' लगकर–इदानीम्, तदानीम्, विश्वदानीम्।

कतिपय अव्यय पद और उनके अर्थ

अङ्ग– पूर्वकथित शब्द पर जोर देने के लिए।

अत्र– कभी-कभी 'जब' अर्थ में भी आता है।

अथ– वाक्यों को तथा उपवाक्यों को जोड़ता है।

अयो– समुच्चय बोधक।

अवि– बाद वाले शब्द पर जोर देता है।

अह– पहले आने वाले शब्द पर जोर देता है।

आद– समय के क्रम को बतलाता है।

इति– प्रायः किसी कथन के अन्त में तथा क्रिया के पूर्व।

इत्था– इस प्रकार, कभी-कभी विशेषण के रूप में।

इद्– पहले आने वाले शब्द पर जोर देने के लिए।

उतो, उतो– 'और', प्रायः दो शब्दों को जोड़ते हैं।

घ– पहले वाले शब्द पर जोर देने के लिए।

नकीम्, नकिः– नकारात्मक अर्थ को पूरा करने के लिए।

नूनम्– 'अब' के अर्थ में या 'प्रश्नवाचक' अर्थ में।

माकिः– नकारात्मक अर्थ में।

माकीम्– नकारात्मक अर्थ को पुष्ट करने के लिए।

वै– निश्चय ही।

सीम्– अवधारणार्थक।

सु, सू– अच्छी प्रकार के अर्थ में क्रियाविशेषण है।

स्विद्– वाक्य के पहले शब्द पर जोर देता है।

ह– प्रसिद्धि का वाचक तथा प्रारम्भिक शब्द के बाद आता है।

इनके अतिरिक्त कतिपय विस्मयबोधक अव्ययों के प्रयोग भी वेदों में प्राप्त होते हैं, जैसे–बत, बट्, हन्त, हये, है, हिरक्, हुरुक्, चिश्चा, फट्, फल्, बाल्, कुक्, शल् आदि।

उपसर्ग विचार

निरुक्तकार यास्क वैदिक भाषा में २० उपसर्ग स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'निस्' तथा 'निर्' दोनों एक ही हैं तथा 'दुस्' और 'दुर्' भी एक ही हैं। लौकिक संस्कृत के शेष सभी

उपसर्ग वैदिक भाषा में भी यथावत् हैं। लौकिक संस्कृत में उपसर्ग सदैव क्रियापद के साथ ही रहते हैं। क्रियापद के पूर्व जुड़कर ही प्रादिगण के शब्द उपसर्ग संज्ञा प्राप्त करते हैं। परन्तु वैदिक भाषा में उपसर्ग क्रियापद से दूर भी प्राप्त होते हैं, जैसे–

'प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म'।–ऋ० १।१५४।३

'प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण'।–ऋ० १।१५४।१

'तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्'।–ऋ० १।१५४।५

उपर्युक्त उदाहरणों में 'प्र' उपसर्ग 'एतु' तथा 'स्तवते' क्रियापदों से दूर है एवं 'अभि' उपसर्ग 'अश्याम्' क्रियापद से पृथक् है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक प्रयोग देखे जाते हैं। इसका कारण यह है कि वैदिक भाषा में उपसर्गों को पृथक् पद मानकर उनकी अर्थवाचकता को स्वीकार किया गया था। यास्क ने भी अपने निरुक्त में उपसर्गों को अर्थवान् माना है।

समास-विचार

वैदिक भाषा में समासों की स्थिति कतिपय विशेषताओं को छोड़कर लौकिक संस्कृत की भाँति ही पाई जाती है। यहाँ पर कुछ प्रमुख विशेषताओं को स्पष्ट किया जा रहा है–

'हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि (पा० २।४।२८)' लौकिक संस्कृत में समस्त पदों की लिङ्ग-व्यवस्था से सम्बन्धित सूत्र 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः (पा०२।४।२६)' है। जिसके अनुसार द्वन्द्व एवं तत्पुरुष समास में परवर्ती शब्द के लिङ्ग के समान समस्तपद का लिङ्ग होता है, परन्तु वैदिक भाषा में 'हेमन्तशिशिरौ' (हेमन्तश्च शिशिरं च), तथा 'अहोरात्रे' (अहश्च रात्रिश्च), इन दो समस्त पदों में हेमन्त (पुं०) के अनुसार पुल्लिंग तथा अहन् (नपुं०) के अनुसार नपुंसकलिंग है। उक्त लौकक संस्कृत के नियमानुसार इन समस्त पदों को क्रमशः 'हेमन्तशिशिरे' तथा 'अहोरात्रे' बनना चाहिए। वेद में 'अहोरात्राणि' पद भी मिलता है।

समस्त पदों में भी कभी-कभी दोनों पद किसी एक या अनेक शब्द को बीच में आ जाने से पृथक् हो जाते हैं। जैसे– 'द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते' यहाँ पर 'द्यावा' तथा 'पृथिवी' इन दो पदों के मध्य 'चित्' तथा 'अस्मै' पदों का व्यवधान है।

देवताद्वन्द्व समास में पूर्वपद दीर्घ भी प्राप्त होता है, जैसे– मित्रावरुणौ।

वेद में द्वन्द्व समास में 'पितरामातरा' शब्द निपातन से सिद्ध होता है।

धातुरूप प्रकरण

वैदिक भाषा में धातु-रूपों की विविधता पाई जाती है। उस युग तक धातु-रूपों के प्रयोगों एवं स्वरूपों के सम्बन्ध में कोई कठोर नियम नहीं थे। महर्षि पाणिनि ने वैदिक धातुओं के लकारों के कालविभाजन के सम्बन्ध में कतिपय प्रमुख विधान किए हैं, जिसे संक्षेप में इस प्रकार से समझा जा सकता है–

छन्दसि लुङ् लङ् लिटः (पा० सू० ३।४।६)।

वैदिक भाषा में लुङ्, लङ् तथा लिट् लकारों का प्रयोग सभी कालों के अर्थों का बोध कराने के लिए प्राप्त होते हैं। ये लकार अपने निश्चित अर्थों का बोध भी कराते हैं। उदाहरणार्थ–

'देवो देवेभिरागमत्' (ऋ० १।१।५) 'देव (अग्नि) देवताओं के साथ आवें'। यहाँ पर 'अगमत्' गम् धातु के लुङ् लकार का प्रयोग है, परन्तु इसका अर्थ लोट् लकार का है। 'अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः' 'आज यह यजमान अग्नि को ही होता के रूप में वरण करता है', यहाँ पर अवृणोत पद 'वृ' धातु के लङ् लकार का रूप है परन्तु इसका प्रयोग वर्तमानकाल के अर्थ में हुआ है। 'इदं तेभ्योऽकरं नमः' (ऋ० १०।८५।१६) 'मैं यह नमस्कार उनके लिए करूँ'। यहाँ पर 'अकरम्' पद 'कृ' धातु के लुङ् लकार का रूप है। जिसका प्रयोग वर्तमान काल के अर्थ में हुआ है। मैकडानल आदि पाश्चात्य वैदिक अध्येताओं ने वेदों में प्राप्त होने वाले धातु-रूपों को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया है–

Present (वर्तमान काल)।

Imperfect (लङ् लकार, सामान्य भूतकाल)।

Perfect (पूर्ण भूतकाल, लिट् लकार के समान)।

Aorist (लुङ् लकार के समान)।

Future (लृट् लकार भविष्यत् काल)।

इनके अतिरिक्त कुछ चित्तवृत्तियों (**Moods**) में भी रूप प्राप्त होते हैं, जो निम्नलिखित हैं–

द्योतकभाव (**Indicative**) ।

विधिलिङ् (**Optative**) ।

आज्ञार्थक भाव (**Imperative**) ।

विधानात्मक भाव (**Injunctive**) ।

लेट् लकार, (आत्ममूलक भाव या वस्तुपरक भाव) (**Subjunctive**) ।

लेट् लकार केवल वेदों में प्राप्त होता है, इसके रूपों का प्रयोग विभिन्न अर्थों के प्रकाशन में हुआ है। पाणिनि ने 'लिङर्थे लेट्' (३।४।७) सूत्र में इसे स्पष्ट कर दिया है। विधि का अर्थ आज्ञा तथा अनुमति, निमन्त्रण का अर्थ जोरदार रूप से निमन्त्रित करना, आमन्त्रण का अर्थ इच्छानुसार आचरण की अनुमति, अधीष्ट का अर्थ सत्कार पूर्वक काम में लगाना, सम्प्रश्न का अर्थ पूछकर आज्ञा या अनुमति लेना, प्रार्थना का अर्थ किसी श्रेष्ठ व्यक्ति से की जाने वाली अभ्यर्थना है। इन सभी अर्थों में वेदों में लेट् लकार का प्रयोग देखा जाता है।

उपसंवादाशङ्कयोश्च (पा० ३।४।८)।

'उपसंवाद' तथा 'आशंका' इन दोनो अर्थों में वैदिक भाषा में लेट् लकार का प्रयोग पाया जाता है। उपसंवाद का अर्थ है–कर्तव्य में बाँधना (**Conditional contract**) अर्थात् यदि आप ऐसा करें तो मैं आपको दूँ। कारण से कार्य की सम्भावना आशंका कहलाती है। उदाहरण– 'अहमेव पशूनामीशै' (मैं यह कर सकता हूँ, यदि मैं ही सभी पशुओं पर शासन करूँ), यहाँ उपसंवाद है। 'नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम' ऐसा न हो जाय कि हम पाप करते-करते नरक में गिर जाँय, यहाँ आशंका है। अतः 'ईशै' तथा 'पताम' क्रियापद लेट् लकार के रूप हैं।

लेट् लकार अत्यन्त जटिल लकार है। इसीलिए वैदिक काल के बाद लौकिक युग में इसके रूप प्रायः लुप्त हो गए। इस लकार में 'भू' धातु के लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में

निम्नलिखित १२ प्रकार के रूप बनते हैं–भवति, भवाति, भाविषति, भाविषाति, भविषति, भविषाति, भाविषत्, भवत्, भवात्, भविषत् तथा भविषात्। इन्हीं जटिलताओं के कारण ही इस लकार के प्रयोग लौकिक संस्कृत भाषा में नहीं पाये जाते।

वैदिक भाषा में भी कर्तृवाच्य (Active voice) तथा कर्मवाच्य (Middle voice) में धातुओं के रूप प्राप्त होते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने 'आत्मनेपद' के लिए (Middle Voice) तथा 'परस्मैपद' के लिए (Active voice) शब्दों का ही प्रयोग किया है। कतिपय अपवादों को छोड़कर वैदिक भाषा के धातु-रूप का लौकिक संस्कृत के धातुरूपों के समान ही है। नीचे कुछ धातुओं के विशिष्ट रूप दिए जा रहे हैं–

'भू' धातु लेट् लकार (Subjunctive)

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	भवाति, भवात्	भवातः	भवान्
मध्यम पुरुष	भवासि, भवाः	भवाथः	भवाथ
उत्तम पुरुष	भवानि, भवा	भवाव	भवाम

'इ' (अय्) धातु, जाने के अर्थ में (Subjunctive)

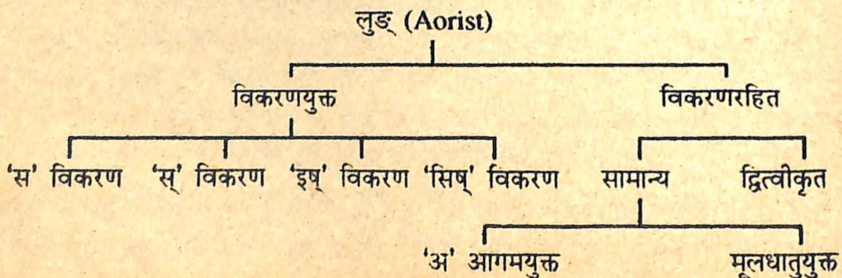
प्र॰ पु॰	अयति, अयत्	अयतः	अयन्
म॰ पु॰	अयसि, अयः	अयथः	अयथ
उ॰ पु॰	अयानि, अया	अयाव	अयाम

(ब्रू धातु, कहने अर्थ में)

आत्मनेपद

प्र॰ पु॰	ब्रवते	ब्रवैते	ब्रवन्त
म॰ पु॰	ब्रवसे	ब्रवैथे	ब्रवध्वे
उ॰ पु॰	ब्रवै	ब्रवावहै	ब्रवामहै

वैदिक संहिताओं में लुङ् लकार (Aorist) के अनेक प्रकार के रूप प्राप्त होते हैं। इस लकार के रूपों को आगम तथा विकरण के आधार पर दो प्रमुख वर्गों में रखा जा सकता है, पुनः विकरण या आगम की भिन्नता के अनुसार भी रूपों को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा जाता है। नीचे के रेखाचित्र से यह अधिक स्पष्ट हो जाएगा–



लुङ् लकार के कतिपय रूपों में कहीं 'स्' कहीं 'स' कहीं 'इष्' कहीं 'सिष्' विकरण प्राप्त होते हैं। कुछ रूपों में धातु के आदि-अक्षरों का द्वित्व हो गया है तथा कुछ रूपों में धातु अपने मूलरूप में ही दृष्टिगत होती है। आदि में 'अ' का आगम तो इस लकार के रूपों की सामान्य विशेषता है, अतः इस लकार के रूप भी अनेकशः प्राप्त होते हैं। पाश्चात्त्य विद्वानों ने इनके लिए 'Sa' aorist, 'S' aorist, 'Iṣ' aorist, 'Siṣ' aorist, Reduplicated aorist, तथा Root aorist नामों का प्रयोग किया है। ध्यातव्य है कि इन सभी प्रकार के रूपों से सम्बन्धित पद सभी पुरुष और सभी वचनों में उपलब्ध नहीं होते। नीचे कुछ धातुओं के रूप दिए जा रहे हैं।

'स' रूप 'बुध्' धातु (आत्मनेपद)

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	अबुद्ध	अभुत्साताम्	अभुत्सत
मध्यम पुरुष	अबुद्धाः	अभुत्साथाम्	अभुद्ध्वम्
उत्तम पुरुष	उभुत्सि	अभुत्स्वहि	अभुत्स्महि

'स्' रूप 'भृ' धातु (परस्मैपद)

प्र० पु०	अभार्	अभार्ष्टाम्	अभार्षुः
म० पु०	अभार्	अभार्ष्टम्	अभार्ष्ट
उ० पु०	अभार्षम्	अभार्ष्व	अभार्ष्म

'इष्' रूप 'क्रम' धातु (परस्मैपद) द्योतक भाव

प्र० पु०	अक्रमीत्	अक्रमिष्टाम्	अक्रमिषुः
म० पु०	अक्रमीः	–	–
उ० पु०	अक्रमिषम्	–	अक्रमिष्म

इस धातु के अवशिष्ट रूप नहीं प्राप्त होते।

'अ' रूप 'विद्' धातु

प्र० पु०	अवदित्	–	अविदन्
म० पु०	अविदः	–	अविदत
उ० पु०	अविदम्	अविदाव	अविदाम

वैदिक Aorist (लुङ् लकार) के रूप लङ्लकार, लिट्लकार, विधिलिङ् आदि कई लकारों के रूपों से साम्य रखते हैं। इसका प्रधान कारण है– वैदिक युग तक भाषा का व्याकरण के कठोर प्रतिबन्ध से मुक्ति तथा भौगोलिक विभिन्नता।

ऊपर धातु-रूपों के सम्बन्ध में कतिपय मुख्य-मुख्य नियमों का विवेचन किया गया। इसी प्रसंग में कुछ प्रक्रिया-रूपों पर भी विचार कर लेना आवश्यक होगा। ये रूप हैं– प्रेरणार्थक या णिजन्त, इच्छार्थक या सन्नन्त, पौनःपुन्यार्थक या यङन्त तथा संज्ञा अथवा विशेषण शब्दों से बने हुए नामधातु।

णिजन्त रूप– सम्पूर्ण वैदिक भाषा में लगभग २०० धातुओं के णिजन्त रूप उपलब्ध होते हैं। इस प्रक्रिया में भी लौकिक संस्कृत की भाँति 'अय' का योग पाया जाता है। धातु का प्रथम स्वर इ, उ, ऋ तथा ऌ होने पर इन स्वरों का गुण हो जाता है, उदाहरणार्थ–क्रुध् धातु से लट् लकार प्र०पु० एकवचन में क्रोधयति, गम् धातु का गमयति, पठ् धातु का पाठयति आदि रूप बनते हैं। इस प्रकार के रूप भी सभी लकारों में नहीं प्राप्त होते हैं।

सन्नन्त रूप– वेदों में इस प्रकार के रूपों का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया है। प्रायः सभी लकारों में इस प्रकार के रूप पाये जाते हैं। इस प्रकार के रूपों में धातु के साथ 'स' का योग रहता है, तथा धातु के प्रथम व्यञ्जन का द्वित्वीकरण होता है। धातु के अन्तिम 'इ' तथा 'उ' को दीर्घ तथा 'ऋ' को 'ईर्' हो जाता है। जैसे–निनीष, जिगीष, चिकीर्ष आदि। इसी प्रकार विवासति, विवासतः, विवासन्ति, विवासंसि, विवासथः, विवासथ, विवासामि, विवासावः, विवासामः, जिगमिषति, जिगमिषतः जिगमिषन्ति, इत्यादि रूप भी पाये जाते हैं।

यङन्त रूप– किसी क्रिया के अतिशय अथवा बार-बार होने का अर्थ बतलाने के लिए इस प्रकार के रूपों का प्रयोग पाया जाता है। इस प्रक्रिया में धातु में 'य' जुड़ता है तथा प्रथम व्यञ्जन का द्वित्व होता है। कहीं-कहीं 'य' का लोप भी हो जाता है। इस प्रकार के रूपों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–नेनेक्ति, नेनेजीति, नेनिजति, नेनेक्षि, नेनिक्तथः, नेनेक्ते, नेनिजानि, जागृताम् , जागृहि, जागरीहि, अचाकशम् , अजागर, अदर्दर, अवरीवर, अदेदिष्ट, अनन्नत, मर्मृजत् इत्यादि।

नामधातु रूप– वैदिक भाषा में इस प्रकार के रूपों का प्रयोग भी बहुतायत मात्रा में प्राप्त होता है। संज्ञा शब्दों में 'क्यच्' जोड़कर इस प्रकार के रूप बनते हैं। क्यच् का केवल 'य' बचा रहता है तथा 'य' के पूर्वस्थित स्वर दीर्घ हो जाता है। ऋकार 'री' में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रक्रिया के रूप निम्नलिखित रूपों की भाँति होते हैं–

लट्लकार

पुत्रकाम्यति	पुत्रकाम्यतः	पुत्रकाम्यन्ति
पुत्रकाम्यसि	पुत्रकाम्यथः	पुत्रकाम्यथ
पुत्रकाम्यामि	पुत्रकाम्यावः	पुत्रकाम्यामः

इस प्रक्रिया के रूप प्रायः सभी लकारों में प्राप्त होते हैं।

वैदिक धातुरूपों की कतिपय विशेषतायें

इदन्तो मसि (पा० सू० ७।१।४५)–वेद में उ०पु० बहुवचन का प्रत्यय 'मस्' अपने साथ 'इ' को लिए हुए रहता है, परन्तु सर्वत्र ऐसा प्रयोग नहीं देखा जाता। उदाहरण–'नमो भरन्त एमसि'। यहाँ 'आगच्छामः' के स्थान पर 'एमसि' का प्रयोग है।

छन्दसि लिट् (पा० सू० ३।२।१०५)–वेद में लिट् लकार का प्रयोग सामान्य भूतकाल के लिए किया गया है। उदाहरणार्थ–'अहं द्यावापृथिवी आततान (वाज० ८।९), मैंने द्युलोक तथा पृथिवी को फैलाया। इस मन्त्रांश में तन् धातु के लिट् लकार के रूप का प्रयोग सामान्य भूतकाल का बोध कराने के लिए हुआ है।

लिटः कानज्वा (पा॰सू॰३।२।१०६), क्वसुश्च (पा॰सू॰३।२।१०७)–लिट् लकार के स्थान पर 'कानच्' और 'क्वसु' प्रत्यय विकल्प से होते हैं। जैसे–'चक्राणा वृष्णिम्' तथा 'यो नो अग्ने अररिवाँ अधायुः' (ऋ॰ १।१४७।४)। हे अग्ने ! जिसने मुझे दान नहीं दिया वह पापी है। इन उदाहरणों में 'चक्राण' तथा अररिवान् पद क्रमशः कानच् तथा क्वसु प्रत्यय से बने हुए हैं। कृ धातु + कानच् प्रत्यय = चक्राण, छान्दस् दीर्घता होकर 'चक्राणा' बना है। रा धातु + क्वसु प्रत्यय = अररिवान् , नकार लोप तथा पूर्वस्वर को अनुनासिक होकर 'अररिवाँ' पद बना है। इन दोनों पदों का प्रयोग लिट् लकार के अर्थ में हुआ है। इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्टतायें संक्षेप में निम्नलिखित हैं–

(१) आत्मनेपद में रहने वाले तकार का वेद में लोप होता है। जैसे– अदुहत् (दुह् धातु लङ्लकार प्र॰पु॰ए॰व॰) के तकार का लोप होकर अदुह रूप मिलता है।

(२) आत्मनेपद के 'ध्वम्' प्रत्यय को 'ध्वात्' आदेश होता है। जैसे– वारयध्वात्। लोक में 'वारयध्वम्'।

(३) लोट् लकार के मध्यमपुरुष बहुवचन में 'त' प्रत्यय के स्थान पर 'तात्' होता है। जैसे– 'कृणुतात्'। लोक में 'कृणुत'।

(४) लोट् लकार मध्यमपुरुष बहुवचन के 'त' के स्थान में तम् , तनप् , तन और 'यन' इन चार आदेशों का प्रयोग भी वैदिक भाषा में पाया जाता है। जैसे– शृणोत, सुनोतन, दधातन, जुषुष्टन तथा ष्टन इत्यादि। इनके लौकिक रूप क्रमशः–शृणुत, सुनोत, धत्त, जुषध्वम् तथा स्थ हैं।

दीर्घीकरण

वैदिक ग्रन्थों में कतिपय पद इस प्रकार के हैं जो मूलरूप में ह्रस्व स्वरान्त हैं परन्तु छन्द की दृष्टि से वे दीर्घ रूप में पाये जाते हैं। पदपाठ में वे दीर्घ नहीं दिखलाये जाते, संहिता मंत्रों में ही उनके दीर्घ रूप मिलते हैं। वेदपाठियों में यह परम्परा है कि वेदमन्त्रों को किसी भी परिस्थति में छन्द के नियमों के विपरीत नहीं पढ़ना चाहिए। नीचे कुछ प्रमुख तथ्यों को पाणिनिसूत्रों के आधार पर दिया जा रहा है–

(क) द्व्यचोऽतस्तिङ (पा॰सू॰ ६।३।१३५)–ऋग्वेद में दो स्वरों वाले धातुरूपों के अन्तिम अकार को दीर्घ होता है, यदि् पद अकारान्त हो। जैसे–यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।

(ख) निपातस्य च (पा॰ सू॰ ६।३।१३६)–ऋग्वेद में दो स्वरों वाले निपातों के अन्तिम स्वर को दीर्घ हो जाता है। उदाहरणार्थ–एवा हि ते।

(ग) ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् (पा॰सूत्र ६।३।१३३)–ऋग्वेद में निम्नलिखित शब्दों का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है। **तु** (तो), **नु** (अभी), **घ** (निश्चयार्थक अव्यय), **मक्षु** (शीघ्र), तङ् (लोट् म॰पु॰ बहुवचन), **कु** (बुरा), **त्र** (स्थान वाचक त्रल् प्रत्यय) तथा उरुष्य (रक्षा करना)। इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार है–तु–'आ तू न इन्द्र वृत्रहन्।' नु–'नु मर्त्यः'। घ–'उत वा घा स्यालात्'। मक्षु–'मक्षू गोमन्तमीमहे'। तङ्– 'मा ते भरता नरः'। कु–'कू मनाः'। त्र–'यत्रा नश्चका जरसं तनूनाम्'। उरुष्य–'उरुष्या णः'।

(घ) इकः सुञि (पा० सू० ६।३।१३४)–ऋग्वेद में किसी पद के अन्त में आने वाले इ, उ, ऋ, लृ स्वर दीर्घ हो जाते हैं, यदि बाद में सुञ् (सु अव्यय) हो। उदाहरणार्थ–अभीषु णः सखीनाम्।

(च) ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम् (पा० सू० ६।३।१३२)–'ओषधि' शब्द के बाद प्रथमा के अतिरिक्त विभक्ति आने पर अन्तिम स्वर इकार को दीर्घ हो जाता है–जैसे 'यदोषधीभ्यः', 'अदधात्योषधीषु'। इन उदाहरणों में क्रमशः 'भ्यस्' तथा 'सुप्' अप्रथमा विभक्ति होने के कारण ओषधि के इकार को दीर्घ हो गया है।

(छ) मन्त्रे सोमश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ (पा० सू० ६।३।१३१)–मन्त्रों में सोम, अश्व, इन्द्रिय तथा विश्वदेव्य शब्दों के अन्तिम स्वर को दीर्घ हो जाता है, यदि बाद में मतुप् प्रत्यय जुड़ा हो। जैसे–अश्व + मतुप् = अश्वावती। इसी प्रकार सोमावती, इन्द्रियावान् तथा विश्वदेव्यावान्।

(ज) छन्दसि च (पा० सू० ६।३।१२६)–वेद में अष्टन् शब्द के बाद कोई भी शब्द रहने पर नकार का लोप होकर पूर्ववर्ती स्वर अकार का दीर्घ होता है। जैसे–अष्टन् + वक्रः = अष्टावक्रः, अष्टन् + पदः = अष्टापदः।

वैदिक स्वर-प्रक्रिया

'स्वर' वैदिक भाषा की सर्वप्रमुख विशेषता है। मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण एवं सही अर्थज्ञान के लिए भी स्वर की उपादेयता है। कतिपय आरण्यक एवं ब्राह्मण ग्रन्थ भी स्वरों से अङ्कित हैं। पाणिनीय शिक्षा में स्वरों की महत्ता के विषय में स्पष्ट कहा गया है–

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा।
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।।
स वाग्वज्रः यजमानं हिनस्ति।
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।

अर्थात् स्वर अथवा वर्ण से हीन मन्त्र मिथ्या रूप में प्रयुक्त होने के कारण उस (वास्तविक) अर्थ को नहीं बतलाता है; वह तो वाणीरूपी वज्र बनकर यजमान का ही वध कर डालता है; जैसे स्वर के अपराध के कारण 'इन्द्रशत्रुः' शब्द यजमान (वृत्र) का वध कर दिया।

ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार 'वेंकटमाधव' ने वेदार्थज्ञान में स्वरों की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि–

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणातीनां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति।।

जिस प्रकार अन्धकार में दीपिकाओं के सहारे चलता हुआ व्यक्ति ठोकरें खाकर गिरता नहीं है, उसी प्रकार स्वरों की सहायता से अर्थ भी पूर्णतः स्पष्ट होते हैं।

स्वरों की संख्या– स्वर मूलतः दो प्रकार के हैं–(१) उदात्त (२) अनुदात्त। उदात्त स्वर किसी भी परिस्थिति में अपरिवर्तनीय ही रहता है परन्तु अनुदात्त स्वर उदात्त के बाद आने पर स्वरित में एवं स्वरित के बाद आने पर 'प्रचय' के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। अतः आपाततः

स्वर को चार प्रकार का भी कहा जा सकता है। कुछ द्वि-उदात्त पदों को छोड़कर पद में उदात्त एवं स्वरित की संख्या एक-एक ही हो सकती है, जबकि अनुदात्त और प्रचय अनेक भी होते हैं। ये उदात्तादि स्वर अकारादि स्वर वर्णों के ही गुण हैं, व्यञ्जन तो अपने अङ्गीभूत स्वर-वर्ण के स्वर (Accent) से सस्वर होते हैं।

स्वराङ्कन पद्धति– ऋग्वेद संहिता में अनुदात्त स्वर को स्वरवर्ण के नीचे पड़ी रेखा (–) द्वारा एवं स्वरित स्वर को स्वरवर्ण के ऊपर खड़ी रेखा (।) द्वारा अङ्कित किया गया है। उदाहरणार्थ– 'वीर्येण' पद में 'वी' का ईकार स्वर अनुदात्त है तथा 'ण' का अकार स्वर स्वरित है; उदात्त एवं प्रचय दोनों ही अनङ्कित होते हैं। पद-पाठ में जब अनङ्कित स्वर के ठीक पूर्व अनुदात्ताङ्कित स्वर हो अथवा वह अनङ्कित स्वर किसी पद के आदि में अवस्थित हो तो ऐसा स्वर उदात्त होता है। इसी प्रकार एक ही पद में जिस अनङ्कित स्वर के पूर्व निश्चित रूप से स्वरिताङ्कित स्वर हो वह प्रचय कहलाता है। प्रचय स्वर लगातार एक से अधिक भी होते हैं। ऐसी स्थिति में केवल प्रथम प्रचय स्वर के पूर्व ही स्वरित की स्थिति होती है, शेष के पूर्व प्रचय ही होते हैं।

उदाहरणार्थ– 'संमवर्तत' पद में 'स' का अकार स्वरित है एवं उसके बाद आने वाले चार अकार स्वर प्रचय हैं।

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद संहिता में जब स्वतंत्र स्वरित के ठीक बाद कोई उदात्त स्वर आ जाय तो वह 'कम्प' कहलाता है तथा उसको १ या ३ चिह्न से अङ्कित करते हैं। स्वतंत्र स्वरित परं ह्रस्व स्वर होने पर १ तथा दीर्घ स्वर होने पर ३ चिह्न लगा होता है। जब स्वरित स्वर ह्रस्व होता है तब वह अचिह्नित ही रहता है। जैसे– व्यर्थिनः = व्य १ र्थिनः। तथा जब स्वरित स्वर दीर्घ होता है, तब वह अनुदात्त स्वर से चिह्नित होता है। ऋ॰ प्रा॰ पर उव्वट-भाष्य के अनुसार ह्रस्व स्वरित में आधी मात्रा उदात्त एवं आधी मात्रा अनुदात्त होती है। अर्थात् स्वरित स्वर के दो बराबर भागों में एक भाग उदात्त और अवशिष्ट एक भाग अनुदात्त होता है, अतः कम्प को ह्रस्वस्वर पर होने पर १ से चिह्नित करते हैं। इसी प्रकार दीर्घस्वरित में प्रारम्भ की आधी मात्रा उदात्त तथा अवशिष्ट डेढ़ मात्रा अनुदात्त होती है। अर्थात् ४ बराबर भागों में १ भाग उदात्त तथा ३ भाग अनुदात्त होता है। अतः कम्प दीर्घ स्वर पर होने पर उसे ३ से चिह्नित किया जाता है।

(१) यजुर्वेद की वाजसनेयि-संहिता में स्वराङ्कन पद्धति निम्नलिखित अपवादों को छोड़कर ऋग्वेद संहिता के समान ही है।

(i) अनुदात्त स्वर के ठीक बाद स्वतन्त्र स्वरित होने पर उसके (स्वरित के) नीचे (‿) चिह्न पाया जाता हैं।

(ii) स्वतन्त्र स्वरित के ठीक बाद उदात्त स्वर आने पर उसके (स्वरित के) नीचे (w) चिह्न प्राप्त होता है। दोनों के उदाहरण क्रमशः–'यातु-धा न्यो ऽधराची'; नुस्तन्वा शन्तमवा।।

(२) शतपथ ब्राह्मण की स्वराङ्कन पद्धति ऋ॰ सं॰ से पूर्णतः भिन्न है। यहाँ पर उदात्त के नीचे पड़ी रेखा मिलती है तथा अनुदात्त और स्वरित अचिह्नत होते हैं,

(३) तैत्तिरीय संहिता, उसके ब्राह्मण और आरण्यक स्वरांकन में ऋग्वेद संहिता से पूर्णतः समानता रखते हैं, परन्तु स्वतंत्र स्वरित के बाद उदात्त आने पर होने वाला 'कम्प' स्वर यहाँ नहीं प्राप्त होता है।

(४) अथर्ववेद संहिता की स्वराङ्कनपद्धति पूर्णतः ऋग्वेद सं॰ की स्वराङ्कन पद्धति जैसी ही है। केवल स्वतंत्र स्वरित को (✓) चिह्न द्वारा प्रदर्शित किया गया है, जब इसके पश्चात् कोई अनुदात्त स्वर आता है। जैसे– दिवी ✓ व॒ चक्षुरातंतम्; हिरंण्यपाणिसु क्रतुः कृ पात् स्व ✓।

(५) सामवेद संहिता की स्वराङ्कन पद्धति ऋग्वेद सं॰ की स्वरांकन पद्धति से पूर्णतः भिन्न है। इसमें स्वरों के ऊपर अङ्कों को निम्नलिखित रूप में दर्शाया गया है–

(i) उदात्त– इसे १ संख्या द्वारा प्रदर्शित करते हैं, जैसे– य[३]जा[१]य[२]जा (जा[१])।

(ii) अनुदात्त– इसे ३ संख्या द्वारा प्रदर्शित करते हैं, जैसे– य[३]जा[१]य[२]जा (य[३])।

(iii) स्वरित– इसे २ संख्या द्वारा प्रदर्शित करते हैं, जैसे– य[३]जा[१]य[२]जा (य[२])।

(iv) प्रचय– अचिह्नित, जैसे– (जा)।

ऊपर दिये गये सामान्य नियमों के कतिपय अपवाद नीचे दिये जा रहे हैं–

(i) जब उदात्त के ठीक बाद कोई अनुदात्त स्वर हो तो उदात्त को '२' से अंकित किया जाता है।

(ii) जब एक या अनेक उदात्त स्वर पादान्त में आते हैं, तब प्रथम उदात्त '२' से अंकित होता है, शेष अचिह्नित ही रहते हैं।

(iii) यदि किसी पद में लगातार दो उदात्त स्वर हो तथा उसके ठीक बाद में एक अनुदात्त स्वर हो तो प्रथम उदात्त को '२उ) से अङ्कित करते हैं तथा द्वितीय उदात्त को अचिह्नित ही छोड़ देते हैं, उदाहरणार्थ– [२३]त्वमित्सप्रथा में ([२३]त्व)।

(iv) जब एक उदात्त स्वर के बाद दूसरा उदात्त स्वर आता है तब प्रथम उदात्त को '१र) से प्रदर्शित करते हैं तथा द्वितीय उदात्त को अनङ्कित छोड़ देते हैं तथा इसके बाद आने वाले स्वरित को '२र) से अङ्कित करते हैं। जैसे– मित्रं न श[२र] ॐ शिषम्।

(v) जिस स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त न हो, उसे '२र' से अङ्कित किया जाता है तथा स्वतन्त्र स्वरित के पूर्वस्थित अनुदात्त '३क' से अङ्कित होता है। जैसे–अभ्येति रैभन्।

(vi) जिस स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त स्वर आता है उसे '२' से अङ्कित करते हैं, तथा वह प्लुत रूप में उच्चरित होता है, जैसे– [३२]दूत्या [१२]चरन्।

(vii) जब किसी पद में दो उदात्त स्वरों के मध्य स्वतन्त्र स्वरित आता है तब उसे अनङ्कित ही छोड़ देते हैं। जैसे–विद्धी त्वा३ स्य (त्वा३)।

(viii) जब दो या दो से अधिक अनुदात्त स्वर लगातार आवें तथा उनके बाद एक उदात्त स्वर आवे तो प्रथम अनुदात्त को '३' से अङ्कित करते हैं एवं शेष अनुदात्तों को अचिह्नित छोड़ देते हैं। जनिताग्ने ([३]जनिता)।

संहितापाठ एवं पदपाठ– मन्त्रों के स्वाभाविक रूप को संहिता पाठ एवं प्रतिपद को पृथक् करके उनके (पदों के) मूलरूप के पाठ को पदपाठ कहते हैं। संहितापाठ में पदों की पारस्परिक सन्निकटता होने से उनमें सन्धिजन्य विकार भी आ जाते हैं। ये विकार वर्णगत एवं स्वरगत दो प्रकार के होते हैं। संहितापाठ से पदपाठ बनाते समय पदों को विकारविहीन बनाकर उनके मूलरूप को मूल स्वरों से युक्त कर देते हैं तथा दो पदों के मध्य पूर्णविराम लगा देते हैं।

संहितापाठ से पदपाठ बनाने के कतिपय विशिष्ट नियम

(१) सर्वप्रथम प्रत्येक पद को मूलरूप में रखकर सन्धिजन्य विकारों को समाप्त कर दिया जाता है।

(२) उपसर्ग को अवग्रह (ऽ) बीच में लगाकर पद से पृथक् कर दिया जाता है, परन्तु उपसर्ग और पद के मध्य पूर्णविराम नहीं लगाया जाता। जैसे–'सम्ऽभृतम्'।

(३) समस्तपदों को अवग्रह द्वारा पृथक् कर दिया जाता है। जैसे–सहस्रऽशीर्षा। हिरंण्यऽअक्षः। उरुऽगायः।

(४) द्वन्द्वसमास एवं नञ्समास में अवग्रह नहीं लगता।

(५) प्रातिपदिक एवं 'भ्याम्', 'भिस्', 'भ्यस्', 'नाम्' तथा 'सु' विभक्ति के मध्य अवग्रह लगता है, जब प्रातिपदिक ह्रस्वस्वरान्त हो। जैसे–'हरिऽभ्याम्', 'ऋषिऽभिः', 'ऋषिऽभ्यः'।

परन्तु उपर्युक्त नियम '५' के सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि ह्रस्वस्वरान्त प्रातिपदिक भी जब किसी प्रकार के विकार से युक्त होकर ह्रस्वस्वरान्त न रह जाय तब अवग्रह नहीं लगता है। जैसे– भद्रेभिः, कर्णेभिः।

(६) किसी प्रातिपदिक से 'सुप्' सप्तमी बहुव॰ विभक्ति लगने पर प्रातिपदिक एवं विभक्ति के मध्य अवग्रह लगता है, परन्तु प्रातिपदिक के बाद मूर्धन्य वर्ण रहने पर अवग्रह नहीं लगता।

(७) तरप् एवं तमप् प्रत्ययों से युक्त पदों में इन अव्ययों से पूर्व अवग्रह लगाया जाता है। जैसे–उत्ऽतरः, मातृऽतमाम् आदि।

(८) सर्वानुदात्त (जिस पद के सभी स्वर अनुदात्त हों), उपसर्ग एवं उदात्तयुक्त क्रिया-रूप के मध्य अवग्रह लगाया जाता है। जैसे–अतिऽरोहंति, परिऽपश्यन्।

(९) जब किसी स्थल पर दो उपसर्ग एक साथ ही क्रिया-रूप से युक्त हों तो प्रथम उपसर्ग को ही अवग्रह से पृथक् किया जाता है। जैसे–प्रतिऽआवर्तय, अनुऽआलेभिरे।

(१०) प्रगृह्य स्वरों के बाद 'इतिं' जोड़ा जाता है। जैसे– प्र पर्वतानामुशती (सं॰ पा॰) =प्र। पर्वतानाम्। उशती इति (प॰पा॰)।

(११) सं॰पा॰ में आये हुए 'उ' निपात) को पद पाठ में पृथक् करके तथा उसे दीर्घ करके अनुनासिक कर दिया जाता है, उसके बाद भी इति लगाया जाता है। जैसे–समु श्रिया (सं॰ पा॰) = सम्ऽऊँ इतिं। श्रिया (प॰पा॰)।

(१२) रिफित विसर्जनीय के बाद 'इति' लगाया जाता है। इसका प्रधान कारण रिफित विसर्जनीय के मूलस्वरूप को स्पष्ट करना है। किन्तु ऐसा तभी किया जाता है, जब संहिता पाठ

में 'रिफितविसर्जनीय' विसर्जनीय के रूप में ही रहता है। जैसे– ये ते पन्थाः सवितः (सं० पा०)=ये। ते। पन्थाः। सवितरिति (प०पा०)।

विशेष–रिफितविसर्जनीय वह विसर्जनीय है जो, परवर्ती पदस्थ वर्ण के साथ सन्धि होने पर रेफ में परिवर्तित हो जाता है।

(१३) किसी समस्त पद का अन्तिम स्वर प्रगृह्य संज्ञक होने पर 'इति' से युक्त हो जाता है, तथा वह पद दुहरा दिया जाता है। जैसे–इन्द्रेषिते (सं०पा०)=इन्द्रेषिते इतीन्द्रऽइषिते (प०पा०)। अवग्रह के साथ की गई द्विरुक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि यह पद समस्तपद है एवं प्रगृह्यस्वरान्त भी है।

(१४) 'स्वः' पद के बाद इति लगाकर उसकी द्विरुक्ति कर दी जाती है। 'स्वः' के बाद इति लगने पर 'स्वः' का स्वतन्त्र स्वरित कम्प में परिवर्तित हो जाता है। जैसे– येन स्वः स्तभितं येन नाकः (सं०पा०)=येन। स्व १ रिति स्वः। स्तभितम्। येन। नाकः (प०पा०)। यहाँ भी स्वः का विसर्ग रिफित है।

(१५) यजुर्वेद संहिता के पदपाठ में प्रत्येक समस्तपद के बाद 'इति' को जोड़ दिया जाता है तथा प्रथम शब्द को दोहराकर द्वितीय शब्द को प्रथम शब्द से पृथक् करके प्रदर्शित किया जाता है। जैसे–'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणः ब्रह्मवर्चसी जायताम्' (सं०पा०)=आ। ब्रह्मन्। ब्राह्मणः। ब्रह्मवर्चसीतिब्रह्म। वर्चसी। जायताम् (प०पा०)।

(१६) सं० पा० में ऐसा समस्त-पद जिसका अन्तिम स्वर प्रगृह्य संज्ञक हो 'इति' लगाकर दुहरा दिया जाता है तथा दूसरे पद में अवग्रह का प्रयोग किया जाता है। जैसे– बज्रबाहो इति बज्रऽबाहो।

(१७) जहाँ पर पदों के स्वरूप में किसी भी प्रकार का सन्देह हो वहाँ उस पद के बाद इति लगाकर उसे दुहरा देते हैं। जैसे– मर्यायेव कन्या शश्वचैते (सं० पा०) = मर्यायऽइव। कन्या। शश्वचै। त इति ते (प०पा०)।

(१८) सम्बोधन में पदान्त ओकार प्रगृह्य संज्ञक होता है। इस प्रकार के ओकार को समस्तपद के अन्त में आने पर उसके बाद इति लगाकर उस पद को दोहरा दिया जाता है तथा दूसरे पद में अवग्रह लगाकर समस्त पद को प्रदर्शित कर दिया जाता है। जैसे– बज्रबाहो इति बज्रऽबाहो।

(१९) रिफित विसर्जनीय के बाद इति लगाया जाता है। यदि ऐसा पद संहिता पाठ में स्वरित स्वर से युक्त होता है तो उसे द्विरुक्त भी कर दिया जाता है। जैसे–मा नो नि कः (सं० पा०) = मा। नः। नि। करिति कः (प०पा०)।

कतिपय शब्दों के स्वराघात

(१) प्रायः पद में एक स्वर उदात्त या स्वरित होता है इनके अतिरिक्त सभी स्वर अनुदात्त होते हैं। जैसे–'गोपायत नः' इस पद में यकारोत्तरवर्ती अकार उदात्त है शेष सभी स्वर अनुदात्त हैं, परन्तु तकारोत्तरवर्ती अकार उदात्त के बाद होने के कारण स्वरित हो गया है।

(२) किसी पाद के प्रारम्भ में आया हुआ सम्बोधनपद आद्युदात्तयुक्त होता है, अन्य स्थितियों में सर्वानुदात्त होता है।

(३) जब अनेक सम्बोधन पद साथ ही आयें तो सभी पदों का प्रथम स्वर उदात्त होता है। जैसे– अग्ने इन्द्र वरुण मित्र देवाः।

(४) ऋग्वेद-प्रातिशाख्य एवं निरुक्त में उपसर्गों की संख्या २० मानी गई है, जिनमें से एकाक्षरिक नौ उपसर्ग (प्र, आ, निः, दुः, वि, सम्, नि, सु तथा उत्) उदात्त हैं। दो अक्षर वाले दस उपसर्ग (परा, अनु, उप, अप, परि, प्रति, अति, अधि, अव तथा अपि) आद्युदात्त हैं। 'अभि' अन्तोदात्त उपसर्ग है।

(५) सर्वनाम के रूप में आये हुए–मा, मे, नौ, नः, त्वा, ते, वाम् और वः अनुदात्त होते हैं, जो परिस्थितिवश स्वरित या प्रचय हो सकते हैं।

(६) 'एनद्' सर्वनाम शब्द के सभी रूप उदात्त नहीं होते हैं।

(७) च, वा, इव, उ, घ, ह, चिद्, स्म, स्वित्, कम् निपात नु, सु अथवा हि के पश्चात् आने पर तथा पादान्त में आने पर उदात्त नहीं होते हैं।

(८) पादादि अथवा वाक्यादि में आई हुई क्रिया उदात्तस्वर से युक्त होती है। इनके अतिरिक्त रूप से आई हुई क्रियायें प्रायः सर्वानुदात्त होती हैं।

(९) यद्, यदि, कुवित्, नेत्, चेत्, चन, हि एवं च के साथ आई हुई क्रिया उदात्तस्वर से युक्त होती है जब उपर्युक्त निपात 'यदि' के अर्थ में प्रयुक्त हुए हों।

(१०) तुमर्थक 'तवै' प्रत्यय से युक्त पद में आदि एवं अन्त में आये हुए स्वर उदात्त होते हैं तथा मध्यवर्ती स्वर अनुदात्त होते हैं।

(११) देवताद्वन्द्व समस्तपदों में प्रायः दोनों पद उदात्तयुक्त होते हैं।

वैदिक छन्द

वेदों में भी छन्दोबद्धता पाई जाती हैं। वैदिक छन्द प्रायः वर्णिक या आक्षरिक ही हैं। जिनमें पादों के अनुसार अक्षरोंकी संख्या निश्चित होती है। वेदों में दो पादों वाले छन्दों से लेकर आठ पादों वाले छन्द उपलब्ध होते हैं। वैदिक छन्दों के पाद आठ अक्षरों से तेरह अक्षरों तक के प्राप्त होते हैं। कतिपय मन्त्र पादबद्धता से रहित भी हैं, जिन्हें गद्यमय मन्त्र कहा गया है। यजुर्वेद संहिता के कुछ मन्त्र गद्यमय हैं। ब्राह्मणग्रन्थों आरण्यक ग्रन्थों तथा उपनिषद् ग्रन्थों में भी गद्यमय मन्त्र प्राप्त होते हैं। कतिपय प्रमुख छन्दों की पादगत अक्षर-संख्या अग्रलिखित है-

छन्दनाम	पादगत अक्षरसंख्या	कुल अक्षरसंख्या
(१) द्विपदा गायत्री	८ + ८	१६
(२) त्रिपदा गायत्री	८ + ८ + ८	२४
(३) अनुष्टुभ्	८ + ८ + ८ + ८	३२
(४) विराट् स्थाना	१० + १० + १० + १०	४०
(५) त्रिष्टुभ्	११ + ११ + ११ + ११	४४

(६) जगती	१२ + १२ + १२ + १२	४८
(७) पञ्चपदा जगती	१२ + १२ + १२ + १२ + १२	६०
(८) शक्वरी	११ + ११ + ११ + ११ + ११	५५
(९) पङ्क्ति	८ + ८ + ८ + ८ ८	४०
(१०) महापङ्क्ति	८ + ८ + ८ + ८ + ८ + ८	४८
	८ + ८ + ८ + ८ + ८ + ८ + ८	५६
(११) आस्तार पङ्क्ति	८ + ८ + १७ + १२	४५
(१२) उष्णिह	८ + ८ + १२	२८
(१३) स्कन्धोग्रीवी	८ + १२ + ८ + ८	३६
(१४) सतोबृहती	१२ + ८ + १२ + ८	४०
(१५) महाबृहती	८ + ८ + १२ + ८ + ८	४४
(१६) बृहती	८ + ८ + १२ + ८	३६
(१७) प्रस्तार पङ्क्ति	१२ + १२ + ८ + ८	४०
(१८) विस्तार पङ्क्ति	८ + १२ + १२ + ८	४०
(१९) धृति	१२ + १२ + ८ + १२ + ८ + १२ + ८	७२
(२०) अतिधृति	१७ + १७ + ८ + ८ + ८ + १२ + ८ + ८	८६

ऋग्वेद में त्रिष्टुप छन्द विपुल मात्रा में प्राप्त होते हैं। आचार्यों के अनुसार वेदमन्त्रों का पाठ करते समय छन्दोगत न्यूनता असह्य है, अतः छन्दोगत न्यूनता दूर करने के लिए भी ऋग्वेद प्रतिशाख्य में अनेक उपाय बतलाये गए हैं। ऋग्वेद प्रातिशाख्य ८।४० में कहा गया है- व्यूहैः सपत्समीक्ष्योने क्षैप्रवर्णैकभाविनाम्। अर्थात् छन्द के किसी पाद में निश्चित वर्ण का अभाव होने पर क्षैप्र तथा एकीभाव संधि (यण्, दीर्व, गुण, बृद्धि आदि) में स्थित अक्षरों को पृथक् कर देना चाहिए। इसी प्रकार ऋ॰प्रा॰ १७।२२-२३ में विधान किया गया है- व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु सम्पदे। क्षैप्रवर्णाश्च संयोगान् व्यवेयात् सदृशैः स्वरैः।)

अर्थात् जहाँ पर क्षैप्रवर्ण (य् व् र् ल्) की उत्पत्ति हुई हो वहाँ उसी क्षैप्रवर्ण के समान-स्थान वाले स्वर को अतिरिक्त वर्ण- के रूप में जोड़कर पाठ करना चाहिए। इस प्रकार 'य्' के पूर्व इ जोड़कर, 'व्' के पूर्व 'उ' जोड़कर 'र्' के पूर्व ऋ जोड़कर तथा 'ल्' के पूर्व ऌ जोड़कर मन्त्रों का पाठ करना चाहिए। जैसे वरेण्यम् → वरेणियम्, वीर्याणि → वीरियाणि, (य तथा व को 'इय' तथा 'उव' पढ़ना चाहिए)।

अस्तीत्येनम् → अस्तीति एनम्, वृत्वात्यतिष्ठत् → वृत्वा अत्यतिष्ठत्, महित्वैक → महित्वा एक इत्यादि। यों तो ऋ॰प्रा॰ में छन्दोंगत न्यूनताओं को दूर करने के लिए विविध उपायों को बतलाया गया है परन्तु विस्तारभय से कतिपय प्रमुख उपायों का ही उल्लेख किया जा रहा है-

(क) 'एङः पदान्तादति' सूत्र से पूर्वरूप सन्धि को प्राप्त 'अ' को अवग्रह हटाकर 'अ' के रूप में ही पढ़ना चाहिए, जैसे विष्णोऽव → विष्णोअव।

(ख) षष्ठी बहुवचन 'आम्' को 'अअम्' पढ़ना चाहिए।

(ग) 'नः' आगे रहने पर त्रिष्टुभ् एवं जगती छन्दों में पूर्ववर्ण को दीर्घ पढ़ना चाहिए → जैसे → स्वस्ति नः' इन्द्रोः → 'स्वस्ती नः।

(घ) उपर्युक्त स्थितियों के प्राप्त न होने पर त्रिष्टुभ् तथा जगती छन्दों में आठवें अथवा दशवें तथा अनुष्टुभ् छन्द में छठें अक्षर को दीर्घ करके पढ़ना चाहिए। वेदों में अनेक मन्त्र इस प्रकार के प्राप्त होते हैं, जिनमें या तो एक अक्षर कम होता है अथवा एक अक्षर अधिक होता हैं। कम अक्षर वाले मन्त्रों को 'निचृति' तथा अधिक अक्षर वाले मन्त्रों को 'भुरिक्' कहते हैं।

●

वैदिक देवता

विश्वदेवासूक्त

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का ८९वाँ सूक्त 'विश्वेदेवा' सूक्त है। इसमें अनेक देवताओं की एक साथ स्तुति की गई है। यह सूक्त यजुर्वेद-संहिता में भी उपलब्ध होता है। प्रत्येक शुभ कार्य में इस सूक्त के पाठ करने का विधान पारम्परिक कर्मकाण्ड में है। जब किसी सूक्त में एक ही साथ अनेक देवताओं की स्तुति की जाती है तो उस सूक्त को विश्वेदेवा सूक्त का अभिधान प्राप्त हो जाता है।

सूक्त में प्रार्थित विषय– सूक्त के प्रथम मन्त्र द्वारा ऋषि सभी ओर से कल्याणकारी शक्तियों को अपने समीप पहुँचने की कामना करता है तथा देवताओं द्वारा सदैव अपनी रक्षा की इच्छा करता है। द्वितीय मन्त्र में देवताओं के साथ मैत्रीभाव एवं देवताओं द्वारा अपनी आयु की बृद्धि की कामना की गई है। भग, मित्र, अदिति, मरुद्गण, अर्यमन्, वरुण, सोम एवं दोनों अश्विनीकुमारों का आवाहन तृतीय मन्त्र द्वारा किया गया है। चतुर्थ मंत्र में दोनों अश्विनीकुमारों द्वारा सुखकर भैषज्य-लाभ की इच्छा तथा छठें मन्त्र द्वारा इन्द्र, वृद्धश्रवा, पूषा, तार्क्ष्य एवं वृहस्पति आदि देवों से अपने कल्याणार्थ प्रार्थना की गई है। आठवे मन्त्र में कानों से कल्याणकारी बातें सुनने तथा आँखों से कल्याणकारी घटनायें देखने के लिए प्रार्थना प्राप्त होती है। इसी प्रकार नवम एवं दशम मन्त्रों द्वारा क्रमशः जीवन के सौ वर्षों की अक्षुण्णता के लिए प्रार्थना एवम् एक ही अदिति की अनेकरूपता का प्रतिपादन किया गया है।

विश्वेदेवा सूक्तों में स्तुतदेवता– अग्नि, वायु, इन्द्र, वृहस्पति, पूषा, मित्र, भग, वरुण, विष्णु, सविता, दक्ष, अर्यमा, सोम, त्वष्टा, द्यावापृथिवी, चन्द्रमा, इन्द्राग्नी, मित्रावरुणा, इन्द्रावरुणा, इन्द्राविष्णु, इन्द्रामरुत्, रुद्रगण, आदित्यगण, मरुद्गण, वसुगण, पृथिवी, सिन्धु, सरस्वती, पृश्नि, पर्जन्य, गायें, दिशायें, क्षेत्रपति, धर्ता, अप्, समुद्र, तार्क्ष्य, अहिर्बुध्न्य, अजएकपाद्, बृहद्दिवादेवी, अश्विनीकुमार, वृद्धश्रवा एवं अदिति।

विश्वेदेवा सूक्त का महत्त्व– वैदिक कर्मकाण्ड से सम्बन्धित प्रत्येक कर्म में इस सूक्त के पाठ की व्यवस्था है। कार्य की निर्विघ्न समाप्ति एवं वाञ्छित सफलता की प्राप्ति के लिए इस सूक्त का पाठ नितान्त स्पृहणीय माना जाता है।

शिवसङ्कल्पसूक्त

शुक्ल यजुर्वेद के ३४वें अध्याय में यह सूक्त प्राप्त होता है। इसमें ऋषि अपने मन को कल्याणकारी सङ्कल्पों से युक्त होने की कामना करता है। मनोविज्ञान में मन को जीवन का एक

अनिवार्य तत्त्व स्वीकारा गया है। मन के द्वारा ही सभी कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। इसीलिए भारतीय दर्शनों में मन को उभयेन्द्रिय माना गया है। मन के द्वारा ही अप्रमेय एवं ध्रुव सत्य का दर्शन होता है –

मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्।

मन के कार्य– प्रस्तुत सूक्त में वर्णित मन के कार्यों को इस प्रकार प्रतिपादित किया जा सकता है।

मन जाग्रदवस्था में क्षणमात्र में अति दूर गमन कर सकता है तथा दूसरे ही क्षण प्रत्यागमन भी कर सकता है। दूरगामी शक्तियों में सर्वशक्तिमान् मन ही है। मन के द्वारा ही भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् सब कुछ सम्यक्रूपेण जाना जाता है तथा मन के द्वारा ही सभी प्रकार के यज्ञ आदि सम्पन्न किये जाते हैं। जिस प्रकार रथ की नाभि में 'आरे' (तीलियाँ) प्रतिष्ठित होती हैं उसी प्रकार ऋक्, यजुष् एवं साम मन के अन्तर्गत ही प्रतिष्ठित होते हैं। मन ही सात होता से युक्त यज्ञ का विस्तार भी करता है। जिस प्रकार चतुर सारथि लगाम के द्वारा घोड़ों को नियन्त्रित करता है उसी प्रकार मन मनुष्यों को संचालित करता है।

शिवसंकल्प सूक्त का महत्त्व– प्रस्तुत सूक्त ऋग्वेद के खिल भाग (४।११) में भी प्राप्त होता है। वहाँ पर इस सूक्त में १३ ऋचायें हैं। खिलानुक्रमणी में इस सूक्त को शिवसंकल्प नाम दिया गया है। अग्निपुराण में इस सूक्त के जप से मन के शान्त होने का विधान किया गया है–

शिवसङ्कल्पजापेन समाधिं मनसो लभेत्।
येनेदमिति जप्त्वा समाधिं विन्दते परम्।।

–अग्निपुराण (२५९।९३)

ऋग्विधान (४।१०४, ०५) में भी अग्निपुराण के कथन का समर्थन किया गया है–

येनेदमिति वै नित्यं जपेत नियतव्रतः।
समाधिं मनसस्तेन विन्दते नैव मुह्यति।।

मनुस्मृति १२।२५१ में शिवसङ्कल्पसूक्त को पापहारी बतलाया गया है, तथा टीकाकार मेधातिथि ने भी श्राद्ध के समय इस सूक्त के पाठ का विधान किया है–"खिलानि श्रीसूक्तशिवसङ्कल्पादीनि श्राद्धे ब्राह्मणान् श्रावयेत्" (मनु० ३।२३२ पर मेधातिथि।)

प्रस्तुत सूक्त में मन के शुभ सङ्कल्पों से युक्त होने की कामना की गई है। यदि व्यक्ति का मन शुभ संकल्पों से युक्त होगा तो उसे इस जीवन में किसी प्रकार के दुःख का सामना नहीं करना पड़ेगा। क्योंकि सभी दुःखों का मूल कारण मन की असन्तुष्टि ही है।

उषा (उषस्) सूक्त

ऋग्वेद के २० सूक्तों में उषा देवी की स्तुति की गई है। उषा के नाम का उल्लेख तो लगभग २०० बार से भी अधिक हुआ है। उषा शब्द 'वस्' प्रकाशित होना अर्थ वाली धातु से

निष्पन्न है। उषा शब्द का अर्थ है–'प्रकाशित होने वाली देवी'। उषा के वर्णन में वैदिक ऋषि ने अपनी काव्य-प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है। उषा से सम्बन्धित कतिपय तथ्य इस प्रकार हैं-

उषा का जन्म– उषा को अमर तथा अजर कहा गया है। उसका स्वरूप अविनाशी है, परन्तु उसे अनेक स्थानों पर द्युलोक की दुहिता (पुत्री) कहा गया है। वह सुजाता है अर्थात् उसका जन्म किसी उच्च कुल में हुआ है। अनेक स्थलों पर उषा को प्रतिदिन उत्पन्न होने वाली भी कहा गया है।

स्वरूप तथा अन्य देवों के साथ सम्बन्ध– वैदिक साहित्य में उषा देवी के समान मनोहारी स्वरूप अन्य किसी भी देवता का नहीं प्राप्त होता। उषा नर्तकी की भाँति मोहक परिधान में चमचमाती हुई धरती और अम्बर में अपने प्रकाश को फैला देती है। उषा अपनी अरुणिमा, अपने रुचिर मुखचन्द्र, झिलमिलाता वक्षःस्थल, पतली-पतली लाल-लाल परियों जैसे खुली अँगुलियाँ, आकाश के रंगमंच पर नवेला नृत्य और दूधभरा हास्य, इन सबके द्वारा वैदिक ऋषि को विवश कर देती हैं अपने स्वरूप-गान के लिए तथा अपना आपा खो बैठने के लिए। उषा स्वर्णिम रंग वाली, सुन्दर मुख वाली तथा किरणों से अभिव्यक्त होने वाली है। वह नित्य युवती है, नवोढा है।

उषा को अधिकतर सूर्य के साथ सम्बन्धित बतलाया गया है। वह सूर्य की पत्नी है। सूर्य एक रसिक युवक की भाँति उसका अनुगमन करता है। एक स्थान पर तो उषा को सूर्य की माता तथा सूर्य को उसका कान्ति-पुत्र कहा गया है। अग्नि भी उषा का प्रेमी माना गया है। उषा अग्नि को भड़काती है तथा अग्नि उससे मिलने के लिए अपनी लपटों को ऊपर उठाता है। अश्विनी-कुमारों को भी उषा का प्रेमी कहा गया है। रात्रि उषा की बड़ी बहन है। सविता भी उषा का प्रेमी कहा गया है।

प्राकृतिक आधार– उषा को प्रातःकाल की अधिष्ठात्री देवी के रूप में चित्रित किया गया है। सूर्योदय से थोड़ा पहले का समय ही उषा के आगमन का समय माना गया है। उषाकाल में ही धरती और अम्बर में प्रकाश का प्रसरण होने लगता है। पक्षियों का मधुर कलरव भी इसी समय प्रारम्भ हो जाता है। उषाकाल के पश्चात् ही सूर्योदय होता है, इसीलिए सूर्य को उषा के पीछे आते हुए प्रेमी के रूप में कहा गया है। उषा के आते ही सभी जीवधारी विचरणशील हो जाते हैं।

कार्यशीलता– उषा का प्रमुख कार्य प्रकाश का वितन्वन करना है। प्रकाश फैलाने के साथ ही साथ वह अन्धकार को भी दूर भगा देती है। सभी जीवों को कार्य करने के लिए प्रेरित करना, भक्तों या उपासकों की आयु बढ़ाना, धन प्रदान करना, अपने प्रकाश से स्तोता के शत्रुओं को दूर भगाना, द्वेष करने वाले लोगों को पृथक् करना तथा दिनों का नेतृत्व करना उषा देवी के प्रमुख कार्य हैं। उषा को विविध उपहारों को प्रदान करने वाली देवी भी कहा गया है।

उपर्युक्त गुणों के कारण ही वैदिक ऋषि उषा देवी से अपने लिए धन प्रदान करने, शत्रु को दूर भगाने, आयु को बढ़ाने तथा आशीर्वादों से अपनी रक्षा करने के लिए प्रार्थना करता है।

अक्षसूक्त

ऋग्वेद संहिता में जहाँ एक ओर देवताओं की स्तुति करते हुए उनसे अभीष्ट की प्राप्ति के लिए याचनायें की गई हैं, वहीं दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियों एवं मानवीय दुर्व्यसनों को दूर करने से सम्बन्धित सूक्तों का संकलन भी किया गया है। समाज में जब भोग-विलास और शक्ति का उदय होता है, तब द्यूतकर्म भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। ऋग्वैदिक युग में जुवा खेलना एक बहुप्रचलित सामाजिक दुर्व्यसन था। ऋग्वेद के दशम मण्डल का ३४वाँ सूक्त इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डालता है।

अक्षों की संख्या एवं खेलने का स्थान– ऋग्वेद में अक्षों की संख्या के लिये 'त्रिपञ्चाशः' शब्द प्रयुक्त है। विद्वानों ने इस शब्द के अनेक अर्थ किये हैं– जैसे- पन्द्रह, तिरपन एवं एक सौ पच्चीस। परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों में पासा फेंकने से सम्बन्धित व्याहृतियों की तालिकायें प्राप्त होती हैं। पासा फेंकने के लिए भूमि पर ही एक नीचा सा स्थान बना लिया जाता था। दाँव पर रखी हुई वस्तु 'विज' कहलाती थी।

अक्षों का स्वरूप एवं प्रभाव– अक्षों को द्यूतकार देवता मानता है। उसके हृदय में अक्षों के प्रति वही श्रद्धा है जो शिल्पकार को अपने उपकरणों में, लेखक को अपनी लेखनी में तथा वणिक् को अपनी तुला में होती है। अक्ष किसी वृक्ष के फलों के बीजरूपी विग्रह वाले होते हैं। इनका रंग भूरा होता है। अक्षों को किसी पात्र-विशेष में डालकर भली-भाँति हिलाकर द्यूतपटल पर फेंका जाता है। द्यूतपटल पर फुदकते हुए वे अक्ष बड़े ही मनोहारी दिखलाई पड़ते हैं। अक्षों को दिव्य अङ्गार-स्वरूप एवं महाशक्तिशाली कहा गया है।

अक्ष द्यूतकार को उसी प्रकार आनन्दित करते हैं जैसे सोमरस देवताओं को। अक्ष द्यूतकार को जगाने का कार्य भी करते हैं। द्यूतकार चिन्ता के वशीभूत होकर रात भर जागता रहता है। अक्षों के अन्दर एक प्रकार की मोहिनी शक्ति होती है। द्यूतकार इसी मोहिनी शक्ति के वश में रहता है। द्यूतकार अनेक बार द्यूतकार्य से विमुख होने का निश्चय करके भी ज्यों ही द्यूतपटल पर पासों को फुदकते हुए देखता है त्यों ही अपने सङ्कल्प को भूल जाता है। अक्षगण कभी भी उग्र से उग्र व्यक्ति के समक्ष भी पराजय को नहीं स्वीकारते। अक्षों की ध्वनि को द्यूतपटल पर सुनकर जुवारी उसी प्रकार द्यूतस्थल की ओर दौड़ पड़ता है जैसे कुलटा स्त्री संकेत-स्थल की ओर दौड़ पड़ती है।

अक्षों की विलक्षणता– द्यूतपटल पर पड़े हुए भी अक्ष द्यूतकार के मर्मस्थल को भेदने वाले होते हैं। स्वयं दन्तविहीन होकर भी सहस्र द्यूतकार को पराभूत करते रहते हैं। शीतल स्पर्श वाले होकर भी द्यूतकार के हृदय को जलाते रहते हैं। स्वरूप से काष्ठवत् होते हुए भी अक्ष किसी द्यूतकार को क्षणमात्र के लिए बसा देते हैं तथा किसी को उजाड़ देते हैं। विजेता द्यूतकार के लिए वे प्रसन्नतादायक तथा पराजित के लिए दुःखप्रद भी होते हैं।

द्यूतक्रीड़ाका कुपरिणाम– द्यूतकार व्यक्ति को समाज निकृष्ट कोटि का व्यक्तिसमझने लगता है। द्यूतकार की पत्नी, सास तथा अन्य शुभाकांक्षी व्यक्ति उससे द्वेष करते हैं। द्यूतकार के प्रति कोई भी व्यक्ति दया-भाव नहीं दिखलाता। द्यूतकार एक बूढ़े किन्तु मूल्यवान् अश्व की भाँति

किसी के लिए प्रिय नहीं रह पाता। द्यूतकार अनुकूल आचरण वाली अपनी पतिपरायणा पत्नी तक को दाँव पर हार जाता है। दूसरों की पत्नियों को देखकर तथा सुसंस्कृत आवास-गृहों को देखकर वह मानसिक क्लेश पाता है। द्यूतकार्य का सबसे कठिन दुष्परिणाम तो यह होता है कि उसकी प्राणप्रिया पत्नी को दूसरे लोग आलिङ्गित करते हैं। जब दाँव हारकर द्यूतकार विजेता द्यूतकार को दाँव पर रक्खी हुई सम्पत्ति नहीं चुका पाता तो राजा के कर्मचारी उसे रज्जुबद्ध करके ले जाते हैं। उस समय उसके मित्र, पिता, माता, भाई उसको देखना पसन्द नहीं करते तथा यह भी कह डालते हैं कि हम लोग बँधे हुए इसको नहीं जानतें।

अमर संदेश– अक्षसूक्त के अधिकांश भाग में द्यूतकार्य के दुष्परिणामों को बतलाकर वैदिक ऋषि एक अमर सन्देश प्रदान करता है कि अक्षों से कभी भी मत खेलो, खेती करो। कृषि द्वारा प्राप्त धन को ही आदर-भाव से अपना समझो तथा उसमें ही आनन्द का अनुभव करो। कृषि-कार्य में ही गायें हैं, पालतू पशु हैं तथा सम्पूर्ण समृद्धि है।

हे अक्षों ! हमसे मित्रता करो। अपनी मोहिनी शक्ति का प्रयोग हम पर मत करो तथा सदैव हमारी सहायता करो।

पुरुषसूक्त

ऋग्वेद-संहिता के दशम मण्डल में कतिपय ऐसे सूक्त उपलब्ध होते हैं जो देवस्तुतियों से भिन्न हैं। पुरुष-सूक्त भी इन्हीं सूक्तों में से एक है। इस सूक्त में सृष्टि-उत्पत्ति से सम्बन्धित वर्णन किया गया है। इस सूक्त में आदि पुरुष के शरीर से देवताओं द्वारा सृष्टि का निर्माण किया जाना वर्णित है। इसमें सृष्टिरचना की प्रक्रिया को एक यज्ञ का रूप दिया गया है। कतिपय परिवर्तनों के साथ यह सूक्त सामवेद, शुक्ल-यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में भी उपलब्ध होता है।

(१) पुरुष का स्वरूप– पुरुष सहस्र शिरों, सहस्र नेत्रों एवं सहस्र पैरों वाला देव है। यहाँ पर 'सहस्र' शब्द उपलक्षण-मात्र है। सहस्र का अर्थ असंख्य है। वह सम्पूर्ण भूमण्डल को व्याप्त करने के पश्चात् भी कुछ अवशिष्ट रहता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि पुरुष ही सर्वव्यापी ईश्वर है जो संसार में सर्वत्र व्याप्त है तथा जीवों के सभी क्रिया-कलापों का निरीक्षण करते हुए उसे कर्मफल भी प्रदान करता है।

(२) पुरुष का विभाजन– विराट् पुरुष का एक-चौथाई भाग मायोपहित होकर जन्म-मरण के बन्धन में पड़ता रहता है। उसका तीन-चौथाई भाग अपेक्षाकृत अत्यधिक उत्कृष्ट है तथा विनाश-रहित है एवं द्युलोक में स्थित है। उसका एक-चौथाई भाग ही जड़ और चेतन के रूप में व्यवस्थित होता है।

(३) पुरुष के द्वारा यज्ञ– सृष्टि की उत्पत्ति के लिए देवताओं, ऋषियों एवं साध्यों ने जो यज्ञ किया, उसमें पुरुष को ही हवि के रूप में कल्पित किया। उस यज्ञ में घृत, ईंधन एवं हविष् के रूप में क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं का प्रयोग हुआ।

इस यज्ञ को मानस-यज्ञ के प्रतीक के रूप में भी मानने की अवधारणा विद्वानों में व्याप्त है। इस मानस-यज्ञ में सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुण ही प्रधान हैं। इन्हें ही आज्य, ईंधन और हवि के रूप में परिकल्पित किया गया है।

(४) पुरुष द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति– उसी पुरुष से विराट्की उत्पत्ति हुई। पशु-पक्षी भी उसी से उत्पन्न हुए। पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य एवं दोनों पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। सूर्य, चन्द्र, इन्द्राग्नी और वायु आदि देवताओं की उत्पत्ति क्रमशः पुरुष के नेत्र, मन, मुख और प्राण से हुई है। उपर्युक्त देवों के निवास के लिए द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी लोक की उत्पत्ति क्रमशः शिर, नाभि एवं पादों से हुई। ऋक्, यजुष्, सामन् एवं छन्दस् की भी उत्पत्ति उसी से हुई।

हिरण्यगर्भ (प्रजापति) सूक्त

ऋग्वैदिक देवताओं के स्वरूप का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में एक ही परम सत्ता की स्तुति विविध नामों से की गई है। ऐसा इसलिए कि सभी देवताओं की स्तुति में गुण-साम्य दृष्टिगत होता है। हिरण्यगर्भ का स्वरूप भी इस तथ्य का अपवाद नहीं कहा जा सकता।

प्रजापति का आविर्भाव– युगान्त-काल में सम्पूर्ण सृष्टि को महान् जलराशि आवृत कर लेती है। उसी से देवताओं के स्वरूप तथा बीज रूप में स्थित हिरण्यगर्भ (प्रजापति) नूतन-सृष्टि-सम्पादनार्थ आविर्भूत होता है।

प्रजापति द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति– प्रजापति ने अपनी महिमा से सर्वत्र व्याप्त जल को इस योग्य बना दिया कि वह जल सृष्टि रूप में वर्तमान प्रजापति को गर्भ के रूप में धारण कर सके तथा सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ अग्नि को उत्पन्न करे। सृष्टि की समुत्पादिका जलराशि को भी उत्पन्न करने वाला प्रजापति ही है। वह जड़, चेतन–सबका उत्पादक है। वह आत्मदा, बलदा भी है। जड़, चेतन–उभयविध जगत् के आधारभूत लोकों को निर्मित करने का कार्य भी प्रजापति ही करता है। उसी ने पृथिवी एवं द्युलोक को भी निर्मित किया है।

प्रजापति का व्यापकत्व एवं आधिपत्य– प्रजापति ही सम्पूर्ण सृष्टि को धारण करके उसमें व्याप्त है। वर्तमान जगत् तथा भूत जगत् को प्रजापति ने ही व्याप्त कर रखा है। सूर्य को भी धारण करने वाला प्रजापति ही है। उसी को आधार बनाकर सूर्य उदित होता है तथा प्रकाशित होता है। वह सभी द्विपद एवं चतुष्पद् जीवों का शासक है। प्राणियों के जन्म और मृत्यु उसी के अधिकार में हैं। उसके प्रभाव से द्युलोक एवं पृथिवी लोक के निवासी काँपते रहते हैं। विभिन्न दिशाओं-उपदिशाओं पर भी उसका आधिपत्य है।

प्रजापति की पूजनीयता– वैदिक ऋषि अपने उपास्य देव की पूजा करते हुए नहीं अघाता है। वह अपने सभी कार्यों की सिद्धि के लिए अपने उपास्य देव का आवाहन करता है। प्रजापति का आवाहन करते हुए ऋषि कहता है कि हे सत्य-धर्मा प्रजापति ! तुमने पृथ्वी तथा द्युलोक को उत्पन्न किया है, तथा आह्लादकारी चन्द्रमा एवं विस्तृत जलराशि को उत्पन्न किया है, अतः हमें पीड़ित मत करो। हे प्रजापति ! तुमसे अतिरिक्त दूसरे किसी ने भी इस सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थों को व्याप्त नहीं किया है। मैं जिस किसी इच्छा से तुम्हें हविष् प्रदान करूँ, वे हमारी इच्छाएँ पूर्ण हों तथा हम धनों के स्वामी बन जायें।

प्रजापति का 'क' अभिधान– ऐ॰ब्रा॰ (३।२१) के अनुसार एक बार इन्द्र ने प्रजापति से अपने लिए उनके महत्त्व की याचना की। इस पर प्रजापति ने इन्द्र से कहा कि मैं अपना महत्त्व

तुम्हें प्रदान करके स्वयं क्या बनूँगा। (अर्थात् कः स्याम्)। इन्द्र ने उत्तर दिया कि जो कुछ तुम कह रहे हो वही अर्थात् (कः) बन जाओ ? इस प्रकार प्रजापति का नाम 'कः' पड़ गया।

वाक्सूक्त

ऋग्वेद के आध्यात्मिक सूक्तों में वाक्-सूक्त का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सूक्त का देवता और ऋषि दोनों वाक् ही है। वाक् को ब्रह्म की शब्दात्मिका शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है।

वाक् का स्वरूप– वाक् सम्पूर्ण जगत् की स्वामिनी है। ब्रह्म से साक्षात्कारपूर्वक तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण वह ब्रह्मस्वरूपा है। वाक् ने पृथिवीलोक तथा द्युलोक को आच्छादित कर रखा है।

सर्वदेशरूपकता– इस सूक्त में वाक् को ही प्रमुख सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। अन्य देवी-देवता भी वाक् के ही रूप हैं। वाक् ही रुद्रों और वसुओं के रूप में विचरण करती है तथा वही आदित्यों और विश्वेदेवों के रूप में भी विचरणशील है। मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्विन् देवताओं को वाक् ही धारण करती है। शत्रुसंहारक सोम, त्वष्टा, पूषा, और भग भी उसी के स्वरूप हैं। इतना ही नहीं, सभी यज्ञीय देवताओं में वह सर्वप्रधान है।

वाक् का कर्तृत्व– वाक् को लोकोपकारिणी देवी के रूप में चित्रित किया गया है। वाक् सोमाभिषव करने वाले देवताओं को, हवि प्रदान करने वाले यजमान को धन-सम्पत्ति प्रदान करती है तथा उसकी रक्षा भी करती है। ब्रह्मद्वेषी समाजोत्पीडकों के विनाश के लिए रुद्र के धनुष को तानने वाली वाक् देवी लोक-हितार्थ अनेक अशुभ शक्तियों से युद्ध करती है। वाक् जिसे चाहती है उसे बलशाली, ब्रह्मनिष्ठ, ऋषि एवं सुन्दर बुद्धियुक्त बना देती है। वाक् वायु के समान स्वच्छन्द रूप में प्रवर्तित होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वाक् ही पृथ्वी एवं द्युलोक को उत्पन्न करने वाली है। वाक् ही सम्पूर्ण लोकों में व्याप्त भी है। वाक् का स्वरूप तो पृथ्वी एवं द्युलोक से भी परे है। सायणादि वैदिक व्याख्याकार इस वाक् को ब्रह्म-साक्षात्कार कर लेने वाली, अम्भृण की पुत्री वाक् नाम्नी ऋषिका द्वारा की गई अपनी ही स्तुति स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह निश्चित ही ब्रह्म की शब्दात्मिका शक्ति है।

पृथिवीसूक्त

पृथिवी-सूक्त अथर्ववेद में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस सूक्त में पृथिवी के स्वरूप एवं उसकी उपयोगिता पर विशद् विवेचन किया गया है।

पृथिवी की उत्पत्ति एवं प्राकृतिक रूप– उत्पत्ति से पूर्व पृथिवी की सत्ता समुद्र में जल के भीतर थी। विद्वान् (मनीषी) लोगों ने उसे अपने पराक्रम से प्राप्त किया। पृथिवी का सत्य से आवृत एवं अनश्वर हृदय परम व्योम में स्थित है।

पृथिवी का कुछ भाग जलमय है तथा कुछ स्थलमय। उसमें बाधारहित ऊँचे, नीचे तथा समतल भाग हैं। इसी पृथिवी पर समुद्र, नदियाँ तथा अनेक अलाशय भी स्थित हैं। पृथिवी पर

झरने भी प्रवाहित होते रहते हैं। इसमें श्वास लेने वाले एवं गतिशील प्राणी आनन्दपूर्वक रहते हैं। पृथिवी पर ही चारों दिशाएँ हैं, अन्न है एवं अनेक कृषक जन हैं। यह पृथिवी, भूरी, काली एवं लाल रंगों वाली है। यह अचल है।

पृथिवी से सम्बन्धित पुराकथायें– विष्णु ने इसी पृथिवी को अपने तीन डगों में नापा था। दोनों अश्विनीकुमारों ने भी इसे नापा है। अश्विनीकुमारों से तात्पर्य है सूर्योदय के पूर्व एवं सूर्यास्त के बाद का सन्धिकाल। इन दोनों सन्धिकालों के मध्य पृथिवी प्रकाशित रहती है। विष्णु द्वारा पृथिवी को नापा जाना रूप क्रिया का तात्पर्य है सूर्य द्वारा पृथिवी को प्रकाशित करना। इन्द्र ने भी पृथिवी को शत्रु-रहित कर दिया है। इस पृथिवी पर हमारे पूर्वजों ने अनेक-विध पराक्रमयुक्त कार्य किए हैं।

उपकारिणी एवं दानशीला पृथिवी– पृथिवी प्राणिमात्र को अपना अमृततुल्य जल उसी भाँति प्रदान करती है जैसे माता अपने पुत्र को दुग्ध प्रदान करती रहती है। पृथिवी हमारे लिए उसी प्रकार वन प्रदान करती है जैसे गाय दुग्ध दान करती है। वह सबका समान रूपेण उपकार करने वाली है। माँ जिस प्रकार अच्छे-बुरे सभी बच्चों को प्यार करती है उसी प्रकार पृथिवी भी बिना किसी भेद-भाव के सभी जीवों को धन, अन्न इत्यादि प्रदान करती है। विविध धर्मावलम्बी, विभिन्न भाषाभाषी, अपनी इच्छानुसार आवासगृह बना कर रहने वाले सभी लोगों को धारण करती है। लोग उसके सौजन्य के कारण ही पृथिवी से गाय, अश्व, पक्षी, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य एवं वर्चस्विता की याचना करते हैं।

पृथिवी के धारकतत्त्व– समाज में निरन्तर अच्छाइयाँ एवं बुराइयाँ दोनों ही विद्यमान रहती हैं। परन्तु पृथिवी को सत्य, ऋत, महनीयता, उग्रता, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ धारण किये हुये हैं, अर्थात् पृथिवी पर जब तक उपर्युक्त गुणों की सत्ता बनी रहेगी तब तक पृथिवी टिकी रहेगी अन्यथा वह जलमग्न हो सकती है।

पृथिवी से विविध प्रार्थनाएँ– वैदिक ऋषियों ने पृथिवी से लोकों को विस्तृत करने के लिए, समृद्धि प्रदान करने के लिए विविध प्रकार से प्रार्थनाएँ की हैं। गौवों और अन्नों को प्रदान करने के लिए, वर्चस्व के लिए तथा जल और तेजस्विता से सम्पृक्त करने के लिए विविध प्रकार की प्रार्थनाएँ भी की गई हैं।

अन्त में ऋषि पृथिवी से प्रार्थना करता है कि हे पृथिवी ! मेरे लिए तुम उसी प्रकार भूमि विस्तृत कर दो जैसे माता पुत्र के लिए दूध प्रदान करती है।

अग्निसूक्त

वैदिक देवताओं में अग्नि अत्यन्त महत्वपूर्ण देवता है। ऋग्वेद के लगभग २०० सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। अग्नि के सम्बन्ध में कतिपय मुख्य तथ्य इस प्रकार है–

(१) ऋग्वेद में स्थान– ऋक्संहिता का प्रथम मन्त्र अग्नि देवता को ही सम्बोधित किया गया है तथा प्रथम पद भी 'अग्निम्' ही है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ऋग्वैदिक देवताओं में अग्नि प्रधान देव हैं। अग्नि का अर्थ है–वह देव जो यज्ञ में प्रदान की गई हवि को देवताओं तक पहुँचाता है। ऋग्वेद के तीन प्रमुख देवताओं में अग्नि का द्वितीय स्थान है। ऋग्वेद के २००

सम्पूर्ण सूक्तों के अतिरिक्त अन्य अनेक सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ अग्नि की स्तुति की गई है। प्राय: ऋग्वेद के सभी मण्डलों में प्रारम्भिक सूक्त अग्नि को ही सम्बोधित किये गये हैं।

(२) उत्पत्ति– अप्, उषस्, त्वष्टा, द्यावापृथिवी और विष्णु को अग्नि का उद्भावक कहा गया है, वह दो अरणियों के संघर्ष से उत्पन्न होता है। अरणियों में ऊपर वाली अरणि को पति और नीचे वाली अरणि को पत्नी कहा गया है, जिनके संयोग से शिशुवत् अग्नि की उत्पत्ति होती है। अग्नि को दस युवतियों से भी उत्पन्न कहा गया है। ये दस युवतियाँ मनुष्य के हाथों की दसों अंगुलियाँ ही हैं। अग्नि को 'सहस: पुत्र' भी कहा गया है क्योंकि अग्नि को उत्पन्न करने के लिए सहस् (शक्ति) भी लगानी पड़ती है।

(३) स्वरूप– अग्नि का धर्म है प्रकाशित होना। वह अङ्गारमय है, प्रकाशमय है (अङ्गिरा, राजन्तम्)। ऋग्वेद में अग्नि को घृत-पृष्ठ, घृत-प्रतीक, घृत-लोम, मद्रजिह्व, शौचिषकेश आदि भी कहा गया है। वे भास्वर ज्वलाओं वाले हैं। उनका वर्ण भास्वर है। वे हिरण्यरूप हैं। वे सूर्य की भाँति चमकते हैं। उनकी प्रभा उषा, सूर्य एवं विद्युत जैसी है।

(४) कार्य– अग्नि यज्ञ में देवताओं को बुलाता है। वह उत्तम धनादिकों का प्रदाता है। अग्नि के माध्यम से यजमान को पुष्टि यश और वीर पौत्रादि की प्राप्ति होती है। यह यज्ञों का रक्षक और सत्य का प्रकाशक है। कर्मफल को प्रदान करना भी अग्नि का ही कर्म है। अग्नि स्वयं प्रकाशवान् होने से रात्रि को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र के लिए कल्याण-भावना रखता है उसी प्रकार अग्नि भी कल्याणकारी है। अग्नि यज्ञ के प्रत्येक रहस्य को जानता है, इसीलिए इन्हें जातवेदस् भी कहा गया है। जिस प्रकार ऋतु और युद्धकर्म इन्द्र के अधीन हैं उसी प्रकार आर्यों के सारे गृहकृत्य अग्नि के अधीन हैं। अग्नि के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि जिस यज्ञकर्म का साक्षी अग्नि होता है, केवल उसका ही फल देवताओं के पास पहुँचता है।

(५) प्राकृतिक आधार– अग्नि का प्राकृतिक आधार स्पष्ट है। हमारे सामने अग्नि के मुख्यत: तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं–काठों से उत्पन्न दावाग्नि, जलों से उत्पन्न वाडवाग्नि एवं द्युलोक से उत्पन्न वैद्युताग्नि। ये अग्नि के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। यद्यपि जलों के संघर्षण से अग्नि की उत्पत्ति नहीं होती तथापि वाडवाग्नि को ही सम्भवत: अप् से प्रादुर्भूत अग्नि माना गया है। आधुनिक युग में विद्युत शक्ति की उत्पत्ति भी जलों के द्वारा की जाती है। बादलों के पारस्परिक टकराव से उत्पन्न आकाशीय विद्युत भी तो जलों से ही उत्पन्न मानी जा सकती है क्योंकि बादल भी जलों के ही रूप हैं। इस प्रकार यह सिद्ध है कि वैदिक अग्नि देवता का प्राकृतिक आधार भी अग्नि के उपर्युक्त रूप ही हैं।

(६) मानव जीवन से सम्बन्ध– अग्नि का मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्पूर्ण गृहकृत्य के लिए अग्नि की महती आवश्यकता है। प्रत्येक घर में उसका निवास है। अग्नि ही एक ऐसा देवता है जो मनुष्य के जन्म से मरणपर्यन्त उसका साथ देता है। अग्नि के माध्यम से ही इस संसार में प्रकाश का जन्म हुआ है। वैदिक युग में ऋषियों के समक्ष अग्नि की उपादेयता सर्वाधिक सिद्ध हुई। इसका मुख्य कारण यह है कि अग्नि की सहायता से ही यज्ञानुष्ठान, भोजन-पाक, तथा शीत इत्यादि से रक्षा हो पाती थी।

इसीलिए वैदिक ऋषि अग्निदेव से अपने उन्नति एवं कल्याण की प्रार्थना करता है।

विष्णुसूक्त

विष्णु देवता के स्तवन में सम्पूर्ण ऋग्वेद-संहिता में मात्र ५ सूक्त प्राप्त होते है। संख्या की दृष्टि से तो ये सूक्त अत्यल्प हैं परन्तु महत्ता की दृष्टि से विष्णु एक महान् देव हैं। विष् धातु से उत्पन्न विष्णु शब्द का अर्थ है–गतिशील, या व्यापनशील देव। विष्णु देवता से सम्बन्धित कुछ प्रमुख तथ्य निम्न प्रकार हैं–

स्वरूप– वेदों में विष्णु देवता के स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष तथ्यों की उपलब्धि नहीं हो पाती। कतिपय स्थलों पर विष्णु को युवक एवं विशाल शरीरधारी देव के रूप में वर्णित किया गया है। विष्णु को भयंकर, दुर्गम स्थानों में भ्रमण करने वाला, पर्वत पर निवास करने वाला भी कहा गया है। बलशाली, तीव्र गति वाला, कामनाओं की पूर्ति करने वाला इत्यादि विशेषण विष्णु के लिए प्रयुक्त किये गये हैं।

कार्यशीलता– विष्णु ने अंपने तीन डगों से पृथिवी-सम्बन्धी लोकों को नाप लिया है। उसके तीन पादन्यास विश्व की सृष्टि, उसके स्थापन एवं धारण करने के साथ ही साथ आश्रित जनों का पालन-पोषण भी करते हैं। जो लोग विष्णु की स्तुति करते हैं उनका वह सर्वविध कल्याण करता है। वह तीनों लोकों को अकेले ही धारण करता है। विष्णु को वाणी में निवास करने वाला भी कहा गया है। विष्णु को परोपकारी, प्रचुर धन का दान करने वाला, उदार, सबका रक्षक एवं विश्व का भरण-पोषण करने वाला देवता भी कहा गया है। इन्द्र ने विष्णु के साथ मिलकर वृत्र का वध किया था।

निवास-स्थान– जिस स्थान पर पुण्यात्मा जन निवास करते हैं तथा जहाँ मधुमय उत्स (सरोवर) है, वही विष्णु का निवास-स्थल है। देवता लोग इस स्थान पर विहार करते हैं। यह उच्चतम पद तेजोमय होकर नीचे की ओर अत्यधिक प्रकाशित होता रहता है। यहीं पर द्रुतगामी गायें या किरणें रहती हैं। उपासकगण विष्णु के उसी परम लोक में जाने की कामना करते रहते हैं।

प्राकृतिक आधार– विष्णु का सम्बन्ध किस प्राकृतिक उपादान के साथ है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः वे सूर्य से ही समीकृत किये गये हैं। अधिकांश विद्वान् विष्णु को सूर्यवाची मानकर उदयकाल से मध्याह्नकाल तक उनका प्रथम पादप्रक्षेप, मध्याह्नकाल से अस्तकाल तक द्वितीय पादप्रक्षेप एवं अस्तकाल से अग्रिम उदयकाल तक तृतीय पादप्रक्षेप मानते हैं। इन्हीं पूर्वोक्त दो पादप्रक्षेपों को दृष्टिगोचर एवं तृतीय को अगोचर कहा गया है। इस तृतीय पादप्रक्षेप तक पक्षियों का भी पहुँच सकना असम्भव है। वैदिक ऋषि उन्मुक्त प्रकृति में सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापक रूप में सूर्य को ही देखते थे, अतः शक्तिशाली देवताओं को सूर्य के साथ समीकृत कर दिया करते थे। विष्णु भी इसके अपवाद नहीं कहे जा सकते।

इन्द्रसूक्त

इन्द्र ऋग्वेद का सर्वाधिक लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण देवता है। ऋग्वेद के २५० सूक्तों में इन्द्र की स्तुति स्वतन्त्र रूप में की गई है तथा ५० सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ भी उसे स्तुत

किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद का लगभग चतुर्थांश इन्द्र के ही गुणगानों से भरा हुआ है। जिस प्रकार अग्नि और सूर्य क्रमश: पृथिवीलोक एवं द्युलोक के अधिपति हैं, उसी प्रकार इन्द्र अन्तरिक्षलोक के अधिपति हैं। इन्द्र देवता की कतिपय विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

स्वरूप– ऋग्वेद में इन्द्र का चित्रण मानवाकृति रूप में किया गया है। उसके विशाल शरीर, शीर्ष, भुजाओं एवं बड़े उदर का उल्लेख अनेक बार किया गया है। उसके जबड़ों एवं अधरों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वह भूरे-वर्ण का देव है। यहाँ तक कि उसके केश एवं दाढ़ी भी भूरे वर्ण के ही हैं। उसका मुख सुन्दर है। उसकी भुजायें भी बज्रवत् पुष्ट एवं कठोर हैं। वह सात रश्मियों (किरणों) से युक्त है।

जन्म एवं देवताओं से सम्बन्ध– ऋग्वेद के सम्पूर्ण दो सूक्तों में इन्द्र के जन्म के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों को बतलाया गया है। निर्ऋति तथा शवसी नामक गाय को उसकी माँ कहा गया है। उसके पिता द्यौ: या त्वष्टा हैं। एक स्थल पर इन्द्र को सोम से उत्पन्न कहा गया है। अग्नि और पूषन् इनके भाई हैं। इन्द्राणी उसकी पत्नी और मरुद्गण मित्र तथा सहायक हैं। इन्द्र को वरुण, वायु, सोम, वृहस्पति, पूषन् और विष्णु के साथ युग्म रूप में भी स्तुत किया गया है।

कार्य– इन्द्र ने जन्म लेते ही समस्त देवताओं को अपने पराक्रम से आक्रान्त कर दिया। इसके पौरुष की महिमा से द्युलोक एवं पृथिवी-लोक काँप गये। इन्द्र आर्यों को अनार्यों के विरुद्ध युद्ध में सहायता प्रदान करके विजयी बनाता है। इसीलिए वह अपने अपूजकों और विरोधियों का वध करता है। इन्द्र अपने भक्तों की रक्षा एवं सहायता करता है। इन्द्र ने अस्थिर पृथिवी को स्थैर्य प्रदान किया। इधर-उधर उड़ते हुए पर्वतों का पंख-छेदन करके उन्हें तत्तत् स्थानों पर प्रस्थापित किया। उसने द्युलोक को भी स्तब्ध किया है। इस प्रकार उसने अन्तरिक्ष का भी निर्माण किया है। दो मेघों या पत्थरों के मध्य से अग्नि को भी इन्द्र ने ही उत्पन्न किया है। उसने ही सूर्य एवं उषस् को भी उत्पन्न किया है। उसने बल का प्रदर्शन करते हुए अहि को मारकर सात नदियों को प्रवाहित होने के लिए उन्मुक्त किया है। इन्द्र ने भयवशात् पर्वतों में छिपे हुए शम्बर नामक असुर को ४० वें वर्ष में ढूँढ़ निकाला और उसका वध कर दिया। इन्द्र ने बल नामक राक्षस के बाड़े से गायों को बाहर निकाला था। स्वर्ग में चढ़ते हुए रौहिण नामक असुर को भी इन्द्र ने ही अपने शरु नामक बज्र से मार डाला था।

इन्द्र का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य वृत्रवध है। वृत्रवध की गाथाओं से इन्द्र-सूक्त भरे पड़े हैं। इस गाथा के वर्णन से ऋषि अघाते नहीं। इन्द्र ने सोमरस का पान करने का तो मानो व्रत ही ले लिया है। सोम-लता को पीसने, निचोड़ने एवं पकाने वाले की वह रक्षा करता है। सोमरस के पान-कर्ता के रूप में इन्द्र वैदिक देवताओं में अपना उपमान नहीं रखता। अचल या अनश्वर पदार्थों को चल या नश्वर बनाना भी इन्द्र के ही वश में है। इसीलिए तो योद्धागण अपनी विजय के लिये इन्द्र का आवाहन करते हैं।

प्राकृतिक आधार– अनेक वैदिक विद्वान् इन्द्र को प्रकाश का देवता मानकर उसको सूर्य के साथ समीकृत करते हैं। लोकमान्य तिलक वृत्र को हिम का प्रतीक मानते हैं जिसे इन्द्र अर्थात् सूर्य नष्ट करता है। उनके अनुसार आर्यों के आदि देश उत्तर-ध्रुव में शीतऋतु में सभी

नदियों की धारायें जल के अभाव के कारण रुक जाती है। वसन्त का सूर्य ही बर्फो को पिघलाकर जलधाराओं को प्रवाहित करता है। भारतीय परम्परा भी बादलों के पारस्परिक टकराव से उत्पन्न प्रकाश (विद्युत्) को ही इन्द्र का बज्र स्वीकार करती है। चमक के कारण बादलों का क्षरण होता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि बादल इन्द्र के बज्र से आहत होकर आँसू गिराते हैं। ये बादल ही वृत्र हैं। आवरणार्थक 'वृत्र्' धातु से निष्पन्न 'वृत्र' शब्द का अर्थ है आवरक या आच्छादक। 'वृत्र' को मेघ मानने पर भी इन्द्र की सूर्यरूपता स्पष्टतः बनी रहती है।

अनेक स्थलों पर मरुतों की सहायता से इन्द्र द्वारा वृत्र-वध होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस कथन से भी यही स्पष्ट होता है कि सूर्य की गर्मी से मरुत् (वायु) गर्म होकर ऊपर उठता है, जिससे वर्षा होती है।

वेदों में 'गौ:' 'गाव:' इत्यादि शब्दों का अर्थ 'किरणें' भी हैं। सभी दिशाओं में इन्द्र अर्थात् सूर्य की ही किरणें व्याप्त हो रही हैं। 'पृथ्वी एवं द्युलोक इन्द्र (=सूर्य) के प्रति झुक जाते हैं', इस कथन का भी तात्पर्य यही हो सकता है कि सूर्य के चारों ओर पृथ्वी चक्कर लगाती है तथा द्युलोक भी सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि वैदिक देवताओं में इन्द्र का स्थान सर्वोपरि है। इसीलिए परवर्ती साहित्य में इन्द्र को देवताओं का राजा माना गया है। तथा अनेक पौराणिक ग्रन्थों में इन्द्र वर्षा कराने वाले देवता के रूप में विख्यात हैं।

सवितृ (सविता) सूक्त

ऋग्वेद के द्युस्थानीय देवों में सविता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद के ग्यारह सूक्तों में इनकी स्तुति की गई है। कुछ अन्य सूक्तों में कतिपय अन्य देवताओं के साथ भी सविता का स्तवन प्राप्त होता है। सविता शब्द 'सू' धातु से 'तृच्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है। 'सू' धातु 'प्रेरित करने' के अर्थ में होती है। अतः इस शब्द का अर्थ हुआ 'प्रेरक'। सविता के सम्बन्ध में कतिपय प्रमुख तथ्य इस प्रकार हैं-

स्वरूप- सविता स्वर्णमय देव हैं। इनके हाथ, जिह्वा, नेत्र सभी स्वर्णिम हैं। इनके केश पीले रंग के हैं। ये स्वर्ण की कील वाले रथ पर चलते हैं। इनका रथ भी स्वर्णजटित है। इनके रथ को शुभ्रवर्ण वाले दो चमकीले अश्व खींचते हैं। इनके शरीर से निकलने वाली किरणें भी विचित्र रंगों से युक्त हैं।

कार्यशीलता- अन्धकारमय लोक से आते हुए सविता देव देवों एवं मनुष्यों को अपने कार्यों में युक्त कराते हैं। रोगों को नष्ट करते हैं। सूर्य का पथ-प्रदर्शन करते हैं। सबको विविध रूपों में देखने वाले सविता देव द्युलोक एवं पृथिवी लोक के मध्यवर्ती स्थान में विचरण करते हैं। राक्षसों एवं मायावियों को नष्ट करते हुए सविता देव स्थित होते हैं। सविता देव जीवधारियों को मार्गप्रदर्शन करने वाले एवं अच्छी प्रकार से सुख प्रदान करने वाले देव हैं। इनका सर्वप्रधान कार्य रात्रिजनित अन्धकार को नष्ट करना एवं सभी जीवों को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करना हैं। ये अपने भक्तों की रक्षा करके उनके लिए मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हुए उन्हें पापरहित बना देते हैं। पृथिवी की आठों दिशाओं, अन्तरिक्षादि तीन लोकों एवं सात

नदियों को सविता देव विशेष रूप से प्रकाशित करते हैं। सविता को प्राण (शक्ति) देने वाला देव भी कहा गया है।

निवास स्थान– सविता देव का निवास स्थान द्युलोक है। ऋ. १/३५ के मन्त्र सं. ६ में एक विशेष तथ्य उद्घाटित किया गया है, जिसके अनुसार तीन लोक हैं, जिसमें से दो लोक सविता देव के समीप में स्थित हैं। प्रसिद्ध वेद भाष्यकार आचार्य सायण ने इसका अर्थ द्युलोक एवं भूलोक किया है जिसके कारण इन दोनों लोकों का सूर्य द्वारा प्रकाशित होना बतलाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सवितृ देव का निवास-स्थान भले ही द्युलोक है, परन्तु वह अपना कार्यस्थल भूलोक को ही बनाये हैं। मानवहितकारिणी चन्द्रनक्षत्रादि ज्योतियाँ एवं जल सवितृलोक में ही सविता के आधार पर स्थित हैं।

प्राकृतिक आधार– सविता देव को सूर्य के साथ समीकृत किया गया है। वास्तव में उषः काल एवं सूर्योदय काल के मध्य सविता का आगमन होता है। प्रकाशित करने का कार्य सूर्य की सर्वप्रमुख विशेषता है, अतः सवितृ को भी सूर्य मान लिया गया है। ऋग्वेद सं. के अधिकांश मन्त्रों में सूर्य और सविता एक ही देवता के रूप में पुकारे गये हैं।

यद्यपि अनेक मन्त्रों में सविता को सूर्य से पृथक् माना गया है। जैसे.... अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति।। (ऋ. १/३५ मं. ९) उपर्युक्त पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सविता सूर्य का ही एक विशिष्ट अभिधान है, क्योंकि सूर्य ही विश्व के महान् प्रेरक हैं। वे ही सम्पूर्ण प्राणियों को अपने महान् आगमन के द्वारा प्रेरणा प्रदान करते हैं। सविता सूर्य की प्रेरकशक्ति के रूप में भी स्तुत हुए हैं। अतः स्पष्ट होता है कि सूर्य ही अपने पूर्णरूपेण उदय के पूर्व इस संज्ञा को प्राप्त करते हुए लोकप्रेरक बन जाते हैं। निरूक्तकार यास्क का स्पष्ट कथन है-(सविता सर्वस्य प्रसविता)।

देवों में स्थान– वैदिक देवताओं में सविता देव उपासना की दृष्टि से अपना अद्वितीय महत्त्व रखते हैं। ऋग्वेद के अन्य किसी भी देवता की उपासना इतनी श्रद्धा और भक्ति से नहीं हो सकी है। वैदिक ऋषियों ने बुद्धि की प्रेरक शक्ति के रूप में एक अति शक्तिशाली मन्त्र का दर्शन किया है जिसे **गायत्री** मन्त्र के नाम से जाना जाता है। यह गायत्री मंत्र पूज्य सविता देव की स्तुति रूप में है। इसमें सविता देव की शक्ति का आह्वान् बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करने के उद्देश्य से किया गया है; "ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुवरेण्यम्। भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।"

आज इस वैज्ञानिक युग में भी सविता देव के इस मन्त्र की उपासना करके अनेकानेक भक्त अपना एवं जगत् का कल्याण कर रहे हैं। आधुनिक विज्ञान भी इस मन्त्र की रहस्यात्मिका शक्ति के अनुसंधान में संलग्न होकर इसके ऊपर श्रद्धायुक्त बना हुआ है।

पर्जन्यसूक्त

ऋग्वेद संहिता के मात्र तीन सूक्त सम्पूर्णतः पर्जन्य के लिए कहे गये हैं तथा इनका नाम भी मात्र तीस ही बार आया हुआ है। पर्जन्य के स्तवन का आधार शुद्ध भौतिक है। निरुक्तकार यास्क के अनुसार 'तृप्' धातु से इस शब्द को व्युत्पन्न माना गया है। पर्जन्य के सम्बन्ध में मुख्य विशेषतायें अधोलिखित हैं–

वृष्टि का देवता– पर्जन्य वृष्टि करने वाला देव है। इसकी प्रधान विशेषता जल बरसाना ही है। यह जलमय रथ पर आरूढ़ होकर भ्रमण करता है। जलचर्म को ढीला करके उसे

नीचे की ओर खींचकर वृष्टि करता है। पर्जन्य शीघ्र वृष्टि कराने वाला देवता है। जब पर्जन्य आकाश को वर्षायुक्त मेघ से युक्त कर देता हैं तब यह सिंह की भाँति गर्जन करता है। पर्जन्य अधिक समय तक होती हुई वर्षा को रोकता है।

विश्व का पिता– पर्जन्य को विश्व का पिता एवं पृथिवी को माता कहा गया है। पर्जन्य ही वर्षा द्वारा पृथिवी में जलरूपी वीर्य धारण करके लोगों के लिए अन्नादि खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति का प्रधान कारण बनता है। अतः इसको पिता कहना अनुचित नहीं है।

कार्य– पर्जन्य देव का मुख्य कार्य तो वृष्टि करना है, परन्तु साथ ही कतिपय अन्य कार्य भी इसके द्वारा किये जाते हैं। दुष्काल (अकाल) को नष्ट करना, वज्रपात द्वारा वृक्षों को नष्ट कर डालना तथा राक्षसों का वधकर डालना भी पर्जन्य देवता के प्रधान कार्यों में गिने जाते हैं। पर्जन्य देव की महाप्रलयकारी शक्ति के सामने सम्पूर्ण चराचर जगत् नतमस्तक हो जाता है। पृथिवी को सत्त्वयुक्त बनाना, औषधियों को पल्लवित-पुष्पित करना इसकी प्रमुख विशेषतायें हैं।

देवताओं से सम्बन्ध– पर्जन्य अन्य अनेक देवताओं के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। मरुत् एवं वात देवताओं से यह अपना अभिन्न सम्बन्ध रखता है। ऋग्वेद के दो मन्त्रों में इसकी स्तुति अग्नि के साथ भी की गई है। वर्षा के देवता के रूप में इसकी तुलना इन्द्र से की गई है। पृथिवी को पर्जन्य की पत्नी कहा गया है, परन्तु इसकी पत्नी के रूप में 'वशा' का भी उल्लेख मिलता है। सोम को पर्जन्य का पुत्र कहा गया है।

प्राकृतिक आधार– इस तथ्य से किसी भी विद्वान् को आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि पर्जन्य देव निश्चित रूप से भौतिक पर्जन्य (बादल) के मानवीकृत रूप हैं। प्राचीन ऋषियों को वर्षा एवं गर्जन की शक्ति के रूप में पर्जन्य देवता का दर्शन हुआ है।

वरुणसूक्त

ऋग्वैदिक देवताओं में वरुण का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि सम्पूर्ण ऋग्वेद में मात्र १२ सूक्त ही वरुण की स्तुति एवं गुणगान करते हैं, तथापि इन्द्र के अतिरिक्त अन्य कोई भी वैदिक देवता वरुण से महत्तर नहीं दिखलाई पड़ता। वरुण शब्द 'वृ' आवरणे धातु से निष्पन्न हो सकता हैं, इस प्रकार 'आवरक' देव के रूप में इनको वैदिक देवकुल में अधिक महत्त्वशाली स्थान प्राप्त हो गया है।

स्वरूप– अन्य अनेक वैदिक देवों के समान वरुण के भी हाथ, पैर, मुँह, आँख इत्यादि अवयवों का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता हैं। सूर्य को उनका नेत्र कहा गया हैं। सूर्य के पास असंख्य किरणें हैं। अतः वरुण को भी हजार नेत्रों वाला कहा गया है। इसी प्रकार अग्नि को वरुण का चेहरा कहा गया है। वे स्वर्णिम चादर ओढ़ते हैं। चमकीला वस्त्र धारण करते हैं। वरुण का रथ सूर्य की भाँति देदीप्यमान है। इसमें एक आसन और एक चाबुक सदैव विद्यमान रहता है। वरुण के रथ को दो सुन्दर अश्व खींचकर ले जाते हैं। वे अपने महल में बैठकर मनुष्यों के सभी कार्यों का निरीक्षण करते हैं। बज्र एवं पाश उनके प्रमुख शस्त्र हैं।

निवास स्थान– वरुण सर्वोच्च लोक (स्वर्ग) में विद्यमान अपने स्वर्णमय प्रासाद में निवास करते हैं। पितृगण उसी प्रासाद में जाकर उनका दर्शन करते हैं। उनके प्रासाद में सहस्र द्वार हैं। स्वर्ग उन्हें धारण नहीं कर सकता। अपितु सम्पूर्ण स्वर्ग एवं भूलोक उनके भीतर निहित हैं। वे सबको धारण करने वाले तथा सर्वव्यापी देव हैं।

कार्य– वरुण का प्रधान कार्य जल बरसाना है। नदियों को प्रवाहित करना इन्हीं के वश में है। मनुष्यों के कार्य-कलापों का निरीक्षण करना इनका नैतिक गुण हैं। वे द्युलोक एवं पृथिवी लोक को स्थिर किये हुए हैं। वे ही अग्नि को जल में, सूर्य को आकाश में तथा सोम को पत्थरों पर स्थान दिये हैं। वे सम्पूर्ण संसार पर शासन करते हैं। सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करते हैं। सूर्य के गमन हेतु मार्ग का निर्माण वरुण ने ही किया है। चन्द्रमा और तारे इन्हीं के आदेश से अपने-अपने कार्यों में लगे रहते हैं। ऋतुओं का नियमन करना भी वरुण का ही कार्य है। वरुण की ही शक्ति (माया) के कारण नदियाँ समुद्र में गिरती हुई भी उसे जल से परिपूर्ण नहीं कर पातीं। संसार में होने वाली सभी गुप्त से गुप्त बातों को वे जानते हैं। वे सर्वज्ञ हैं। प्रत्येक आँख की पलक गिरने तक का उन्हें ज्ञान है। वरुण का साम्राज्य पक्षियों की उड़ानों से भी दूर, समुद्र तथा पहाड़ों की पहुँच के बाहर तक फैला हुआ है।

नैतिक-नियामक– वरुण संसार के नैतिक अध्यक्ष हैं। वरुण देव नैतिक व्यवस्था का उल्लङ्घन करने वाले व्यक्ति को कठोर से कठोर दण्ड देते हैं। पापकर्म करने एवं व्रत का उल्लंघन करने पर वे क्रुद्ध भी होते हैं। वे क्रुद्ध होकर पापकर्मी व्यक्ति को अपने भयंकर आयुध का पात्र बनाते हैं। उस व्यक्ति को अपने पाशों में बाँधते हैं। वरुण नैतिकता के विरोधी व्यक्ति को पाशों की मार से दण्डित भी करते हैं। वरुण द्वारा दण्डित व्यक्ति को जलोदर का रोग हो जाता है। पापों के फलभोग के लिए वरुण द्वारा दिया गया यह दण्ड है।

भौतिक आधार– प्रागैतिहासिक काल में यूनानी जियस् (द्यौस्) तथा औरनॉज के प्रकाश और घेरना ये दो गुण कहे गये हैं। ये दोनों ही गुण वरुण में पाये जाते हैं। वस्तुतः भारत ईरानी काल में ही वरुण का प्रभाव बढ़ गया था क्योंकि 'अहुर मज्द' वरुण का ही प्रतिरूप प्रतीत होता हैं। कतिपय प्राच्यविद्या-विशारद वरुण का भौतिक आधार मानते हैं। वरुण देव को सातवाँ आदित्य भी कहा गया है। ओल्डेन बर्ग वरुण को सूर्य चन्द्र तथा पञ्चग्रह का प्रतिरूप मानते हैं।

ऋग्वेद में वरुण देवता से अपनी रक्षा के लिए एवं अपने अपराधों के पापशमन के लिए अनेकशः प्रार्थनायें की गई हैं।

संज्ञानसूक्त

संज्ञान सूक्त ऋग्वेद संहिता के दशम मण्डल का अन्यतम सूक्त माना जाता है। इसमें केवल ४ मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्र में अग्नि देवता की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे [illegible] तुम सभी उपासकों की इच्छापूर्ति करते हो। अतः हमारे लिए भी धन आदि अभिल[illegible] को प्रदान करते रहो।

इस सूक्त के अवशिष्ट मन्त्रों में संज्ञान देवता की उपासना की गई है तथा एक ही सा[illegible] बातचीत करने, विरोध का त्याग करके साथ साथ रहने तथा एक दूसरे से सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार करने की कामना की गई है। जिस प्रकार प्राचीनकालीन हमारे पूर्वज आपस में सौमनस्यता का व्यवहार करते थे, उसी प्रकार आपसी क्रिया-कलाप करने की प्रार्थना की गई है। ऋत्विक् तथा यजमान का व्यवहार भी एक समान होने की कामना इस सूक्त में की गई है।

[illegible]
अ [illegible]
[illegible]

कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

अथर्ववेद संहिता (२ भागों में)—सं० श्रीराम शर्मा
उपनिषत्संग्रह (१८८ उपनिषदों का संकलन)—जगदीश शास्त्री
ऋग्वेद संहिता (४ भागों में)—श्रीराम शर्मा
ऋग्वेदसूक्त विकास—हा० रा० दिवाकर
एकादशोपनिषद्-शंकराचार्य विरचित (संस्कृत टीका)—अमरदास
कर्णानंद-प्रभुपाद कृष्णचन्द्र गोस्वामी प्रणीत—हितानंद गोस्वामी
कूर्मपुराण: धर्म और दर्शन—करुणा एस० त्रिवेदी
तुलसी रामायण-जगमंगल पारायण—सत्य प्रकाश अग्रवाल
ब्रह्माण्डपुराण—जगदीशलाल शास्त्री
माध्यन्दिनक्रमपाठ (प्रथम भाग)—सं० युधिष्ठिर मीमांसक
मानस एवं गीता....लोकमंगल गुञ्जिता—सत्यप्रकाश अग्रवाल
मनुस्मृति-कूल्लूकभट्टकृत (व्याम्या सहित)—जगदीशलाल शास्त्री
महामंत्र की अनुप्रेक्षा-भद्रंकर विजयजी गणिवर प्रणीत्—अनु० सोहनलाल पाटनी
यजुर्वेद संहिता—सं० श्रीराम शर्मा
यज्ञतत्वप्रकाश—पट्टाभिराम शास्त्री
लिङ्गपुराण—जगदीशलाल शास्त्री
वल्लभ सत्त्प्रदाय और उसकेसिद्धान्त—राधा रानी शम्वाल
वाल्मीकि रामायण: काव्यानुशीलन—शिवबालक राय
वैदिकी प्रक्रिया—सं० दामोदर महतो
शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता—सं० जगदीश लाल शास्त्री
श्रीब्रह्मवैवर्तपुराणम् (२ भागों में)—सं० जगदीशलाल शास्त्री
श्रीमद्भागवद्गीता: (२ भागों में)—आभा भंडारी
श्रीमद्भागवत्पुराणम्-व्यासप्रणीत्—जगदीशलाल शास्त्री
स्कन्दमहापुराणम् (४ भागों में)—कृष्णद्धेपायन वेदव्यास
स्मृतिकौस्तुभ—वासुदेव लक्ष्मण पणशीकर
सामवेद संहिता—सं० श्रीराम शर्मा

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, बंगलौर,
वाराणसी, पुणे, पटना

मूल्य: रु० ७०